श्वेताश्वतरोपनिषद्

प्राचीन पाँच टीकाओं के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित

हिन्दी व्याख्या सहित

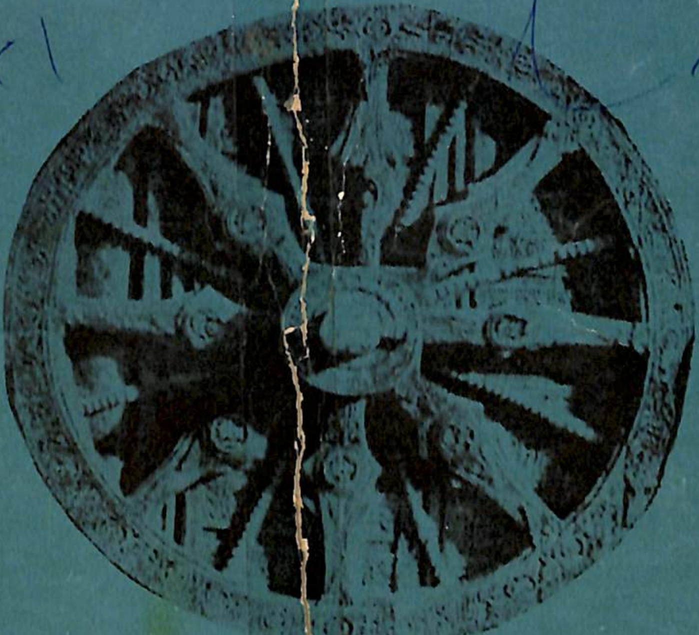

डॉ. तुलसीराम शर्मा

श्वेताश्वतरोपनिषद्

प्राचीन पाँच टीकाओं के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित
हिन्दी व्याख्या सहित

[3900 B.C]

THE SHWETASHWTAR
UPNISHAD.

डॉ० तुलसीराम शर्मा
संस्कृत विभाग
श्रीगुरुतेगबहादुरखालसामहाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली

ईस्टन बुक लिंकर्स
५/१६, विजयनगर (डबल स्टोरी), दिल्ली-११०००९

92099
7.2.74

©डॉ० तुलसीराम शर्मा

प्रथम संस्करण : जुलाई १९७६
मूल्य : अजिल्द रु० ~~१२.५०~~
सजिल्द रु० ~~१८.००~~

EASTERN BOOK LINKER
151
DELHI

मुद्रकः—
अमर प्रिंटिंग प्रेस, (श्याम प्रिंटिंग एजेन्सी),
८/२५, विजयनगर (डबल स्टोरी) दिल्ली-११०००९

पुस्तक वर्ग संख्या —— 2·5·181

आमुख

सांख्य, योग, वेदान्त, ज्ञान, भक्ति एवं शैव-तत्त्वों के सामञ्जस्य के कारण श्वेताश्वतरोपनिषद् का उपनिषद् परम्परा में अद्वितीय स्थान है। इसका कोई अच्छा संस्करण उपलब्ध नहीं है। शांकरभाष्य सहित इसका एक संस्करण अद्यावधि छात्रों के लिए सुलभ था। शांकरभाष्य वाले संस्करण में इसके विभिन्न पक्षों पर गंभीरता से विवेचन नहीं किया गया है। इस उपनिषद् की गंभीरता को समझने के लिए टीकाओं की समालोचना आवश्यक है। शंकराचार्य के शांकर भाष्य के अतिरिक्त इस उपनिषद् पर शंकरानन्द, नारायण, विज्ञानभगवान एवं उपनिषद्ब्रह्मयोगी की चार अन्य टीकाएँ हैं। प्रस्तुत संस्करण में शांकरभाष्य सहित अन्य चार टीकाओं के तुलनात्मक अध्ययन का समावेश किया गया है। प्रत्येक मन्त्र में पहले शंकरानन्द, नारायण, विज्ञानभगवान तथा उपनिषद्ब्रह्मयोगी का और अन्त में शंकराचार्य का मत दिया गया है। टीकाकारों के महत्त्वपूर्ण संदर्भ आवश्यकतानुसार नीचे टिप्पणी में उद्धृत हैं। उपनिषदें साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों की वाणी हैं और उन पर कोई नूतन विचार व्यक्त करना दुष्कर है। परन्तु इस ग्रन्थ में विभिन्न टीकाकारों के परिप्रेक्ष्य में नई व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। ब्रह्मसूत्र के टीकाकारों ने अपने मत को पुष्ट करने के लिए इस उपनिषद् के अनेक मन्त्रों को उद्धृत किया है। प्रस्तुत संस्करण में उस सामग्री का यथोचित प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त हिन्दी व्याख्या में पाश्चात्य विद्वानों के मतों का भी समावेश है। विद्यार्थियों की सुविधा को ध्यान में रखते हुए शांकरभाष्य को संक्षिप्त रूप दे दिया गया है। जहाँ शांकरभाष्य को संक्षिप्त किया गया है वहाँ पर सुविधा के लिए तीन-तीन बिन्दु वाले चिह्न लगा दिए हैं।

आज से चार-पाँच वर्ष पहले मेरे मित्र श्री शिवनारायण शास्त्री ने इस ग्रन्थ को लिखने की प्रेरणा दी और इसके पश्चात् मेरे सुहृद डा० सत्यपाल नारंग ने बार-बार इस प्रेरणा को और अधिक बलवती बनाया। उन्होंने समय-समय पर इस ग्रन्थ के लिए सामग्री संकलन संबंधी परामर्श भी दिया। मैं अपने इन दोनों मित्रों के प्रति हृदय से कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। इस ग्रन्थ का लिखते समय अनेक प्रकार की समस्याओं के समाधान के लिए मैं अपने मित्र डाँ० वाचस्पति उपाध्याय के प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

अन्त में मैं ईस्टर्न बुक लिंकर्स के मालिक श्री श्यामलाल मलहोत्रा का धन्यवाद करता हूँ जिन्होंने सहर्ष इस ग्रन्थ को प्रकाशित करना स्वीकार किया और मैं उन सभी कर्मचारियों का भी आभारी हूँ जिन्होंने अक्षर-विन्यास, प्रूफ-संशोधन आदि मुद्रण सम्बन्धी कार्यों में सहयोग देकर इस ग्रन्थ के शीघ्र प्रकाशन में योगदान किया। अन्त में, हमारे इस कार्य में अनवधानवश यदि कोई मुद्रण सम्बन्धी अथवा कोई अन्य त्रुटि रह गई हो तो विद्वज्जन क्षमा करेंगे ही किन्तु सूचित भी करेंगे ताकि द्वितीय संस्करण में हम उसका भलीभाँति संशोधन कर सकें।

दिनांक : जुलाई १, १९७६

तुलसीराम शर्मा

विषय-सूची

	आमुख	v
	भूमिका	१-२३
१.	उपनिषदों की पृष्ठ-भूमि	१
२.	श्वेताश्वतरोपनिषद् : नामकरण	३
३.	श्वेताश्वतरोपनिषद् : काल-निर्णय	४
४.	श्वेताश्वतरोपनिषद् और इसके टीकाकार	५
५.	श्वेताश्वतरोपनिषद् : एक सामान्य परिचय	८
६.	श्वेताश्वतरोपनिषद् तथा अन्य दार्शनिक विचारधाराएँ	९
७.	क्या श्वेताश्वतरोपनिषद् एक सांप्रदायिक उपनिषद् है ?	१५
८.	श्वेताश्वतरोपनिषद् में वैयक्तिक देव की स्थापना	१७
९.	श्वेताश्वतरोपनिषद् में त्रिविध ब्रह्म की कल्पना	१७
१०.	श्वेताश्वतरोपनिषद् तथा शैव दर्शन	१८
११.	श्वेताश्वतरोपनिषद् तथा माया	२०
१२.	श्वेताश्वतरोपनिषद् में भक्ति	२१
१३.	श्वेताश्वतरोपनिषद् में प्रतीक-योजना	२२
	प्रथम अध्याय	२५-८४
	द्वितीय अध्याय	८५-११३
	तृतीय अध्याय	११४-१४१
	चतुर्थ अध्याय	१४२-१७०
	पंचम अध्याय	१७१-१८९
	षष्ठ अध्याय	१९०-२१९
	शान्ति पाठ	२२०
	मन्त्रानुक्रमणिका	२२१-२२४

भूमिका

१. उपनिषदों की पृष्ठ-भूमि—भारत की धरती में हमेशा ही चिन्तन की गन्ध रही है। आज से लगभग चार हजार वर्ष पूर्व जब मानव ने पहली बार सोचना प्रारम्भ किया तो उसको प्रकृति-नटी की मनोहर छटा देखने को मिली। उस छटा को देखकर मानव के मन में एक अजीबोगरीब भावना उद्भूत होने लगी और उसने अपनी सहज वाणी के माध्यम से उस मनोहर छटा को उतारने का काम शुरू कर दिया। प्रकृति में भी एक ऐसा विशेष तत्त्व था जो मानव को अत्यधिक प्रभावित कर रहा था। प्रातःकाल उदय होने वाले सूर्य की छटा ने उसका मन मोहना शुरू कर दिया और जब वह आग जलाता था तो उसमें भी उसे एक आश्चर्यजनक तत्त्व दिखाई देने लगा। जब आकाश में बिजली कौंधती थी तो उसके मन में भी एक हल्की सी प्रसन्नता और भय की भावना पैदा होने लगती थी। यह सारा वातावरण मानव के मन पर एक गहरा प्रभाव छोड़ने लगा और वह इस बात पर सोचने के लिए मजबूर हो गया कि अवश्य ही इन सब के पीछे एक ऐसी दैवी शक्ति है जिससे अनुप्राणित होकर यह सब प्रतिदिन एक सतत प्रक्रिया में निरन्तर घटित होता रहता है और होता रहेगा। मनुष्य को प्रकृति में एक देवता दिखाई देने लगा और इस प्रकार मानव इतिहास में चिन्तन का समारम्भ हुआ। विद्वानों ने इसी प्रक्रिया को प्रकृति का मानवीकरण कहा है। संसार का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ ऋग्वेद प्रकृति के मानवीकरण का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ है। इस दस्तावेज़ में मानव-चिन्तन की प्रारम्भिक अवस्था और उसकी विकासोन्मुखी प्रतिभा का सर्वोत्तम परिचय हमें पहली बार उपलब्ध होता है। इस दस्तावेज़ में अग्नि, इन्द्र, मरुत्, उषा तथा कुछ अन्य देवी-देवताओं के विषय में कथित प्रशस्तियों का एक लम्बा सा वर्णन मिलता है। इसके साथ-साथ इसमें पुरुष-सूक्त, नासदीय सूक्त तथा वाक्सूक्त जैसे दार्शनिक तत्त्व भी दृष्टिगोचर होते हैं। यह तो रही ऋग्वेद की बात। सामवेद आदिम मानव की संगीतात्मक प्रवृत्तियों का परिचायक ग्रन्थ है। यजुर्वेद में मनुष्य की कर्मकाण्ड संबंधी गतिविधियों का परिचय मिलता है। यह माना जाता है कि मानव का जादू-टोने में अवश्य ही विश्वास रहा होगा और अथर्ववेद उस जादू-टोने के विश्वास का ही प्रमाणभूत ग्रन्थ है। संहिताओं के बाद ब्राह्मणों का युग आया। अब तक मानव प्रकृति-नटी द्वारा ही अधिक आकृष्ट होता था परन्तु अब उसका मन कर्मकाण्ड में अधिक रमने लगा। स्थिति इतनी विषम हो गई कि

प्रत्येक वस्तु की उपलब्धि के लिए यज्ञ का विधान किया गया। यज्ञ एक प्रकार से समाज में धार्मिक क्रिया-कलापों का मुख्य अंग बन गया। समाज के धनी-मानी लोग अनेक वर्षों तक चलने वाले यज्ञों का संपादन करके सामाजिक प्रतिष्ठा एवं पुण्य की प्राप्ति करने लगे। परिणामतः समाज का एक अदना सा आदमी इस प्रकार की धार्मिक तथा सामाजिक भाग-दौड़ में पिछड़ गया और अपने-आप में भटका सा अनुभव करने लगा। यज्ञ में किसी भी प्रकार की साधारण सी भूल-चूक होने पर अर्थ का अनर्थ होने का भय उसके मन को हमेशा ही सेदता रहता था। इसका नतीजा यह हुआ कि यज्ञ से उसकी श्रद्धा उठ गई और उसका मन किसी अन्य साधन की तलाश में जुट गया। इस प्रकार से सारे समाज में यज्ञ के विरोध में एक भयानक क्रान्ति पैदा हो गई और यज्ञों के ठेकेदार-पुरोहितों का इन्द्रासन डोलने लगा। यज्ञ सामान्य आदमी की पहुँच से बाहर हो गया। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि समाज में एक व्यापक परिवर्तन आया और साहित्य में भी उथल-पुथल मच गई। ब्राह्मणों का युग समाप्त हुआ और आरण्यकों का युग प्रारम्भ हुआ। आरण्यक ग्रन्थों में यज्ञ के प्रतीकात्मक अर्थ खोजे जाने लगे। ब्राह्मण-ग्रन्थों का अश्वमेध्य यज्ञ अब इन्द्रिय-हिंसा में परिणत हो गया। अश्व का अर्थ इन्द्रिय किया गया और मेध्य का अर्थ हिंसा किया गया अर्थात् इन्द्रिय-निग्रह पर अधिक बल दिया जाने लगा। आरण्यकों में प्राण-विद्या का खुलकर विकास हुआ। यज्ञ से ऊबे हुए आदमी ने आरण्यकों के खुले वातावरण में चैन की साँस ली और उसको यज्ञ का प्रतीकात्मक अर्थ सहज प्रतीत होने लगा। समाज के वृद्ध लोग जंगलों में जाकर लोगों को टोलियों में बैठाकर उनकी दैनन्दिन समस्याओं को ध्यान से सुनते और उनका यथासंभव समाधान भी प्रस्तुत करते। यह सिल-सिला काफी समय तक चलता रहा और मनुष्य का मन अब चिन्तन में अधिक रमने लगा। चिन्तन का अंकुर आरण्यकों में भली-भाँति प्रस्फुटित होने लगा था और अब इसको पूर्णरूप से खिलने की अपेक्षा थी। इसके बाद उपनिषदों के युग का प्रादुर्भाव हुआ। चिन्तन का जो अंकुर आरण्यकों में प्रस्फुटित हुआ था वह अब उपनिषदों में पल्लवित एवं पुष्पित हुआ। उपनिषदों में चिन्तन की धारा अपने पूरे वेग से बहनी शुरू हुई। आम आदमी का ध्यान यज्ञ के आडम्बर से हट कर उसके अपने अन्तस्तल में केन्द्रित हो गया। उसने अपने विषय में सोचना शुरू किया कि वह कहाँ से आया है और उसे अन्ततोगत्वा कहाँ जाना है। इस दृश्य जगत् से उसका क्या संबंध है? क्या आत्मा और शरीर एक ही हैं? ऐसा कौन सा कारण है जिसकी वजह से वह शरीर को आत्मा समझता है। उपनिषदों में आत्मा तथा परमात्मा के संबंध पर विचार किया जाने लगा। सारे उपनिषदीय साहित्य में एक ही सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है कि आत्मा परमात्मा का अंश है, जैसे अग्नि-कण (विस्फुलिंग) अग्नि के अंश हैं। इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के लिए नाना प्रकार की पद्धतियों का प्रयोग किया गया है जैसे पहेली-पद्धति, सूत्र-पद्धति, व्युत्पत्ति-पद्धति, कथा-पद्धति,

दृष्टान्त-पद्धति, संवाद-पद्धति, समन्वय-पद्धति, आत्मोक्ति-पद्धति, प्रयोजन-पद्धति और प्रतिगमन-पद्धति। जहाँ तक परवर्ती दार्शनिक विचार-धाराओं का प्रश्न है उपनिषदों में सभी के अंकुर विद्यमान हैं। उपनिषदों के ऋषियों ने सबसे पहली बार इस समस्त ब्रह्माण्ड तथा इसमें निवास करने वाले असंख्य जीव-जन्तुओं पर व्यापक रूप से विचार करना प्रारम्भ किया। उपनिषदीय ऋषियों द्वारा निकाले गए निष्कर्ष आज तक अकाट्य हैं। सभी दार्शनिक पद्धतियाँ उन निष्कर्षों के चारों ओर ही चक्कर लगा रही हैं और उन्हीं बातों को भिन्न शब्दावली में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करती हैं। उपनिषद् के ऋषि का आत्मा के अजर तथा अमर होने का उद्घोष आज तक बराबर ज्यों का त्यों चला आ रहा है। नचिकेता द्वारा प्रतिपादित श्रेय तथा प्रेय का सिद्धान्त आज तक अटल है। संसार में रहते हुए संसार से निर्लिप्त करने वाले जनक द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त आज भी प्रामाणिक प्रतीत होते हैं। ईशोपनिषद् में प्रतिपादित कर्म तथा ज्ञान का समन्वय आज के संदर्भ में अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषदों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक महत्त्व है। इस समय हमारा उद्देश्य समग्र उपनिषद् साहित्य में प्रतिपादित भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों की समीक्षा करना नहीं है अपितु उनका दिग्दर्शन करना ही हमारा उद्देश्य है।

उपनिषद् साहित्य काफी विशाल है। जहाँ तक इनकी संख्या का प्रश्न है वह दो सौ से भी अधिक है। समग्र उपनिषद् साहित्य को दो भागों में विभाजित किया जाता है: मुख्य उपनिषद् तथा गौण उपनिषद्। **ईश, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, कौषीतकि, प्रश्न, मैत्री और श्वेताश्वतर** मुख्य उपनिषद् माने जाते हैं। **शैवोपनिषद्, शाक्तोपनिषद्, वैष्णवोपनिषद्, सामान्य-वेदान्तोपनिषद्, योगोपनिषद् तथा संन्यासोपनिषद्** गौण उपनिषदों की कोटि में आते हैं। मुख्य उपनिषदों का सामान्य रूप से अध्ययन एवं अध्यापन होता है परन्तु गौण उपनिषदों की ओर लोगों का ध्यान कम गया है। जहाँ तक श्वेताश्वतरोपनिषद् का प्रश्न है इसकी स्थिति कुछ विचित्र सी है। कुछ विद्वान् इसको मुख्य उपनिषदों में सम्मिलित करते हैं और इसके रुद्र-शिव से संबंधित होने के कारण कुछ विद्वान् इसको सांप्रदायिक उपनिषदों (गौण उपनिषदों) की कोटि में रखते हैं। इस विषय पर आगे चलकर स्वतन्त्र रूप से विचार किया जाएगा।

२. **श्वेताश्वतरोपनिषद् : नामकरण**—उपनिषदों के नामकरण का भी अपना ही एक तरीका है। दो उपनिषदों का नाम पहले मन्त्र के पहले शब्द से पड़ गया, तो किसी का नाम उनके ऋषि के नाम पर पड़ गया। श्वेताश्वतरोपनिषद् का नाम भी इसके अपने ऋषि के नाम पर पड़ा हुआ है। स्वयं इस उपनिषद् के अन्तिम अध्याय (६.२१) के इक्कीसवें मन्त्र में यह बतलाया गया है कि श्वेताश्वतर नामक ऋषि ने अपनी तपस्या के प्रभाव तथा परमात्मा की कृपा से ब्रह्म को जाना था और परमहंस संन्यासियों को इसका उपदेश दिया था। इस मन्त्र में केवल यह कहा गया है कि

कोई श्वेताश्वतर नामक ऋषि थे। परन्तु इस कथन मात्र से इसके नामकरण की समस्या सुलझ नहीं जाती। **शंकरानन्द**[1] नामक टीकाकार ने इसके नाम पर थोड़ा सा प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि श्वेताश्वतर वह ऋषि है जिसकी इन्द्रियाँ हमेशा ही दमित तथा अन्तर्मुखी हैं, विपरीत प्रवृत्तियों से रहित हैं या जिसका अश्व अत्यधिक रूप से श्वेत है, या जो अष्टांग योग में संलग्न है। ऐसा प्रतीत होता है कि **शंकरानन्द** की यह व्याख्या प्रतीकात्मक है। अश्वतर का अर्थ है खच्चर। इसका एक आशय यह हो सकता है कि एक ऐसा ऋषि जिसका खच्चर सफेद रंग का है। प्राचीनकाल में खच्चरों का काफी प्रयोग होता था और वह एक उपयोगी यातायात का साधन भी माना जाता है। **श्वेताश्व** जैसे अर्जुन के नाम का एक पर्याय है उसी प्रकार श्वेताश्वतर एक ऋषि का नाम भी है। इस नाम को लेकर कुछ पाश्चात्य विद्वानों का विचार है कि श्वेत वर्ण वाले सीरिया-ईसाई धर्मावलम्बियों की शिक्षा का प्रभाव भारतीय जाति पर पड़ा है (तुलना करें : Weber. Ind. Stud. I pp-400-421) परन्तु मैक्स मूलर[2] ने इस मत का खण्डन किया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से संबंधित है।

३. श्वेताश्वतरोपनिषद् : कालनिर्णय—श्वेताश्वतरोपनिषद् के समय का सही-सही अनुमान लगाना अपने-आप में एक अतीव दुष्कर कार्य है। कुछ विद्वानों का कहना है कि सांप्रदायिक उपनिषदों की परम्परा में यह उपनिषद् सबसे पहला उपनिषद् है क्योंकि इसका संबंध रुद्र-शिव से है। इस उपनिषद् के निर्माण के पश्चात् शैव, शाक्त तथा वैष्णव उपनिषदों की एक सुदृढ़ परम्परा प्रारम्भ हो गई और इसी परम्परा में सामान्य वेदान्त, योग और संन्यास से संबंधित विषयों पर भी उपनिषदों की रचना शुरू हो गई। श्वेताश्वतरोपनिषद् के काल के विषय में विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए हैं। इ. डब्लु हॉपकिन्स[3] के अनुसार इस उपनिषद् का काल ई० पू० चतुर्थ शताब्दी है। कीथ[4] ने हॉपकिन्स द्वारा सुझाए गए समय पर आपत्ति की है परन्तु वे स्वयं कोई काल निर्धारण नहीं करते। आर० जी० भण्डारकर[5] का सुझाव है कि यह उपनिषद् भक्ति काल की प्रारम्भिक रचना है। डा० राधाकृष्णन्[6]

---

१. श्वेता अवदाताः सदाऽन्तर्मुखत्वेन विपरीतप्रवृत्तिरहिता अश्वा इन्द्रियाणि यस्य स श्वेताश्वः। अतिशयेन श्वेताश्वः श्वेताश्वतरः। अष्टांगयोगनिरत इत्यर्थः (दीपिका), पृ. १४२।
२. सेक्रिड बुक्स ऑफ् दि ईस्ट, वाल्यूम १५, भाग २, पृ. XXXI (इण्ट्रोडक्सन)।
३. जर्नल ऑफ् अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी, वाल्यूम २२ पृ. ३३६. (फुटनोट १)।
४. रिलिजन एण्ड फिलासफी ऑफ् दि वेद एण्ड दि उपनिषद्, पृ. ५०२-५०३।
५. वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजीयस सिस्टम्स, पृ. ११०।
६. इंडियन फिलासफी, वाल्यूम I, पृ. ५११।

का कहना है कि यह उपनिषद् बुद्ध से पूर्ववर्ती है क्योंकि इसमें सांख्य तथा योग के पारिभाषिक शब्द उपलब्ध होते हैं। इस उपनिषद् के अन्तिम अध्याय में भक्ति की ओर एक हल्का सा संकेत किया गया है। इसको देखकर यह कहा जा सकता है कि भक्ति सूत्रों तथा गीता में जो भक्ति की सुदृढ़ परम्परा मिलती है यह संकेत निश्चित ही उस परम्परा से काफी पुराना है। जहाँ तक इस परम्परा के विकास का संबंध है, निश्चित ही उस हल्के संकेत से गीता की भक्ति तक की लम्बी यात्रा में लगभग दो सौ वर्षों का समय अवश्य लगा होगा। आजकल यह माना जाता है कि महाभारत का वर्तमान रूप ईसा के पश्चात् तृतीय शताब्दी तक अवश्य पूर्ण हो गया होगा। इस प्रकार इसमें से दो सौ वर्षों का अन्तर करने के पश्चात् हम ईसा के पश्चात् प्रथम शताब्दी में पहुँच जाते हैं और यही श्वेताश्वतरोपनिषद् का संभावित काल प्रतीत होता है यद्यपि कुछ विद्वानों ने इसको ईसा पूर्व चतुर्थ या पाँचवीं शताब्दी में भी रखने का प्रयत्न किया है। 3900 B.C.

४. **श्वेताश्वतरोपनिषद् और इसके टीकाकार**—श्वेताश्वतरोपनिषद् पर पाँच टीकाकारों की टीकाएँ उपलब्ध हैं। वे पाँच टीकाकार हैं : **शंकराचार्य, शंकरानन्द, नारायण, विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी**। **शंकराचार्य** की टीका का नाम सर्व-विदित **शांकरभाष्य** है। **शंकरानन्द** की टीका का नाम **दीपिका** है। **नारायण** की टीका का नाम **दीपिका** तथा **विज्ञानभगवान** की टीका का नाम **विवरण** है। **उपनिषद्-ब्रह्मयोगी** की टीका का कोई विशेष नाम नहीं है। **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** वासुदेवेन्द्र के शिष्य थे। आड्यार लायब्रेरी मद्रास से प्रकाशित **शैवोपनिषदों** में अन्तिम श्वेताश्वतरोपनिषद् है और वहाँ पर उनका भाष्य सभी शैवोपनिषदों पर है। **शंकराचार्य** की टीका **शांकरभाष्य** गीता प्रेस गोरखपुर से मुद्रित है। **शंकरानन्द, नारायण** तथा **विज्ञान-भगवान** की टीकाएँ आनन्दाश्रम संस्कृतग्रन्थावली के अन्तर्गत मुद्रित (पूना) कृष्ण-यजुर्वेदीय श्वेताश्वतरोपनिषद् में संकलित हैं। **शंकरानन्द** कृत **दीपिका** नामक टीका के प्रत्येक अध्याय के अन्त में यह कहा गया है कि **श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य आनन्दात्म** शिष्य **शंकरानन्द** द्वारा विरचित **दीपिका** नामक टीका समाप्त। इसी प्रकार **विज्ञानभगवान** की **विवरण** नामक टीका के प्रत्येक अध्याय के अन्त में यह कहा गया है कि **श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमज्ज्ञानोत्तम** के शिष्य **विज्ञानभगवान** द्वारा विरचित **विवरण** समाप्त। **विज्ञानभगवान** का एक अन्य नाम **विज्ञानात्मा** भी था।[1] **शंकराचार्य** कृत **शांकरभाष्य** को लेकर विद्वानों में एक धारणा प्रचलित है कि यह शांकरभाष्य उन प्रसिद्ध शंकराचार्य का भाष्य नहीं है अपितु किसी परवर्ती परम्परागत **शंकराचार्य** ने इस पर अपना एक भाष्य लिख दिया है। इस विषय में विद्वानों का कहना है कि भगवान शंकराचार्य की विवेचन शैली बड़ी ही गम्भीर, प्रसादपूर्ण तथा युक्ति-युक्त है परन्तु प्रस्तुत भाष्य में न वह गाम्भीर्य है

१. मैक्स मूलर, सेक्रिड बुक्स ऑफ् दि ईस्ट, वाल्यूम १५, भाग २, पृ. xlii।

और न वह प्रासाद ही उपलब्ध होता है। उनकी तर्कपूर्ण विवेचन शैली भी यहाँ अनुपलब्ध है। यह भाष्य प्रसिद्ध **शंकराचार्य** द्वारा विरचित नहीं है। इस पक्ष में यह एक अन्य तर्क दिया जाता है कि **श्रीमत् विद्यारण्य** प्रणीत **शंकरदिग्विजय** के छठे सर्ग में **शंकराचार्य** द्वारा विरचित सभी भाष्यों का निर्देश किया गया है परन्तु वहाँ श्वेताश्वतरोपनिषद् के भाष्य का निर्देश नहीं किया गया है। इस पर **धनपति सूरि** द्वारा विरचित **डिण्डिम** नामक टीका में भी **ईश**, **बृहदारण्यक** आदि दश उपनिषदों का संग्रह किया गया है। यदि श्वेताश्वतरोपनिषद् का भाष्य भी **शंकराचार्य** कृत होता तो **डिण्डिमकार धनपतिसूरि** द्वारा इस उपनिषद् का भी उल्लेख अवश्य किया जाता। प्रकृत भाष्य **शंकराचार्य** कृत नहीं है इस बात की पुष्टि के लिए इन तर्कों के अतिरिक्त कुछ और तर्क भी दिए जा सकते हैं। जैसा पहले भी बताया जा चुका है कि **शंकराचार्य** का भाष्य पर्याप्त रूप से गम्भीर है परन्तु वह बात इस भाष्य पर लागू नहीं होती। उदाहरणार्थ हम देखते हैं कि प्रकृत भाष्य की शैली अतीव विचित्र है। जहाँ तक मन्त्रों के अर्थ का प्रश्न है हम देखते हैं कि भाष्य में कहीं-कहीं तो **तु** तथा **च** जैसे अतीव सरल शब्दों की भी व्याख्या की गई है और इसके विपरीत अति कठिन शब्दों या वाक्यांशों को भी छोड़ दिया गया है। प्रथम अध्याय के दूसरे मन्त्र में जहाँ काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, योनि तथा पुरुष को संसार का कारण बतलाया गया है और अन्त में यह घोषणा की गई है कि यदि ये सब पृथक्-पृथक् रूप से संसार के कारण नहीं हो सकते तो इनका संयोग भी **आत्मभाव** की वजह से कारण नहीं हो सकता। इस सारे प्रसंग में **आत्मभाव** शब्द अतीव महत्त्वपूर्ण है और इसका अर्थ अत्यधिक व्याख्या सापेक्ष है परन्तु आश्चर्य की बात है कि **शंकराचार्य** ने इस पर मौन रहना ही उचित समझा है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि प्रकृत भाष्य **शंकराचार्य** कृत नहीं है। दूसरे टीकाकार **शंकरानन्द** हैं जिनकी टीका का नाम **दीपिका** है। इनकी व्याख्या शैली अतीव रोचक एवं तर्क पूर्ण है। एक-एक पद को लेकर उसका भावार्थ स्पष्ट किया गया है। इनकी टीका के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि इन पर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव है क्योंकि वे अपने भाष्य में **"अहं ब्रह्मास्मीति"** जैसे प्रसिद्ध महावाक्यों को उद्धृत करते हैं। इनके भाष्य में यत्र-तत्र व्याकरणात्मक टिप्पणियाँ तथा शब्दों की व्युत्पत्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं। इनके भाष्य के अध्ययन से यह भी स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होता है कि इन पर तन्त्र का भी प्रभाव है क्योंकि एक स्थल पर वे कुण्डलिनी शक्ति तथा तन्त्रशास्त्र में प्रयुक्त होने वाले भिन्न-भिन्न वर्गों की ओर भी संकेत करते हैं। **नारायण** नामक तीसरे टीकाकार हैं जिनकी टीका का नाम भी **दीपिका** है। जहाँ तक इनके भाष्य का प्रश्न है उसके अध्ययन से यह पता चलता है कि इन पर भी तन्त्रशास्त्र का काफी गहरा प्रभाव है क्योंकि वे अपने भाष्य में इडा, पिंगला तथा सुषुम्ना नामक नाड़ियों का तथा षट्चक्र का संकेत करते हैं। इसके साथ-साथ वे **प्रपञ्चसार**, **अध्यात्मविवेक**

तथा **गीता** जैसे ग्रन्थों का संदर्भ अपनी टीका में देते हैं। दूसरे अध्याय के बारहवें मन्त्र की व्याख्या करते हुए वे तन्त्रशास्त्र में प्रयुक्त लंबीज, वंबीज, रंबीज, यंबीज तथा हंबीज जैसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी करते हैं। **विज्ञानभगवान** (या **विज्ञानात्मा**) चौथे टीकाकार हैं जिनके भाष्य का नाम **विवरण** है। पाँचों टीकाओं में यह भाष्य अत्यधिक विशद तथा तर्कपूर्ण है। जहाँ तक इसकी व्याख्या शैली का प्रश्न है इनकी शैली अन्य भाष्यकारों के समान ही है। एक-एक पद को लेकर उसका भावार्थ स्पष्ट किया गया है। प्रत्येक मन्त्र के आरम्भ में संबंधित विषय वस्तु को बड़े ही सारगर्भित शब्दों में प्रस्तुत किया गया है। **विज्ञानभगवान** ही मात्र एक टीकाकार हैं जो स्थल-स्थल पर मन्त्रों के भावार्थ को स्पष्ट करते हुए भिन्न-भिन्न सुझाव प्रस्तुत करते हैं। **शंकरानन्द** के समान इन पर भी अद्वैत वेदान्त का प्रभाव है। अपने भाष्य में अद्वैत वेदान्त में प्रतिपादित प्रतिविम्बवाद तथा विवर्तवाद का काफी संकेत देते हैं। प्रतिविम्बवाद का आशय है कि एक चन्द्र (विम्ब) आकाश में स्थित रहता है और दूसरा इसका प्रतिबिम्ब जल में विद्यमान रहता है। परन्तु जल में चन्द्रमा का प्रतिविम्ब पड़ने पर जलसंबंधी कम्पनादि मिथ्या धर्मों का चन्द्रमा से कोई सम्बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार जन्म बन्धन, दुःखादि धर्म जीव के हैं, ईश्वर के नहीं।[1] वेदान्त के आचार्यों ने बतलाया है कि जब कारण से विदृश विकार उत्पन्न हो तो उसे "विवर्त" कहते हैं। इस प्रकार यह जगत् माया का तो परिणाम है और चेतन का विवर्त है। इसको ही विवर्तवाद का सिद्धान्त कहा जाता है। इसके साथ-साथ इनके भाष्य में कार्यकारणभाव का भी प्रतिपादन किया गया है। इनके भाष्य में भी गीता तथा अन्य प्रमुख उपनिषदों को श्रुति के रूप में उद्धृत किया गया है। इनके भाष्य में व्याकरणात्मक टिप्पणियाँ बहुत कम मिलती हैं परन्तु शब्दों की व्युत्पत्तियाँ उपलब्ध होती हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि **विज्ञानभगवान** का भाष्य अत्यधिक प्रौढ़ है और यदि यह कह दिया जाय कि यह भाष्य शांकर भाष्य से भी अधिक उत्तम कोटि का है तो अत्युक्ति नहीं होगी। अब रह गया **उपनिषद् ब्रह्मयोगी** का भाष्य। इस भाष्य में **विज्ञानभगवान** के भाष्य को ही शब्दान्तर से प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** नामक भाष्यकार ने **विज्ञानभगवान** के भाष्य में ही कुछ फेर-बदल करके अपना भाष्य लिखा है क्योंकि दोनों भाष्यों में एक ही शब्दावली प्रयुक्त हुई है।

---

१. (i) देखिए विज्ञानभगवान कृत विवरण, श्वेताश्वतरोपनिषद् १.६, पृ.१८३।
(ii) यथा जले चन्द्रमसः प्रतिबिम्बितस्य तेन जलेन कृतो गुणः कम्पादिधर्मः आसन्नविद्यमानो मिथ्यैव दृश्यते न वस्तुतश्चन्द्रस्य एवमनात्मनो देहादेर्धर्मो जन्मबन्धदुःखादिरूपो द्रष्टुरात्मनो जीवनस्य न ईश्वरस्य। सुबोधिनी, श्रीमद्भागवत ३.७.११ (राममूर्तिशर्मा, अद्वैत वेदान्त, पृ० २८७ दिल्ली, १९७२ में उद्धृत)।

५. श्वेताश्वतरोपनिषद् : एक सामान्य परिचय—ऐसा प्रतीत होता है कि श्वेताश्वतरोपनिषद् शैव मत के प्रतिपादन के लिए लिखा गया था। आगे चलकर इस विषय पर स्वतन्त्र रूप से विचार भी किया जाएगा। सारा उपनिषद् छः अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में सर्वप्रथम सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय विषयक प्रश्नों को उठाया गया है। इसके अनन्तर यह प्रतिपादित किया गया है कि **देवात्मशक्ति** ही एक ऐसा तत्त्व है जिसके द्वारा सृष्टि का निर्माण किया गया था। इसके पश्चात् चक्र तथा नदी रूपी प्रतीकों के माध्यम से संसार के प्रपञ्च का निरूपण किया गया है। इसी अध्याय में आगे चलकर भोक्ता, योग्य तथा प्रेरयिता से युक्त त्रिविध ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। पहले अध्याय के अन्त में यह उद्घोष किया गया है कि अपने शरीर तथा प्रणय पर निरन्तर चिन्तन करने से निगूढ आत्मा का दर्शन किया जा सकत है। रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे[1] का मत है कि श्वेताश्वतरोपनिषद् का स्वाभाविक अन्त इसके पहले अध्याय में ही हो जाता है जैसा कि अन्त में शब्दों की पुनरावृत्ति से प्रतीत होता है तथा शेष अध्याय किसी परवर्ती युग के क्षेपक हैं। दूसरे अध्याय के प्रारंभिक पाँच मन्त्रों में सूर्य देवता से प्रार्थना की गई है कि वह हमारे मन एवं बुद्धि को तत्त्व-चिन्तन में लगाए। इसके पश्चात् योग का विशद वर्णन दिया गया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इस उपनिषद् का उद्देश्य योग को एक शास्त्र रूप में प्रतिपादित करना नहीं है जैसा कि पातञ्जल योगसूत्र में दृष्टिगोचर होता है; यहाँ पर केवल यौगिक प्रक्रिया का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। तीसरे अध्याय में रुद्र-शिव के माहात्म्य का विशद वर्णन किया गया है और यह प्रतिपादित किया गया है कि रुद्र ही संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार का मात्र एक कारण है। चौथे अध्याय में परमात्मा तथा जीवात्मा की तुलना दो पक्षियों से की गई है। जीवात्मा संसार रूपी वृक्ष के फल को खाता है तथा परमात्मा जीवात्मा का मात्र दर्शन करता है। यह सारा संसार उस परमात्मा की माया है और वह महेश्वर स्वयं मायावी है। यह सारा संसार उसके अवयवों से व्याप्त है। वह परमात्मा सृष्टि की उत्पत्ति के अत्यधिक गहन क्षणों में भी विद्यमान रहता है और वही सारे लोकों का रक्षक भी है। अन्त में रुद्र देवता से प्रार्थना की गई है कि आप हमारे पुत्र, पौत्र, आयु, गौ और अश्वों का विनाश न करें। पाँचवाँ अध्याय इस उद्घोष से प्रारंभ होता है कि उस परमात्मा में विद्या और अविद्या अन्तर्निहित हैं और जो विद्या और अविद्या का भी नियमन करता है वह तो कोई अन्य ही है इसके पश्चात् सांख्य सूत्रों के प्रणेता कपिल मुनि का संकेत किया गया है। इस अध्याय में कुछ अन्य दार्शनिक विचारधाराओं का भी उल्लेख किया गया है। अन्तिम अध्याय में शुद्ध सगुण ईश्वर का निरूपण तथा गुरु भक्ति और ईश्वर भक्ति का आदेश है।

---

१. उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ. २१. जयपुर, १९७१।

६. श्वेताश्वतरोपनिषद् तथा अन्य दार्शनिक विचारधाराएँ—इस उपनिषद् के विषय में विद्वानों की एक धारणा है कि यह उपनिषद् उस काल की रचना है जब सांख्य, योग तथा वेदान्त स्वतन्त्र रूप में दार्शनिक विचारधारा के रूप में स्वीकृत नहीं हो पाए थे। संभवतः यह इसलिए कहा गया है कि इस उपनिषद् में इन तीनों दार्शनिक विचारधाराओं के अंकुर उपलब्ध होते हैं। इन तीनों में सांख्य दर्शन के तत्त्व सर्वाधिक रूप में उपलब्ध होते हैं। जहाँ तक योग का प्रश्न है उसकी स्थिति इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है और वेदान्त की भी वही स्थिति है यद्यपि उसमें अद्वैत वेदान्त तथा द्वैत—दोनों के तत्त्व दिखलाई पड़ते हैं। सबसे पहले हम सांख्य पर विचार करते हैं। इस विषय पर गंभीर रूप से विचार करने से पहले यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इस उपनिषद् में सांख्य दर्शन में प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग काफी किया गया है और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसमें सांख्य सूत्रों के प्रणेता **कपिल**[1] ऋषि का संकेत भी मिलता है। टीकाकारों ने **कपिल** शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ किए हैं। पहले अध्याय के चौथे तथा पाँचवें मन्त्र में चक्र एवं नदी के माध्यम से सांख्य दर्शन के अधिकांश तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है। यह चक्र वास्तव में ब्रह्म चक्र ही है जिसको परमात्मा चलाता है अर्थात् इस संसार चक्र का अधिष्ठाता या स्वामी ब्रह्म है। इस चक्र में प्रकृति अखिल ब्रह्माण्ड रूपी चक्र का आधार है। प्रकृति तीन वृत्तों से युक्त है। ये तीन वृत्त सांख्य के सत्त्व, रजस् तथा तमस् ही हैं। यह चक्र सोलह अन्त वाला है। ये सोलह अन्त सांख्य के सोलह विकार—ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच महाभूत ही हैं। चक्र में पचास अरे हैं। ये अरे सांख्य के पचास प्रत्ययवर्ग हैं। चक्र में बीस प्रत्यरे हैं। ये दस बाह्य इन्द्रियाँ तथा दस इनके विषय हैं। इस तरह पचास अरे तथा बीस प्रत्यरों वाले संसार-चक्र को सांख्य विचार धारा के अनुसार समझा जा सकता है। पाँचवें मन्त्र में नदी का वर्णन किया गया है। इस पूरे प्रसंग को भी सांख्य विचारधारा के अनुसार समझा जा सकता है।[2] पहले अध्याय के नौवें मन्त्र में बतलाया गया है कि ईश्वर तथा जीवात्मा क्रमशः ज्ञ तथा अज्ञ हैं और अजा प्रकृति भोक्ता (जीवात्मा) को भोग्यार्थ (प्रकृति) की ओर ले जाती है। आत्मा अनन्त है। पहले ही अध्याय में सांख्य के क्षर तथा अक्षर का भी निरूपण किया गया है। इसी प्रकार इस अध्याय में आगे चलकर सांख्य के प्रधान का भी वर्णन किया गया है। तीसरे अध्याय के

१. श्वेताश्वतरोपनिषद् ५.२१।

२. प्रथम अध्याय के चौथे तथा पाँचवें मन्त्र में सांख्य का प्रभाव स्पष्ट ही परिलक्षित होता है। इसके विस्तृत विवेचन के लिए देखिए : इ. जान्सटन, सम सांख्य एण्ड योग कन्सेप्शन्स ऑफ् दि श्वेताश्वतरोपनिषद्, जर्नल ऑफ् रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, १९३०, पृ. ८५५-८७८।

बारहवें मन्त्र में सांख्य के पुरुष को सत्त्व गुण का प्रवर्तक बतलाया गया है। जहाँ तक पुरुष का संबंध है इसका उल्लेख तो इस उपनिषद् में अनेक बार हुआ है। चौथे अध्याय में लोहित, शुक्ल तथा कृष्ण गुणों से युक्त अजा प्रकृति का वर्णन किया गया है। इसी उपनिषद् में माया को प्रकृति तथा महेश्वर को मायावी कहा गया है। विद्वानों का कहना है कि यहाँ "**माया**" पद का प्रयोग किसी विलक्षण ही अर्थ में किया गया है जिसके स्वरूप को हम नहीं जान सकते। जैसे एक ऐन्द्रजालिक अपने जादू के द्वारा नाना प्रकार की वस्तुओं को दिखाता है परन्तु सभी मिथ्या होती हैं उसी प्रकार से वह परमात्मा उस ऐन्द्रजालिक के समान है और जादू वास्तव में उसकी माया ही है। कुछ विद्वानों का कहना है कि यह माया वही है जिसको प्रथम अध्याय में '**देवात्मशक्ति**' कहा गया है और वह सृष्टि की उत्पत्ति का कारण है। यहाँ यह घोषित किया गया है कि वह परमात्मा ही पदार्थों के स्वभाव को पकाता है, जैसे अग्नि का स्वभाव उष्णता है, परमात्मा ही उसकी उष्णता का कारण है। वह परमात्मा ही गुणों को उनके गुणत्व से संयुक्त करवाता है। वह परमात्मा त्रिगुण-स्वरूप है और वही गुणों के अन्वय का निष्पादन करवाता है। वह परमात्मा नित्य पदार्थों में नित्य है और चेतन पदार्थों में चेतन-स्वरूप है। उस (परमात्मा) को सांख्य एवं योग के द्वारा जाना जा सकता है। (नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां विदधाति कामान्। तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः, श्वेताश्वतरोपनिषद् ६. १३)। इस मन्त्र में प्रयुक्त "**सांख्ययोगाधिगम्यम्**" पद वास्तव में काफी विवादास्पद है। विद्वानों का कहना है कि यह सांख्य एवं योग—दो भिन्न-भिन्न दार्शनिक विचारधाराओं को अभिव्यक्त करता है। कुछ लोगों के अनुसार यह उस स्थिति का परिचायक है जब सांख्य एवं योग पृथक् पृथक् रूप में दार्शनिक सिद्धान्तों के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हो पाये थे। इस उपनिषद् के अन्तिम अध्याय में परमात्मा को "**गुणी**" तथा "**गुणेश**" कहा गया है। अन्तिम अध्याय में एक स्थल पर परमात्मा को "**प्रधानक्षेत्रज्ञपति**" भी कहा गया है। यहाँ इस अभिव्यक्ति में सांख्य दर्शन की समृद्ध एवं परिपुष्ट पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया गया है। इस उपनिषद् में प्रयुक्त "**कपिल**" शब्द को लेकर तो विद्वानों में एक विवाद ही खड़ा हो गया है कि क्या ये वही कपिल हैं जो सांख्य सूत्रों के प्रणेता हैं या वे मात्र हिरण्यगर्भ को ही अभिव्यक्त करते हैं। इन सारे प्रसंगों का अध्ययन करने के बाद यह विचारणीय है कि क्या मात्र सांख्य दर्शन में प्रयुक्त होने वाले कुछ पारिभाषिक शब्दों के इस उपनिषद् में उद्धृत होने के कारण ही इस उपनिषद् एवं सांख्य दर्शन में कोई पारस्पारिक तालमेल है। यह अपने आप में एक बड़ा गंभीर तथा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि इतने प्राचीन काल में रचित उपनिषद् में वर्णित सांख्य शब्दावली क्या वास्तव में सांख्य दर्शन वाली ही है जब की उस समय सांख्य का वही अर्थ नहीं था जो परवर्ती काल में कपिल सांख्य का अर्थ ग्रहण किया जाने

लगा था। सांख्य शब्द संख्या से निष्पन्न है जिसका आशय है—गिनना या संख्या। यदि सांख्य को इस रूप में ग्रहण करें तो इसका अर्थ होगा कि योग के विरोध में प्रयुक्त होने वाला सैद्धान्तिक दार्शनिक विवेचन। इस सभी शब्दों का किन्हीं अर्थ विशेष में रूढ़ हो जाना इनके परवर्ती विकास एवं परवर्ती काल का परिचायक है। इसका परवर्ती विकास किसी भी रूप में हुआ हो और सांख्य एवं वेदान्त में कितना भी विरोध रहा हो इन दोनों में एक जबरदस्त अन्तर है। सांख्य द्वैतवादी है और वेदान्त अद्वैतवादी है। सांख्य में प्रकृति पुरुष से स्वतन्त्र है परन्तु वेदान्त में माया ब्रह्म या परमात्मा के अधीन मानी गई है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में यह स्पष्ट रूप से घोषित किया गया है कि प्रकृति (सांख्य में प्रधान) परमात्मा से स्वतन्त्र शक्ति नहीं है अपितु परतन्त्र शक्ति है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में ईश्वर के वैयक्तिक स्वरूप पर पर्याप्त बल दिया गया है। ईश्वर संसार का कर्ता तथा नियमन करने वाला है परन्तु वह सर्वशक्तिमान् परमात्मा से भिन्न है। वास्तव में परमात्मा सर्वोपरि है परन्तु सृष्टि एवं स्रष्टा का अपना एक व्यावहारिक रूप भी होता है। सृष्टि अपने आप में माया ही है। सृष्टि का कर्ता मायावी है परन्तु यहाँ भी इसका रूप व्यावहारिक ही है। वेदान्त के अनुसार गुणों का संबंध प्रकृति या माया से है और इसको ही इस उपनिषद् में "**देवात्मशक्ति**" से अभिव्यक्त किया गया है। यहाँ यह महत्त्वपूर्ण बात है कि इस उपनिषद् में यह परिवर्तन नहीं है। सारे उपनिषद् में केवल **एक** को ही सब का कारण माना गया है; कहीं पर भी द्वैत की बात नहीं कही गई है। परवर्ती काल के सांख्य-दार्शनिकों ने शायद इस उपनिषद् में अपने मत की पुष्टि के लिए कुछ खोजने का प्रयत्न किया हो परन्तु इस उपनिषद् में एक भी ऐसा संदर्भ नहीं है जिसको वास्तव में द्वैतवादी सांख्य विचार धारा का पोषक कहा जाय जैसा कि वास्तव में सांख्य दर्शन में प्रतिपादित किया गया है। यदि हम ईश्वर, प्रभु, कर्ता तथा ईशान (शासक) जैसे शब्दों को सही परिप्रेक्ष्य में समझाना चाहते हैं तो हमें वेदान्त के इतिहास में जाना होगा। वेदान्त में यह स्वीकार किया गया है कि जगत् ब्रह्म का परिणाम नहीं अपितु उसका विवर्त है। वेदान्त के अनुसार जगत् ब्रह्म से उस प्रकार उत्पन्न नहीं होता जैसे अंकुर से वृक्ष पैदा होता है परन्तु ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति वैसे ही है जैसे सूर्य की किरणों से मृगमरीचिका का भ्रम उत्पन्न होता है। जगत् की व्यावहारिक सत्ता है परन्तु अन्तिम सत्ता ब्रह्म की ही है। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण सवाल पैदा होता है कि इस संदर्भ में ईश्वर या देव का स्वरूप क्या है। यदि हम ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो हमें लगता है कि ब्रह्मवाद के सिद्धान्त से काफी पहले से ही ईश्वर को वैयक्तिक देवता, स्रष्टा शासक और सर्वज्ञ माना जाता रहा है। जब परवर्ती काल में वेदान्त के ब्रह्मवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया तो इन दोनों में एक विशेष प्रकार के तालमेल बैठाने की समस्या खड़ी हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि ईश्वर को ही ब्रह्म मान लिया जाने लगा। परन्तु

ईश्वर किसी खास सादृश्य के कारण ही ब्रह्म है। वह स्वयं उत्पन्न नहीं होता अपितु स्रष्टा है। जिस शक्ति से ईश्वर ने जगत् की सृष्टि की वह उसकी अपनी एक आन्तरिक शक्ति थी; वह उससे स्वतन्त्र नहीं थी; हम उसे कोई भी नाम दे सकते हैं—"**देवात्मशक्ति**" या "**माया**" या "**प्रकृति**"।

जैसा पहले ही बतलाया जा चुका है, इस उपनिषद् में सांख्य-सूत्रों के प्रणेता **कपिल** ऋषि का नामोल्लेख मिलता है। यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या ये कपिल ऋषि वही हैं जिन्होंने सांख्य सूत्रों की रचना की थी या कोई अन्य व्यक्ति हैं। टीकाकारों ने इसका अर्थ हिरण्यगर्भ किया है।[1] जिस मन्त्र में इस नाम का संकेत मिलता है उस आशय के मन्त्र पहले भी आ चुके हैं। तीसरे अध्याय के चौथे मन्त्र में यह कहा गया है कि रुद्र देवता ने हिरण्यगर्भ को जन्म दिया है। चौथे अध्याय के बारहवें मन्त्र में फिर वही बात कही गई है कि उसने हिरण्यगर्भ को जन्म लेते हुए देखा था। पाँचवें अध्याय के दूसरे मन्त्र में जब हिरण्यगर्भ के साथ कपिल विशेषण जोड़ा गया तो टीकाकारों के लिए एक नई समस्या खड़ी हो गई। यदि कपिल के स्थान पर अन्य कोई विशेषण जोड़ दिया गया होता तो किसी को भी यह सन्देह नहीं होता कि यहाँ पर हिरण्यगर्भ तथा ब्रह्म के संबंध का मात्र वर्णन किया गया है। इसी उपनिषद् में ब्रह्म के लिए ऋषि तथा महर्षि जैसे विशेषणों का भी प्रयोग हुआ है। भारत वर्ष में ब्राह्मण-काल तक यह परम्परा रही है कि ज्ञान की सभी शाखाओं का संबंध ब्रह्मा या ब्रह्मा-स्वयंभू से जोड़ा जाता रहा है। परवर्ती काल में प्रजापति ने ब्रह्म स्थान का ग्रहण कर लिया और ऋग्वेद (१०.१२१.१०) में प्रजापति के स्थान पर हिरण्यगर्भ का संकेत मिलता है। मुण्डकोपनिषद् के आरंभ में यह बतलाया गया है कि ब्रह्मा ने ब्रह्म-विद्या का उपदेश अथर्वन् को दिया; अथर्वन् ने अङ्गीरस् को, अङ्गीरस ने सत्यवह भारद्वाज को, भारद्वाज ने आंगिरस को और आंगिरस ने शौनक को ब्रह्म विद्या का उपदेश दिया। मनु को हिरण्यगर्भ तथा स्वयंभू कहा जाता है। ऐसा लगता है कि इसी परम्परा के अन्तर्गत सांख्य-सूत्रों का कर्तृत्व हिरण्यगर्भ के सिर पर थोप दिया गया हो, क्योंकि हिरण्यगर्भ नाम का प्रयोग अन्य ऋषियों के पूर्वजों के लिए भी किया जाता था, तो यह स्वाभाविक ही था कि **कपिल** के स्थान पर हिरण्यगर्भ नाम चुन लिया गया हो। इसके अतिरिक्त यह भी पता चलता है कि कपिल ने अपना ज्ञान आसुरि को दिया और आसुरि ने पंचशिख को दिया; पंचशिख के नाम का उल्लेख सांख्य सूत्रों (५. ३२; ६.६८) में भी आता है। जब हिरण्यगर्भ के समान कपिल को उस महान दार्शनिक परम्परा का उद्भावक स्वीकार कर लिया गया तो इसके विरोध में एक प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। अब तक लोगों का वास्तविक कपिल में विश्वास जम चुका था और जब उन्होंने उस कपिल के लिए विश्वास-

१. कपिल की विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए श्वेता० ५.२ की व्याख्या।

सूत्रों को खोजना प्रारम्भ किया तो जहाँ-जहाँ भारतीय ज्ञान की परम्परा में उसका नाम उपलब्ध होने लगा तो उनका विश्वास और अधिक पक्का होने लगा । यहाँ प्रश्न यह है कि क्या कभी **कपिल** नाम का कोई वास्तविक ऐतिहासिक व्यक्ति था जिसने सांख्य-सूत्रों का प्रणयन किया हो । ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम श्वेताश्वतरोपनिषद् ने हिरण्यगर्भ से भिन्न **कपिल** ऋषि के नाम की उद्भावना की और परवर्ती काल में उसको सांख्य सूत्रों के प्रणेता **आद्यकपिल** के रूप में स्वीकार कर लिया गया । इन सारे प्रसंगों पर विचार करने के बाद एक बात निष्कर्ष रूप में कही जा सकती है कि **हिरण्यगर्भ कपिल** से सांख्य विचारधारा के उद्भावक **कपिल** ऋषि की उद्भावना हुई है और **हिरण्यगर्भ** कपिल का विकास किसी वास्तविक मानव-पुरुष से नहीं हुआ है ।

जहाँ तक संस्कृत वाङ्मय का संबंध है **कपिल** ऋषि का नाम सांख्य शास्त्र के आद्य प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध है । गीता में कपिल को सिद्ध पुरुष कहा गया है । पुराणों[1] में कपिल को विष्णु का अवतार माना गया है । योगसूत्र के व्यास भाष्य (यो. सू. १.१२५ पर व्यास भाष्य) में भी कपिल का नामोल्लेख मिलता है । बौधायन गृह्य सूत्र में भी एक कपिल का उल्लेख हुआ है । कपिल का नाम एक स्मृतिकार के रूप में भी मिलता है । कपिल की ऐतिहासिकता के विषय में अधिकांश विद्वानों की राय यही है कि वे कोई ऐतिहासिक व्यक्ति [illegible] थे । परन्तु कुछ विद्वानों का सुझाव है कि सांख्यकारिका में जिस कपिल का जिक्र किया गया है वह व्यक्ति वास्तव में ऐतिहासिक व्यक्ति रहा होगा ।

इ.जान्सटन[2] के अनुसार सांख्यविचारधारा के विकास की कई अवस्थाएँ रही होंगी । उनका कहना है कि श्वेताश्वतरोपनिषद् के लेखक को सांख्य की प्रकृति तथा दूसरे अन्य तत्त्वों का पूरा-पूरा ज्ञान था परन्तु उस समय ये सभी तत्त्व अपनी पूरी परिपक्व अवस्था में नहीं थे जैसा कि सांख्यकारिका में दिखाई देता है । इस कथन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सांख्यकारिका से पहले श्वेताश्वतरोपनिषद् काल में तथा उससे भी पहले सांख्यसंबंधी ये सूत्र इधर-उधर बिखरे पड़े थे जिनमें से कुछ का व्यवस्थित रूप हमें श्वेताश्वतरोपनिषद् में उपलब्ध होता है । परवर्ती काल में आगे जाकर इस दर्शन के अनुयायियों द्वारा इसको एक व्यवस्थित रूप दिया गया होगा । इ. डब्लु हॉपकिन्स[3] का भी इस संदर्भ में यही मत है ।

---

१. भागवत पुराण १.३ ।

२. सम सांख्य एण्ड योग कन्सेप्शन्स ऑफ् दि श्वेताश्वतरोपनिषद्, जर्नल ऑफ् रॉयल ऐशियाटिक सोसाइटी, १६३०, पृ०. ८७५ ।

३. सम नोट्स ऑन् श्वेताश्वतरोपनिषद्, जर्नल ऑफ् दि अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी, वाल्यूम २२, पृ.३८६ ।

अभी हमने श्वेताश्वतरोपनिषद् में उपलब्ध होने वाले सांख्य विचारधारा संबंधी तत्त्वों पर विचार किया। जैसा पहले ही बतलाया जा चुका है इस उपनिषद् में योग-संबंधी बातें भी मिलती हैं। इस उपनिषद् के दूसरे अध्याय में हमें योगाभ्यास तथा उसके फल का शास्त्रीय तथा व्यवस्थित विवेचन मिलता है। सर्वप्रथम यह निर्देश किया गया है कि हमें अपने शरीर के तीनों उन्नत भागों को एक सीधी रेखा में रखना चाहिए। अपने मन को इन्द्रियों सहित हृदय में सन्निहित करके हमें ब्रह्म का एकाग्र ध्यान करना चाहिए। प्राणों को रोककर तथा कर्मों को नियमित करके हमें अपने प्राण को नासिका-मार्ग से बाहर निकाल देना चाहिए। हमें योग साधन के लिए एक समतल तथा शुद्ध भूमि पर बैठना चाहिए जो कंकड़, अग्नि तथा रेत से रहित हो और शोर-गुल एवं जलाशय आदि से दूर हो। योग-साधन का स्थल आँखों को कष्ट दायक नहीं होना चाहिए। योग साधन के लिए पर्वत-कन्दरा जैसे स्थान सर्वोत्तम माने गए हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् योगाभ्यास द्वारा प्राप्त होने वाले चमत्कारों पर भी प्रकाश डालता है। योग-साधन से रोग, जरा, मृत्यु आदि का भय दूर हो जाता है। योग से शरीर में हल्कापन आता है। साधक का वर्ण उज्ज्वल तथा कान्तिमान बन जाता है और उसका स्वर भी बहुत मधुर बन जाता है। उसके शरीर से सुगन्ध निकलने लगती है; उसका मूत्र-पुरीष भी अल्प हो जाता है। योग-साधन में यदि ये सभी चिह्न दिखलाई देने लगें तो समझना चाहिए कि योग की सिद्धि दूर नहीं है। अन्त में उपनिषद् यह घोषणा करता है कि यह तो योग की पहली सिद्धि ही है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि जिन-जिन बातों का वर्णन ऊपर किया गया है वे सभी तो शारीरिक उपलब्धियाँ ही हैं। योग का वास्तविक उद्देश्य तो कुछ और ही है। योग का असली उद्देश्य है चित्तवृत्तियों का एकाग्र करना और उसके द्वारा प्रणव के माध्यम से ब्रह्म चिन्तन और ब्रह्म-चिन्तन द्वारा ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति। यह पहले ही संकेत कर दिया गया है कि इस प्रकार योग-साधना का वास्तविक उद्देश्य योगाभ्यास सिखलाना नहीं है अपितु सामान्य रूप से हम अपने मन को किस प्रकार व्यवस्थित करके तत्त्व चिन्तन में लगा सकें यह प्रतिपादित करना ही इसका सही उद्देश्य है। पातञ्जल योगसूत्र तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् के दूसरे अध्याय में यही अन्तर है।

यह तो रही सांख्य एवं योग की बात। अन्त में वेदान्त संबंधी द्वैत तथा अद्वैत विचारधाराओं पर विचार करना अप्रासंगिक नहीं होगा। द्वैतवादियों ने इस उपनिषद् से अपने सिद्धान्त को पुष्ट करने का प्रयत्न किया है। इनका कहना है कि क्योंकि इस उपनिषद् में परमात्मा तथा विज्ञानात्मा की तुलना दो पक्षियों से की गई है अतः उपनिषद् द्वैतवादी विचारधारा का पोषक है। यह तो स्पष्ट ही है कि इस उपनिषद् में यत्र-तत्र परमात्मा तथा विज्ञानात्मा को दो भिन्न-भिन्न सत्ताओं के रूप में प्रतिपादित किया गया है। परन्तु इसके साथ-साथ इनके पृथक्-पृथक् होने के

बावजूद भी यह उपनिषद् परमात्मा की मात्र एक सत्ता में विश्वास रखता है। इस उपनिषद् की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसके अनुसार रुद्र-शिव ही वह सत्ता है जिसको अन्य उपनिषदों तथा वेदान्त में ब्रह्म कहा गया है। इस उपनिषद् में सबसे पहली बार ब्रह्म का तादात्म्य रुद्र-शिव के साथ स्थापित किया गया है और रुद्र-शिव को एक सगुणपरक वैयक्तिक देवता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। वास्तव में यह अपने-आप में बड़ी प्रभावोत्पादक बात थी और संभवतः इसी कारण ही इस उपनिषद् पर सांप्रदायिक होने का आरोप लगाया जाता है। मात्र एक परमात्मा की स्थापना करने के कारण ही अद्वैतवादी विचारधारा के पोषक इसको अपने मत का मूर्धन्य ग्रन्थ स्वीकार करते हैं। इसके अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं द्वैतवादी तथा अद्वैतवादी का एक समन्वित रूप प्रस्तुत करना ही इस उपनिषद् का मूल उद्देश्य है।

७. क्या श्वेताश्वतरोपनिषद् एक सांप्रदायिक उपनिषद् है ?—इस उपनिषद् के विषय में विद्वानों में एक धारणा प्रचलित है कि यह उपनिषद् सांप्रदायिक है। सबसे पहले सांप्रदायिक शब्द ही विचारणीय है। इस संदर्भ में संप्रदाय का वह अर्थ ग्रहण नहीं किया जाता है जो आजकल प्रचलित है। संप्रदाय का आजकल अर्थ काफी भ्रष्ट हो गया है। सांप्रदायिक से तात्पर्य है किसी संप्रदाय विशेष से संबंधित, जैसे शैव, शाक्त तथा वैष्णव। मध्ययुग में भारत में प्रमुखतया तीन धार्मिक विचार-धाराएँ प्रचलित थीं—शैव, शाक्त तथा वैष्णव। सारा समाज इन विचार धाराओं में बंटा हुआ था। सारा पौराणिक साहित्य इस बात का साक्षी है। पुराणों में शिव, शक्ति तथा विष्णु की उपासना से संबंधित पूजापद्धतियों तथा विचारधाराओं का संकलन है। उपनिषदों की परम्परा पौराणिक परम्परा से काफी प्राचीन है यह बात सर्वविदित ही है। पुराणों से पहली उपनिषदीय परम्परा में ब्रह्म तथा आत्मा ही चिन्तन के प्रमुख विषय थे। पौराणिक काल में आकर शैव, शाक्त तथा वैष्णव लोगों ने यह उचित समझा कि उनकी विचारधारा का प्रचार एवं प्रसार उपनिषदों के माध्यम से किया जाय। इसका परिणाम यह हुआ कि व्यापक स्तर पर सांप्रदायिक उपनिषदों की रचना प्रारम्भ हो गई। शैव, शाक्त तथा वैष्णव उपनिषदों का युग शुरू हुआ और इन सबका दोहरा उद्देश्य था, एक ओर तो ये पौराणिक विचारधारा को भी जीवित रख रहे थे और दूसरी ओर उपनिषदीय परम्परा को अग्रसर कर रहे थे। शैव उपनिषदों में यह घोषित किया गया कि शिव ही परम ब्रह्म है; शक्ति ही परम तत्त्व है ऐसा शाक्तों ने घोषित किया और वैष्णव उपनिषदों में विष्णु को परम ब्रह्म घोषित किया गया। यह प्रक्रिया यहाँ ही समाप्त नहीं हुई। जितने विशेषण उपनिषदों एवं वेदान्त में ब्रह्म के लिए प्रयुक्त होते थे वे सभी शिव तथा विष्णु के लिए भी प्रयुक्त होने लगे। जिस प्रकार अन्य उपनिषदों में ब्रह्म या परमात्मा को सर्वशक्तिमान् माना जाता था, इन उपनिषदों में भी शिव तथा विष्णु को सर्वोपरि माना जाने लगा। श्वेताश्वतरोपनिषद् इस

प्रक्रिया में सर्वप्रथम प्रयास प्रतीत होता है क्योंकि इस उपनिषद् में सबसे पहली बार परम ब्रह्म को रुद्र-शिव के साथ जोड़ा गया है। पाल ड्युसन[1] भी इस मत की पुष्टि करते हैं जब वे ये कहते हैं कि परवर्ती उपनिषदों ने श्वेताश्वतरोपनिषद् के देववाद को ग्रहण किया और उसका विकास किया। इन परवर्ती उपनिषदों में उपनिषदीय आत्म-सिद्धान्त तथा शिव या विष्णु की पूजा पद्धति को मिलाकर आम जनता में प्रचलित धार्मिक विचारधारा से समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है।

इस उपनिषद् में परब्रह्म के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के नामों का प्रयोग किया गया है : हर (१.१०), रुद्र (२.१७;३.२;३.४;४.१२;४.२१;४.२२), शिव (३.१४;४.१०), भगवान् (३.१४), अग्नि, आदित्य, वायु (४.२) आदि। यह बात तो बिल्कुल निश्चित ही है कि सबसे पहले एक परमतत्त्व की कल्पना की गई थी और जब यह भावना अपनी पराकाष्ठा की स्थिति में पहुँच गई तब भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्य देवताओं की कल्पना की जाने लगी। यहाँ यह बात महत्त्वपूर्ण नहीं है कि पहले परम देवता की कल्पना की गई या पहले भिन्न-भिन्न देवताओं का प्रादुर्भाव हुआ। जहाँ तक रुद्र देवता का प्रश्न है यह उन सभी देवताओं से प्राचीन मालूम पड़ते हैं जिनका स्वरूप हमें पहली बार ऋग्वेद में दिखलाई पड़ता है। इस उपनिषद् में परमात्मा को प्राप्त करने के लिए भक्ति-मार्ग का निर्देश किया गया है और यह भी इसके सांप्रदायिक होने में एक सहायक तत्त्व प्रतीत होता है। यह बात भी सही है कि यह उपनिषद् एक विलक्षण प्रकार का उपनिषद् है। क्योंकि यह परमात्मा को एक **वैयक्तिक देवता** के रूप में प्रतिपादित करता है और उसकी प्राप्ति के लिए भक्ति-मार्ग का आदेश भी देता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि भक्ति शब्द इस उपनिषद् में परवर्ती काल में जोड़ा गया है। इस उपनिषद् में सांख्य विचारधारा के तत्त्व उपलब्ध होने के कारण भी इसको सांप्रदायिक माना गया है। वास्तव में यही एक ऐसा उपनिषद् है जिसका वेदान्त की अपेक्षा वैदिक साहित्य से अधिक गहरा संबंध है। निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि क्योंकि यह उपनिषद् रुद्र-शिव की उपासना से प्रमुखतया संबंधित है अतः इसका एक संप्रदाय विशेष से जुड़ना बहुत ही स्वाभाविक है और उस रूप में यह निश्चित ही सांप्रदायिक है।

---

1. Paul Deussen, *The Philosophy of the Upaniṣads*, p. 178, New York, 1966.

(The theism of the Śvetāśvatara is adopted and further developed by the later Upaniṣads, which endeavour to establish a connection with the popular religions by attaching the ātman of the Upaniṣad doctrine to cult of Śiva (the beginning of which we may observe in the Śvet. Up) or of Viṣṇu.

८. श्वेताश्वतरोपनिषद् में वैयक्तिक देव की स्थापना—जैसा पहले ही बतलाया जा चुका है इस उपनिषद् में ईश्वर को एक व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया है। यहाँ यह बताया है कि ईश्वर ही सृष्टि का कर्ता तथा शासक है। वास्तव में परमात्मा ही सर्वोपरि है। परन्तु सृष्टि एवं स्रष्टा के रूप में उसकी एक व्यावहारिक सत्ता भी होती है। उसकी सृष्टि का नाम माया है। परन्तु वास्तव में यह भी मात्र भ्रम ही है। स्वयं स्रष्टा मायावी है और उसका वह रूप भी व्यावहारिक ही है। वेदान्त के अनुसार उस माया के सत्त्व, रजस् तथा तमस् नामक तीन गुण हैं। इसलिए ही माया को इस उपनिषद् में त्रिगुणमयी कहा गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में ईश्वर तथा परमात्मा की पृथक्-पृथक् रूप में कल्पना की गई है। ईश्वर का वैयक्तिक रूप ही रुद्र-शिव में समाया हुआ है या दूसरे शब्दों में रुद्र-शिव को यहां पर **सगुणपरक व्यक्ति विशेष** के रूप में प्रतिपादित किया गया है। उस रुद्र-शिव को प्राप्त करने के लिए इस उपनिषद् में भक्ति-मार्ग का निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त इसके लिए इस उपनिषद् में नाना प्रकार के नामों का प्रयोग भी किया गया है।[1] यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार की भक्ति का संकेत यहाँ दिया गया है वह अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही है। भक्ति का जो रूप भक्तिसूत्रों, गीता तथा पौराणिक साहित्य में मिलता है यहाँ भक्ति का वह रूप नहीं है।

९. श्वेताश्वतरोपनिषद् में त्रिविध ब्रह्म की कल्पना—जैसा पहले ही बतलाया जा चुका है कि समग्र उपनिषद् साहित्य में श्वेताश्वतरोपनिषद् का अपना एक विलक्षण स्थान है। इसकी विलक्षणता के कारणों की चर्चा करना यहाँ अप्रासंगिक होगा। इसके महत्त्व का सबसे बड़ा कारण यह है कि इसमें सभी प्रमुख दार्शनिक विचार धाराओं के अंकुर मिलते हैं। संभवतः इसी कारण से ही मैक्समूलर[2] ने बाध्य होकर यह स्वीकार किया है कि यह उपनिषद् अतीव कठिन उपनिषदों में से एक है। ब्रह्म, आत्मा एवं परमात्मचिन्तन ही उपनिषदों का सदैव प्रतिपाद्य रहा है। उसी परम्परा में इस उपनिषद् में भी ब्रह्म पर विचार किया गया है। परन्तु इस उपनिषद् का ब्रह्म एक विशेष प्रकार की विलक्षणता लिए है। इस उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म तीन प्रकार का है : भोक्ता, भोग्य तथा प्रेरिता (**एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्। भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्** १.१२)। वास्तव में इस उपनिषद् का सारा प्रतिपाद्य भोक्ता, भोग्य तथा प्रेरिता की इस त्रिपुटी के आस-पास ही चक्कर लगाता है। भोक्ता जीवात्मा है; भोग्य प्रपञ्च है और प्रेरयिता स्वयं परमात्मा ही है। भोक्ता का विस्तार से वर्णन किया गया है। वह इस संसाररूपी वृक्ष के फल को खाता है

१. विभिन्न प्रकार के वैयक्तिक, वर्णनात्मक तथा दार्शनिक नामों के लिए देखिए लेखक की अन्य पुस्तक : "Studies in the Sectarian Upaniṣads," p. 39, Delhi, 1972.

२. सेक्रिड बुक्स ऑफ् दि ईस्ट, वाल्यूम १५, भाग २, पृ. ३२. (इण्ट्रोडक्सन)।

और परमात्मा उसका मात्र दर्शन करता है। इस सारे प्रपञ्च का निरूपण पहले अध्याय में चक्र तथा नदी के दो प्रतीकों के माध्यम से किया गया है। ऐसा कौन सा कारण है जिसकी वजह से भोक्ता प्रपञ्च की ओर आकृष्ट होता है? इसका उत्तर स्वयं उननिषद् देता है: **अजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता**। एक अजा प्रकृति ही जीवात्मा को भोग्य (प्रपञ्च) में संयुक्त करवाती है। संसार के नाना प्रकार के विषयोपभोग जीवात्मा के मन को हठात् ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। अजा प्रकृति तो मात्र एक प्रतीक है। जैसे भोले-भाले ग्रामीण का मन शहर में आकर शहर की चकाचौंध से आकृष्ट होने लगता है, लगभग वही स्थिति इस संसार में भोक्ता (जीवात्मा) की है। संसार में प्रकृति नटी ने मनुष्य के सामने इतने अधिक आयाम खोल रखे हैं कि वह न चाहता हुआ भी उनमें फँस जाता है। स्वयं परमात्मा जीवात्मा की प्रेरक शक्ति है। जीवात्मा के लिए यह असंभव है कि वह इस शक्ति का किसी भी प्रकार से प्रतिरोध कर सके। परमात्मा ही जीवात्मा को संसार रूपी वृक्ष का फल खाने के लिए प्रेरित करता है। इस उपनिषद् में भोक्ता, भोग्य तथा प्रेरक का समन्वित रूप ही ब्रह्म है।

गलत

१०. श्वेताश्वतरोपनिषद् तथा शैव दर्शन—विद्वानों का विचार है कि इस उपनिषद् में शैव दर्शन का प्रारंभिक रूप दिखाई पड़ता है। इस विषय में एक बात तो निर्विवाद रूप से सत्य है कि आर्यों के भारत में आने से पूर्व यहाँ के मूल निवासियों का कोई न कोई आराध्य देव रहा होगा। यह एक अजीब संयोग की बात है कि उनके आराध्य देव तथा वैदिक देव रुद्र के लक्षण एक जैसे थे। वेद में रुद्र को एक भयानक देव के रूप में चित्रित किया गया है। ऋग्वेद में रुद्र को झंझावात का प्रतीक माना गया है। उनका वर्ण प्रायः बभ्रु बताया गया है। परन्तु कभी-कभी वे श्वेत और सुनहले वर्ण के भी कहे गये हैं। इसके अतिरिक्त रुद्र को भिषजों में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है जिसके पास ठण्डी और रोगनाशक ओषधियाँ हैं। वे मरुतों के पिता भी हैं। रुद्र का विशेष अस्त्र उनका धनुष है और इस धनुष से जो बाण वे छोड़ते हैं वह मनुष्य तथा पशु दोनों का संहार करता है।[1] स्वयं इस उपनिषद् में रुद्र से यह प्रार्थना की गई है कि आप हमारे पुत्र, प्रपौत्र, पशु तथा योद्धाओं की हिंसा न करें (४.२२)। जहाँ तक रुद्र के समग्र व्यक्तित्व का प्रश्न है रुद्र के स्वरूप की कोई भी व्याख्या संतोषजनक नहीं हो सकती जब तक इन समस्त पहलुओं का सम्यक् प्रकार से समाधान न किया जाए। यह बात तो निश्चित है कि श्वेताश्वतरोपनिषद् रुद्र के उस उग्र रूप से पूर्णतया परिचित है। इसके अतिरिक्त इस उपनिषद् में उसके लिए और भी कई नामों का प्रयोग किया गया है: हर (१.१०), महर्षि (३.४;४.१२), शिव (३.११;५.१४), ईशान (३.१२;३.१५; ४.११), भगवान (५.४)। इन सभी नामों में ईशान बहुत ही महत्त्वपूर्ण नाम है। परवर्ती शैवोपनिषदों में शिव के ईशान के अतिरिक्त चार नाम और उपलब्ध होते

---

१. ऋग्वेद २.३३.१०; ७.४६.१।

है। वे हैं : सद्योजात, वामदेव, तत्पुरुष और अघोर। संभवतः परवर्ती काल में ये शिव की पूजा-पद्धति से संबंधित भिन्न-भिन्न पाँच संप्रदाय रहे हों। शैवोपनिषदों के अन्तर्गत पंचब्रह्मोपनिषद् में इन सभी का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है।[1] इसके अतिरिक्त लिंग पुराण में भी इनका विस्तृत विवेचन मिलता है।[2] कुछ विद्वानों का विचार है कि जब शैव धर्म पर तन्त्र का प्रभाव पड़ा तो शैवमत के ये पाँच तान्त्रिक सम्प्रदाय बन गए।

प्राचीन उपनिषदों में श्वेताश्वतर ही एक ऐसा उपनिषद् है जिससे उस काल में रुद्र की उपासना के सम्बन्ध में हमें कुछ जानकारी मिलती है। रुद्र का संकेत अन्य उपनिषदों में भी मिलता है। मैत्रायणी उपनिषद् में रुद्र का सम्बन्ध तमोगुण से तथा विष्णु का संबंध रजोगुण से स्थापित किया गया है।[3] संभवतः ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल से चली आ रही रुद्र के प्रति विरोध-भावना का यह हल्का सा संकेत है। प्रश्नोपनिषद्[4] में रुद्र को "परिरक्षिता" बतलाया गया है। मैत्रायणी उपनिषद्[5] में एक अन्य स्थल पर रुद्र और आत्मा को एक ही माना गया है और "शंभु" तथा "शक्तिदाता" का पहली बार रुद्र की उपाधि के रूप में प्रयोग हुआ है। शिव की यह शंभु नामक उपाधि ही परवर्ती काल में अत्यधिक प्रचलित हुई। मैत्रायणी उपनिषद्[6] में ही एक अन्य स्थल पर प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र में 'भर्ग' का संकेत रुद्र की ओर माना गया है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में इन सभी प्रसंगों के अतिरिक्त शैव मत के पाशुपत सम्प्रदाय के संकेत भी उपलब्ध होते हैं। इस उपनिषद् में स्थान-स्थान पर यह कहा गया है कि साधक परमात्मा (रुद्र-शिव) का सम्यक् अवलोकन करके मृत्यु के पाशों से मुक्त हो जाता है। एक स्थान पर यह भी कहा गया है कि साधक परमात्मा के स्वरूप को जानकर मृत्यु को भी पार कर जाता है। इस उपनिषद् में शिव का एक नाम "महेश्वर" भी मिलता है जो वास्तव में पाशुपत सम्प्रदाय का ही दूसरा नाम

---

१. पंचब्रह्मोपनिषद्, ५-१८।

२. (i) देखिए लिंग पुराण, अध्याय (११) में सद्योजात का वर्णन, अध्याय (११) में वामदेव का, अध्याय (१३) में तत्पुरुष का, अध्याय (१४ और १५) में अघोर का तथा अध्याय (१६) में ईशान का वर्णन।
   (ii) इसके अतिरिक्त सद्योजात, वामदेव, तत्पुरुष, अघोर और ईशान के विस्तृत विवेचन के लिए लेखक की अन्य पुस्तक, "Studies in the Sectarian Upaniṣads", pp 43-46.

३. मैत्रायणी उपनिषद्, ४.५।

४. प्रश्नोपनिषद् २.६।

५. मैत्रायणी उपनिषद् ५.८।

६. मैत्रायणी उपनिषद् ५.७।

है। यहाँ यह विचारणीय है कि इस उपनिषद् में पशु का उल्लेख तो कई बार हुआ है परन्तु पशुपति का नाम नहीं मिलता है। संभवतः उसी के स्थान में महेश्वर शब्द का प्रयोग किया गया है। पाशुपत सम्प्रदाय के विषय में प्रामाणिक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। संभवतः पाशुपत सम्प्रदाय का उदय लगभग उसी समय हुआ होगा जब वैष्णवों में पांचरात्र-सम्प्रदाय का उदय हुआ था। महाभारत में इस सम्प्रदाय के संस्थापक के विषय में कुछ नहीं कहा गया है परन्तु बाद में पुराणों में यह चर्चा आई है कि एक 'लकुलिन' अथवा 'नकुलिन' ने लोगों को 'माहेश्वर' अथवा 'पाशुपत' योग सिखाया था। सर्वदर्शनसंग्रहकार ने भी "लकुलिन" को पाशुपत सम्प्रदाय का संस्थापक माना है। जिस प्रकार के संकेत श्वेताश्वतरोपनिषद् में मिलते हैं उनको देखकर यह कहा जा सकता है कि इस उपनिषद् पर पाशुपत सम्प्रदाय का कोई गहरा प्रभाव नहीं है। परन्तु यह उपनिषद् उस सम्प्रदाय के एक पारिभाषिक शब्द से सुतरां परिचित है।। इन सभी प्रसंगों के आधार पर यह स्पष्ट ही है कि यह उपनिषद् शैवोपासना की प्रारंभिक स्थिति से न केवल भली भाँति परिचित ही है अपितु इसने उसके विकास में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

११. श्वेताश्वतरोपनिषद् तथा माया—उपनिषदों में माया को भिन्न-भिन्न नामों से व्यवहृत किया गया है। उन नामों में अविद्या भी एक नाम है। श्वेताश्वतरोपनिषद् की माया तथा अन्य उपनिषदों एवं वेदान्त की माया में एक स्पष्ट अन्तर परिलक्षित होता है। सभी प्रमुख उपनिषदों तथा वेदान्त में माया परमात्मा के स्वरूप को जानने में बाधक है। परन्तु यहाँ वह परमात्म-ज्ञान में बाधक नहीं है अपितु साधक है। यहाँ तो उसको परमात्मा का अपना रूप ही माना गया है।। इस उपनिषद् में तो माया तथा मायावी में अनन्य संबंध ही स्थापित कर दिया गया है। इसी माया का ही एक दूसरा नाम **देवात्मशक्ति** है। वास्तव में यह 'देवात्मशक्ति' ही सारे संसार का मात्र कारण है। इस उपनिषद् में जितने भी अन्य संभावित सृष्टि के कारण हो सकते थे उन सभी की भली भाँति विवेचना करने के बाद यह प्रतिपादित किया गया कि **देवात्मशक्ति** ही सृष्टि का मात्र एक कारण हो सकता है। यह शब्द अपने आप में अतीव महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वैदिक देववाद का "**देव**" उपनिषदों की "'**आत्मा**' तथा विज्ञान की "**शक्ति**"—इन तीनों का ही ग्रहण इसमें हुआ है। इस उपनिषद् में पहली बार माया को परमात्मा की सक्रिय शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। प्राचीन उपनिषदों में जिस प्रकार माया शब्द का प्रयोग हुआ है वह माया का सैद्धान्तिक विवेचन प्रतीत होता है। **शंकराचार्य** ने अपने शांकर भाष्य के अन्तर्गत इस शब्द की अनेक स्थलों पर व्याख्या की है। कुल मिलाकर उपनिषद् भाष्य में लगभग पचीस बार माया शब्द का प्रयोग हुआ है। शंकराचार्य के मत के अनुसार अविद्या का ही दूसरा नाम माया है। वास्तव में ससार और ब्रह्म की द्वैत बुद्धि का कारण अविद्या ही है। इस अविद्या के कारण ही लोगों में नाना प्रकार की तृष्णाएँ तथा दुःखादि उत्पन्न होते हैं। अविद्या के

वशीभूत होकर ही मनुष्य अपने इस शरीर को आत्मा समझ बैठता है।

इस उपनिषद् में माया का एक दूसरा नाम प्रकृति है। यह प्रकृति उस परमात्मा से भिन्न नहीं है। वास्तव में वह परमात्मा अपनी उस प्रकृति से ही सृष्टि की उत्पत्ति करता है। इस प्रकृति को त्रिगुणमयी बतलाया गया है। तीन गुण हैं : सत्त्व, रजस् तथा तमस्। यहाँ प्रकृति के लिए **ईशनी** शब्द का प्रयोग भी हुआ है। यह कहा गया है कि वह मायावी परमेश्वर अपनी मायारूपिणी शक्तियों द्वारा संसार का नियमन करता है। एक अन्य स्थल पर इन सभी अभिधानों में से किसी का भी प्रयोग नहीं किया गया है। परन्तु स्पष्ट रूप से **शक्तियोग** का प्रयोग किया गया है। यह शक्तियोग वास्तव में माया या परमात्मा की प्रकृति ही है। परमात्मा अपनी शक्ति के द्वारा नाना प्रकार के वर्णों का निर्माण करता है। चौथे अध्याय के पाँचवें मन्त्र में तो स्पष्ट रूप से अजा प्रकृति तथा उसके लोहित, शुक्ल तथा कृष्ण तीन वर्णों का उल्लेख हुआ है। सारा संसार उस परमात्मा की माया में बँधा हुआ सा प्रतीत होता है। उसी के अवयवभूत (कार्यकारणसंघात) से ही यह सारा जगत् व्याप्त है। माया को परमात्मा की प्रकृति समझना चाहिए और उस मायावी को महेश्वर जानना चाहिए ऐसा उपनिषद् का आदेश है। मायावी उस ऐन्द्रजालिक के समान है जो अपने जादू के माध्यम से नाना प्रकार की वस्तुओं को उत्पन्न करता है और सभी की सत्ता मिथ्या होती है। उसी प्रकार वह परमात्मा भी संसार की उत्पत्ति करता है जो अपने आप में मिथ्या है। एक अन्य स्थल पर परमात्मा के जाल का उल्लेख किया गया है। यह जाल परमात्मा की माया ही है। वह जाल को नाना प्रकार से परिवर्तित करता रहता है और जब उसका मन चाहता है तब उसका संहार भी कर लेता है। परमात्मा की माया को इस उपनिषद् में परा शक्ति भी कहा गया है।

१२. श्वेताश्वतरोपनिषद् में भक्ति—आर. जी. भण्डारकर ने 'वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत' नामक अपने ग्रन्थ में श्वेताश्वतरोपनिषद् के विषय में कहा है कि यह उपनिषद् भक्ति संप्रदाय के द्वार पर अवस्थित है एवं अपनी प्रेमपूर्ण अभ्यर्थना रुद्र-शिव पर अर्पित करता है वासुदेव-कृष्ण पर नहीं, जैसा कि आगे चलकर जब भक्ति अपने पूरे प्रवाह में थी, भगवद्गीता ने किया। श्वेताश्वतरोपनिषद् के विषय में आर. जी. भण्डारकर की यह उक्ति अतीव सारगर्भित है। इस उपनिषद् में जो स्थान भक्ति का है उसका सम्यक् निरूपण इस उक्ति द्वारा कर दिया गया है। जैसा पहले भी संकेत दिया जा चुका है कि इस उपनिषद् के अन्त में भक्ति के विषय में एक हल्का-सा उल्लेख किया गया है। भक्ति के इस उल्लेख का संदर्भ निश्चित ही रुद्र-शिव नामक देव ही है। यह उपनिषद् प्रतिपादित करता है कि रुद्र-शिव की प्राप्ति के लिए ज्ञान-मार्ग के अतिरिक्त भक्ति-मार्ग भी अनिवार्य है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि मोक्ष का मार्ग परमात्मा का ध्यान है। यह मार्ग ही सामान्य रूप से उपनिषद्-दर्शन की विशेषता है। इस उपनिषद् में पहली

बार इतने व्यापक स्तर पर ईश्वरवाद की स्थापना की गई है और वह ईश्वर भी यहाँ व्यक्तित्व से विभूषित है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि ऐसे ईश्वर की प्राप्ति के लिए भक्ति-मार्ग का आदेश दिया जाए। भक्ति का जो रूप इस उपनिषद् में मिलता है वह अधिक विकसित नहीं है। यहाँ पर सामान्य रूप से ही भक्ति का संकेत किया गया है। इस उपनिषद् में परमात्मा (रुद्र-शिव) को जानने पर विशेष बल दिया गया है और यह कहा गया है कि उसके जानने से ही संसार से मुक्ति मिल सकती है। भक्ति के इस उल्लेख से तात्पर्य है कि रुद्र-शिवात्मक उस परमात्मा को भक्ति-भावना से युक्त होकर जानना ही साधक के लिए श्रेयस्कर है। उपनिषदों में सामान्यतया ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है परन्तु यहाँ ज्ञान का प्रतिपादन भक्ति से युक्त है। अन्य उपनिषदों तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् में केवल यही अन्तर है। यह उपनिषद् ज्ञान एवं भक्ति के समन्वित रूप पर बल देता है। परन्तु यह निश्चित रूप से गीता में प्रतिपादित कर्म-भक्ति-ज्ञान के समन्वित रूप से नितान्त भिन्न है। यहाँ भक्ति विकसित होने की पूर्व स्थिति में विद्यमान है जब कि गीता में इसका विकसित स्वरूप दिखाई पड़ता है। भक्ति का यह रूप निश्चित ही भक्ति सूत्रों में उपलब्ध होने वाले भक्ति के स्वरूप से भी नितरां भिन्न है।

१३. श्वेताश्वतरोपनिषद् में प्रतीक योजना—उपनिषदों में एक रोचक स्थिति यह है कि यहाँ कठिन से कठिन विषय को भी अतीव सरल ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। वैसे सामान्यतया देखें तो इनमें अतीव शुष्क विषयों पर विचार किया गया है किन्तु बीच-बीच में या तो रोचक आख्यानों का समावेश किया गया है या सुन्दर प्रतीकों का प्रयोग। प्रतीक योजना की दृष्टि से श्वेताश्वतरोपनिषद् अतीव महत्त्वपूर्ण उपनिषद् है। इस उपनिषद् की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें उन प्रतीकों का प्रयोग किया गया है जिनको सामान्य व्यक्ति भी बड़ी सरलता से समझ सकता है। ये प्रतीक ऐसे हैं जो आम जनता के जीवन से सीधे-सीधे लिए गए हैं और उनका जीवन में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रतीक योजना में चक्र का प्रतीक सबसे महत्त्वपूर्ण है और वह सारे ही उपनिषद् में व्याप्त है। उस चक्र का वर्णन पहले अध्याय में किया गया है। एक अन्य स्थल पर ब्रह्म-चक्र का भी वर्णन मिलता है। यदि चक्र की भावना पर व्यापक रूप से विचार करें तो सारी सृष्टि की तुलना भी एक चक्र से की गई है। चक्र के समान यह सृष्टि उस परमात्मा से उत्पन्न होती है और अन्त में उसी में जाकर लीन हो जाती है। यह चक्र की भावना का ही विस्तृत रूप है। यही प्रक्रिया सभी जीवों पर भी लागू होती है। सभी जीव परमात्मा से उत्पन्न होते हैं और उसी में जाकर लीन हो जाते हैं। इसी प्रकार इस उपनिषद् में जाल शब्द का भी प्रयोग मिलता है। यह जाल भी अपने आप में चक्र का ही दूसरा रूप है। परमात्मा एक ही जाल को नानारूपों में परिणत कर देता है और अपनी इच्छानुसार इसका संहार भी कर लेता है। पाश भी चक्र का एक भिन्न रूप है। परमात्मा द्यावा पृथिवी को उत्पन्न करता है। ये द्यावा और पृथिवी भी उस चक्र-प्रतीक के दो भाग

हैं। इसी प्रकार पहले अध्याय में नदी का प्रयोग प्रतीकात्मक रूप में हुआ है। यह प्रयोग अपने आप में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और संकेत रूप में सारे प्रपञ्च को अभिव्यक्त करता है। जीवात्मा तथा परमात्मा के भोक्तृत्व तथा अभोक्तृत्वभाव को दो पक्षियों के प्रतीकों के माध्यम से और संसार को एक वृक्ष के माध्यम से व्यक्त किया गया है। इन सब प्रतीकों के अतिरिक्त इस उपनिषद् में ऐसे अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है जिनका संबंध साधारण आदमी के जीवन से है। वे शब्द हैं तिल, दही, काष्ठ, स्रोत, वह्नि, बालुका, नीहार, धूम, सूर्य, वायु, जुगनु, विद्युत्, स्फटिक, चन्द्रमा, दीपक, ओषधि, घृत, मण्ड (माँड) और मकड़ी। इन शब्दों का प्रयोग किसी न किसी रूपक में हुआ है। उन सभी रूपकों की विशेषता यह है कि वे इन साधारण शब्दों के माध्यम से अत्यधिक गंभीर एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं। इनकी दूसरी विशेषता यह है कि इन शब्दों का प्रयोग विद्वान् लोगों के लिए इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना साधारण लोगों के लिए। संभवतः उपनिषत्कार ने जान बूझकर ऐसी शब्दावली को चुना है जो सर्वजनसाधारण को भी समझ में आ सके। प्रतीक योजना के साथ-साथ मूर्त तथा अमूर्त भावों को भी इस उपनिषद् में बड़ी सफलता से व्यक्त किया गया है। मूर्त तथा अमूर्त भाव की अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम उदाहरण वह है जहाँ यह बतलाया गया है कि लोग आकाश को चर्म के समान अपने चारों ओर लपेट लेंगे। यहाँ चर्म मूर्त है और आकाश अमूर्त है। इस मूर्त तथा अमूर्त योजना का प्रयोजन यह है कि आकाश को चर्म के समान लपेटना अपने आप में एक निरर्थक कार्य है और असंभव भी है; जिस प्रकार यह निरर्थक और असंभव है उसी प्रकार उस देव (परमात्मा) को जाने बिना दुःखों का अन्त असंभव है अर्थात् उस देव को जाने बिना दुःखों का अन्त नहीं होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि यहाँ मूर्त तथा अमूर्त प्रतीकों के माध्यम से चर्म तथा आकाश को किस सुन्दरता से अभिव्यक्त किया गया है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि इस उपनिषद् में प्रतीक योजना तथा मूर्त और अमूर्त भावों की अभिव्यक्ति का अलौकिक मिश्रण उपलब्ध होता है।

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

श्वेताश्वतरोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं
करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु ।
मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

वह परमात्मा हम [आचार्य और शिष्य] दोनों की साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनों का साथ-साथ पालन करें। हम दोनों का साथ-साथ विद्यासम्बन्धी सामर्थ्य प्राप्त करें। हम दोनों का पढ़ा हुआ तेजस्वी हो। हम द्वेष न करें। त्रिविध ताप की शान्ति हो।

प्रथमोऽध्यायः

सम्बन्धभाष्य

श्वेताश्वतरोपनिषद इदं विवरणमल्पग्रन्थं ब्रह्मजिज्ञासूनां सुखावबोधायारभ्यते। चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मस्वरूपोऽप्यात्मा स्वाश्रयया स्वविषययाविद्यया स्वानुभवगम्यया साभासया प्रतिबद्धस्वाभाविकाशेषपुरुषार्थः प्राप्ताशेषानर्थोऽविद्यापरिकल्पितैरेव साधनैरिष्टप्राप्तिं चापुरुषार्थं पुरुषार्थं मन्यमानो मोक्षार्थमलभमानो मकरादिभिरिव रागादिभिरितस्ततः समाकृष्यमाणः सुरनरतिर्यगादिप्रभेदभेदितनानायोनिषु संचरन्केनापि सुकृतकर्मणा ब्राह्मणाद्यधिकारिशरीरं प्राप्त ईश्वरार्थकर्मानुष्ठानेनापगतरागादिमलोऽनित्यत्वादिदर्शनेनोत्पन्नेहामुत्रार्थभोगविराग उपेत्याचार्यमाचार्यद्वारेण वेदान्तश्रवणादिनाहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मात्मतत्त्वमवगम्य निवृत्ताज्ञानतत्कार्यो वीतशोको भवति। अविद्यानिवृत्तिलक्षणस्य मोक्षस्य विद्याधीनत्वाद्युज्यते च तदर्थोपनिषदारम्भः। ... ...

... ... एवं श्रुतिस्मृतीतिहासादिषु ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वावगमाद्युज्यत एवोपनिषदारम्भः।

किंचोपनिषत्समाख्ययैव ज्ञानस्यैव परमपुरुषार्थसाधनत्वमवगम्यते। तथा हि उपनिषदित्युपनिपूर्वस्य सदेर्विशरणगत्यवसादनार्थस्य रूपमाचक्षते। उपनिषच्छब्देन व्याचिख्यासितग्रन्थप्रतिपाद्यवस्तुविषया विद्योच्यते। तादर्थ्याद्ग्रन्थोऽप्युपनिषद्। ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णाः सन्त उपनिषच्छब्दितविद्यां तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलन्ति तेषामविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद्विनाशात्परब्रह्मगमयितृत्वाद्गर्भजन्मजरामरणाद्युपद्रवावसादयितृत्वादुपनिषत्समाख्ययाप्यन्यकृतात्परं श्रेय इति ब्रह्मविद्योपनिषदुच्यते।

ननु भवेदेवमुपनिषदारम्भो यदि विज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वं भवेत्। न चैतदस्ति। कर्मणामपि मोक्षसाधनत्वावगमात्— ... ...

... ... एवं श्रुतिस्मृतिविरोधान्न कर्मसाधनममृतत्वं न्यायविरोधाच्च। कर्मसाधनत्वे मोक्षस्य चतुर्विधक्रियान्तर्भावादनित्यत्वं स्यात्। यत्कृतकं तदनित्यमिति कर्मसाध्यस्य नित्यत्वादर्शनात्। नित्यश्च मोक्षः सर्ववादिभिरभ्युपगम्यते। तथा च

श्रुतिश्चातुर्मास्यप्रकरणे—प्रजामनु प्रजायसे तदु ते मर्त्यामृतमिति । किंच, सुकृतमिति सुकृतस्याक्षयत्वमुच्यते । सुकृतशब्दश्च कर्मणि ।

नन्वेवं तर्हि कर्मणां देवादिप्राप्तिहेतुत्वेन बन्धहेतुत्वमेव ।

सत्यम्, स्वतो बन्धहेतुत्वमेव । तथा च श्रुतिः—"कर्मणा पितृलोकः" (बृ० उ० १ । ५ । १६) । "सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति" (छा० उ० २ । २३ । १) । "इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः । नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति" (मु० उ० १ । २ । १०) । ... ...

यदा पुनः फलनिरपेक्षमीश्वरार्थं कर्मानुतिष्ठन्ति तदा मोक्षसाधनज्ञानसाधनान्तःकरणशुद्धिसाधनपारम्पर्येण मोक्षसाधनं भवति । ... ...

ननु "विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह" (ईशा० उ० ११) । "तपो विद्या च विप्रस्य नैःश्रेयसकरं परम् ।" इत्यादिना कर्मणामप्यमृतत्वप्राप्तिहेतुत्वमवगम्यते ।

सत्यम्, अवगम्यत एव तदपेक्षितशुद्धिद्वारेण न च साक्षात् । तथा हि—"विद्यां चाविद्यां च" (ईशा० उ० ११) । "तपो विद्या च विप्रस्य नैःश्रेयसकरं परम् ।" इत्यादिना ज्ञानकर्मणोर्निःश्रेयसहेतुत्वमभिधाय कथमनयोस्तद्धेतुत्वमित्याकाङ्क्षायां "तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययामृतमश्नुते ।" "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते" (ईशा० उ० ११) इति वाक्यशेषेण कर्मणः कल्मषक्षयहेतुत्वं विद्याया अमृतप्राप्तिहेतुत्वं प्रदर्शितम् । यत्र तु शुद्धयाद्यवान्तरकार्यानुपदेशस्तत्रापि शाखान्तरोपसंहारन्यायेनोपसंहारः कर्तव्यः ।

ननु "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" (ईशा० उ० २) इति यावज्जीवकर्मानुष्ठाननियमे सति कथं विद्याया मोक्षसाधनत्वम् ?

उच्यते—कर्मण्यधिकृतस्यायं नियमो नानधिकृतस्यानियोज्यस्य ब्रह्मवादिनः । तथा च विदुषः कर्मानधिकारं दर्शयति श्रुतिः—"नैतद्विद्वानृषिणा विधेयो न रुध्यते विधिना शब्दचारः ।" "एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवाञ्चक्रिरे ।" " एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" (बृ० उ० ३ । ५ । १) "एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुऋर्षयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे स ब्राह्मणः केन स्याद्येन स्यात्तेनेदृश एवेति ।" ... ...

विदुषः सर्वकर्मत्यागेनात्मपालनमुक्त्वा नियोज्ये ब्रह्मविदि त्यागकर्तव्यतोक्तिरप्ययुक्तैवोक्तेति मत्वा चकितः सन्वेदो विदुषस्त्यागकर्तव्यतामपि नोक्तवान् । कुर्वन्नेवेह लोके विद्यमानं पुण्यपापादिकं कर्म यावज्जीवं जिजीविषेत् । न पुण्यादिबन्धभयात्पुण्यादिकं त्यक्त्वा तूष्णीमवतिष्ठेत । एवं तावत्कर्माणि कुर्वत्यपि विदुषि त्वयीतो यावज्जीवानुष्ठानादन्यथाभावः स्वरूपात्प्रच्युतिः पुण्यादिनिमित्तसंसारान्वयो नास्ति । अथवेतः कर्मानुष्ठानोत्तरकालभाव्यन्यथाभावः संसारान्वयो नास्ति । यस्मात्त्वयि विन्यस्तं न कर्म लिप्यते । तथा च श्रुत्यन्तरम्—"न लिप्यते कर्मणा

पापकेन" (बृ० उ० ४।४।२३)।"एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते" (छा० उ० ४। १४।३)। "नैनं कृताकृते तपतः" (ब्र० उ० ४। ४। २२)। "एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" (छा० उ० ५। २४। ३)। ... ...

तथा च सूत्रकारः—"पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः" (ब्र० सू० ३। ४। १) इति ज्ञानस्यैव परमपुरुषार्थहेतुत्वमभिधाय "शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथा···" (ब्र० सू० ३। ४। २) इत्यादिना कर्मापेक्षितकर्तृप्रतिपादकत्वेन विद्यायाः कर्मशेषत्वमाशङ्क्य "अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्य···" (ब्र० सू० ३। ४। ८) इत्यादिना कर्तृत्वादिसंसारधर्मरहितापहतपाप्मादिरूपब्रह्मोपदेशात्तद्विज्ञानपूर्विकां तु कर्माधिकारसिद्धिं त्वाशासानस्य कर्माधिकारहेतोः क्रियाकारकफललक्षणस्य समस्तस्य प्रपञ्चस्याविद्याकृतस्य विद्यासामर्थ्यात्स्वरूपोपमर्ददर्शनात्कर्माधिकारोच्छित्तिप्रसङ्गाद्भिन्नप्रकरणत्वाद्भिन्नकार्यत्वाच्च परस्परविकल्पः समुच्चयोऽङ्गाङ्गिभावो वा नास्तीति प्रतिपाद्य "अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा" (ब्र० सू० ३। ४। २५) इति विद्याया एव परमपुरुषार्थहेतुत्वादग्नीन्धनाद्याश्रमकर्माणि विद्यायाः स्वार्थसिद्धौ नापेक्षितव्यानीति पूर्वोक्तस्याधिकरणस्य फलमुपसंहृत्यात्यन्तमेवानपेक्षायां प्राप्तायां "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" (ब्र० सू० ३। ४। २६) इति नात्यन्तमनपेक्षा। उत्पन्ना हि विद्या फलसिद्धिं प्रति न किञ्चिदन्यदपेक्षते। उत्पत्तिं प्रत्यपेक्षत एव। "विविदिषन्ति यज्ञेन" इति श्रुतेरिति विविदिषासाधनत्वेन कर्मणामुपयोगं दर्शितवान्। तथा च "नाविशेषात्" (ब्र० सू० ३। ४। १३) "स्तुतयेऽनुमतिर्वा" (ब्र० सू० ३। ४। १४) इतिसूत्रद्वयेन कुर्वन्नेवेतिमन्त्रस्याविद्वद्विषयत्वेन विद्यास्तुतित्वेन चार्थद्वयं दर्शितवान्। अत उक्तेन प्रकारेण ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वाद्युक्तः परोपनिषदारम्भः।

ननु बन्धस्य मिथ्यात्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वेन ज्ञानादमृतत्वं स्यात्। न त्वेतदस्ति; प्रतिपन्नत्वाद्बाधाभावाद्युष्मदादिस्वरूपत्वेनात्मनो विलक्षणत्वे सादृश्याद्यभावादध्यासासम्भवाच्च।

उच्यते—न तावत्प्रतिपन्नत्वेन सत्यत्वं वक्तुं शक्यते, प्रतिपत्तेः सत्यत्वमिथ्यात्वयोः समानत्वात्। नापि बाधाभावात्सत्यत्वम्, विधिमुखेन कारणमुखेन च बाधसम्भवात्। तथाहि श्रुतिः—प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं मायाकारणत्वं च दर्शयति "न तु तद्द्वितीयमस्ति" (बृ० उ० ४। ३। २३) "एकत्वम्"। "नास्ति द्वैतम्।" "कुतो विदिते वेद्यं नास्ति"। "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६। २। १)। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छा० उ० ६। १। ४) "एकमेव सत्।" "नेह नानास्ति किञ्चन" (बृ० उ० ४।४।१९)। "एकधैवानुद्रष्टव्यम्" (बृ० उ० ४। ४। १०)। "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" (श्वेता० उ० ४। १०): मायी सृजते विश्वमेतत्" (श्वेता० उ० ४। ९)। "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (बृ० उ० २। ५। १९) इत्यादिभिर्वाक्यैः।

एवं श्रुत्यादिना नामादिकारणोपन्यासमुखेन स्वरूपेण च बाधितत्वात्प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमवगम्यते । अस्थूलादिलक्षणस्य ब्रह्मणस्तद्विपरीतस्थूलाकारो मिथ्या भवितुमर्हति । यथैकस्य चन्द्रमसस्तद्विपरीतद्वितीयाकारस्तद्वत् ।

तथा च सूत्रकारो "न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि" (ब्र० सू० ३ । २ । ११) इति स्वरूपत उपाधितश्च विरुद्धरूपद्वयासंभवान्निर्विशेषमेव ब्रह्मेत्युपपाद्य "न भेदात् "··· (ब्र० सू० ३ । २ । १२) इति भेदश्रुतिबलात्किमिति सविशेषमपि ब्रह्म नाभ्युपगम्यत इत्याशङ्क्य "न प्रत्येकमतद्वचनात्" इत्युपाधिभेदस्य श्रुत्यैव बाधितत्वादभेदश्रुतिबलात्सविशेषस्य ग्रहणायोगान्निर्विशेषमेवेत्युपपाद्य "अपि चैवमेके" (ब्र० सू० ३ । २ । १३) इति भेदनिन्दापूर्वकमभेदमेवैके शाखिनः समामनन्ति—"मनसैवेदमाप्तव्यम्" (क० उ० २ । १ । ११) "नेह नानास्ति किञ्चन ।" "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (बृ० उ० ४।४।१९) । "एकधैवानुद्रष्टव्यमिति" (बृ० उ० ४ । ४ । २०) । "भोक्ता योग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्" (श्वेता० उ० १ । १२) । इति सर्वभोग्यभोक्तृनियन्तृलक्षणस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मैकस्वभावताभिधीयत इति ।

पुनरपि निर्विशेषपक्षे दृढीकृते किमित्येकस्वरूपस्य उभयस्वरूपासंभवेऽनाकारमेव ब्रह्मावधार्यते न पुनर्विपरीतमित्याशङ्क्य "अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्" (ब्र० सू० ३ । २ । १४) । इति रूपाद्याकाररहितमेव ब्रह्मावधारयितव्यम् । कस्मात् ? तत्प्रधानत्वात् । "अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्" (बृ० उ० ३ । ८ । ८) । "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" (क० उ० १ । ३ । १५) । आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म" (छा० उ० ४ । १४ । ७) "तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्येतदनुशासनम्" (बृ० उ० २ । ५ । १९) इत्येवमादीनि निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मतत्त्वप्रधानानि । इतराणि कारणब्रह्मविषयाणि न तत्प्रधानानि । तत्प्रधानान्यतत्प्रधानेभ्यो बलीयांसि भवन्ति । अतस्तत्परश्रुतिप्रतिपन्नत्वान्निर्विशेषमेव ब्रह्मावगन्तव्यं न पुनः सविशेषमिति निर्विशेषपक्षमुपपाद्य का तर्ह्याकारवद्विषयाणां श्रुतीनां गतिः ? इत्याकाङ्क्षायां "प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्" (ब्र० सू० ३।२।२५) इति चन्द्रसूर्यादीनां जलाद्युपाधिकृतनानात्ववच्च ब्रह्मणोऽप्युपाधिकृतनानात्वरूपस्य विद्यमानत्वात्तदाकारवतो ब्रह्मण आकारविशेषोपदेश उपासनार्थो न विरुध्यते ।

एवमवैयर्थ्यं नानाकारब्रह्मविषयाणां वाक्यानामिति भेदश्रुतीनामौपाधिकब्रह्मविषयत्वेनावैयर्थ्यमुक्त्वा पुनरपि निर्विशेषमेव ब्रह्मेति द्रढयितुम् "आह च तन्मात्र" (ब्र० सू० ३ । २ । १६) इति । स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव । एवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव" (बृ० उ० ४ । ५ । १३) इति श्रुत्युपन्यासेन विज्ञानव्यतिरिक्तरूपान्तराभावमुपन्यस्य "दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते" (ब्र० सू० ३ । २ । १७) इति । "अथात आदेशो नेति नेति"

बृ० उ० २ । ३ । ६) । "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि" (के० उ० १ । ३) । "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तैत्ति० उ० २ । ४ । १) ।

"प्रत्यस्तमितभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम् ।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम् ।"
"विश्वस्वरूपवैरूप्यं लक्षणं परमात्मनः ।"

इत्यादिश्रुतिस्मृत्युपन्यासमुखेन प्रत्यस्तमितभेदमेव ब्रह्मेत्युपपाद्य "अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्" (ब्र० सू० ३ । २ । १८) इति । यत एव चैतन्यमात्ररूपो नेति नेत्यात्मको विदिताविदितास्यामन्यो वाचामगोचरः प्रत्यस्तमितभेदो विश्वस्वरूपविलक्षणस्वरूपः परमात्माविद्योपाधिको भेदः । अत एव चास्योपाधिनिमित्तामपारमार्थिकीं विशेषवत्तामभिप्रेत्य जलसूर्यादिरिवेत्युपमा दीयते मोक्षशास्त्रेषु ।

"एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥"

"यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनु गच्छन् । उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा ॥"

इति दृष्टान्तबलेनापि निर्विशेषमेव ब्रह्मेत्युपपाद्य "अम्बुवदग्रहणात् (ब्र० सू० ३ । २ । १९) इत्यात्मनोऽमूर्तत्वेन सर्वगतत्वेन जलसूर्यादिवन्मूर्तसंभिन्नदेशस्थितत्वाभावाद्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सादृश्यं नास्तीत्याशङ्क्य "वृद्धिह्रासभाक्त्वम्" (ब्र० सू० ३ । २ । २०) इति न हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्विवक्षितांशमुक्त्वा सर्वसारूप्यं केनचिद्दर्शयितुं शक्यते । सर्वसारूप्ये दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावोच्छेद एव स्यात् । वृद्धिह्रासभाक्त्वमत्र विवक्षितम् । जलगतसूर्यप्रतिबिम्बं जलवृद्धौ वर्धते, जलह्रासे च ह्रसति जलचलने चलति जलभेदे भिद्यत इत्येवं जलधर्मानुविधायि भवति न तु परमार्थतः सूर्यस्य तत्त्वमस्ति । एवं परमार्थतोऽविकृतमेकरूपमपि सद्ब्रह्म देहाद्युपाध्यन्तर्भावाद्भजत एवोपाधिधर्मान्वृद्धिह्रासादीनिति विवक्षितांशप्रतिपादनेन दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सामञ्जस्यमुक्त्वा "दर्शनाच्च" (ब्र० सू० ३ । २ । २१) इति "पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्" (बृ० उ० २ । ५।१८) । "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (बृ० उ० २ । ५ । १९) "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वेता० उ० ४ । १०) । "मायी सृजते विश्वमेतम्" (श्वेता०उ० ४ । ९) । "एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च" (क० उ० २।२।९-१०) "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" (श्वेता० उ० ६ । ११) । "स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत" (ऐत० उ० १ । ३ । १२) । "स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः" (बृ० उ० १ । ४ । ७) । "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तैत्ति० उ० २ । ६ । १) इत्यादिना परस्यैव ब्रह्मण उपाधियोगं दर्शयित्वा निर्विशेषमेव ब्रह्म । भेदस्तु जलसूर्यादिवदौपाधिको मायानिबन्धन इत्युपसंहृतवान् ।

किञ्च ब्रह्मविदामनुभवोऽपि प्रपञ्चस्य बाधकः। तेषां निष्प्रपञ्चात्मदर्शनस्य विद्यमानत्वात्। तथा हि तेषामनुभवं दर्शयति। "यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (ई० उ० ७)। "विदिते वेद्यं नास्ति" इति। एवं निर्वाणमनुशासनम्। "यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्" (बृ० उ० ४।३।३१)। "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" (बृ० उ० ४।५।१५)।

"यदेतद्दृश्यते मूर्तमेतज्ज्ञानात्मनस्तव।
भ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्ति जगद्रूपमयोगिनः॥
ये तु ज्ञानविदः शुद्धचेतसस्तेऽखिलं जगत्।
ज्ञानात्मकं प्रपश्यन्ति त्वद्रूपं पारमेश्वरम्॥"
(विष्णुपु० १।४।३९, ४१)

"निदाघोऽप्युपदेशेन तेनाद्वैतपरोऽभवत्।
सर्वभूतान्यशेषेण ददर्श स तदात्मनः॥
तथा ब्रह्म ततो मुक्तिमवाप परमां द्विजः।"
(विष्णुपु० २।१६।१९-२०)

"अत्रात्मव्यतिरेकेण द्वितीयं यो न पश्यति।
ब्रह्मभूतः स एवेह वेदशास्त्र उदाहृतः॥"

इत्येवं श्रुतिस्मृतियुक्तितोऽनुभवतश्च प्रपञ्चस्य बाधितत्वादत्यन्तविलक्षणानामसदृशरूपाणां मधुरतिक्तश्वेतपीतादीनामपि परस्पराध्यासदर्शनादमूर्तेऽप्याकाशे तलमलिनताद्यध्यासदर्शनादात्मानात्मनोरत्यन्तविलक्षणयोर्मूर्तामूर्तयोरपि तथा संभवात्स्थूलोऽहं कृशोऽहमिति देहात्मनोरध्यासानुभवात्।

"हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥"
(क० उ० १।२।१९)

इत्यादिश्रुतिदर्शनाद् "य एनं वेत्ति हन्तारम्" (गीता २।१९) "प्रकृतेः क्रियमाणानि" (गीता ३।२७) इतिस्मृतिदर्शनाच्चाध्यासस्य प्रहाणायात्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तय उपनिषदारभ्यते।

ब्रह्मवादिनो वदन्तीत्यादि श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषत्। तस्या अल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते—

हरिः ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति—

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता
जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु
वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥१॥

शंकर भाष्यः—

ब्रह्मवादिनो वदन्तीत्यादि । ब्रह्मवादिनो ब्रह्मवदनशीलाः सर्वे संभूय वदन्ति किं कारणं ब्रह्म किमिति स्वरूपविषयोऽयं प्रश्नः । अथवा कारणं ब्रह्माहोस्वित्कालादि 'कालः स्वभावः' इति वक्ष्यमाणम् अथवा किं कारणं ब्रह्म सिद्धिरूपम् उपादानभूतं किमित्यर्थः । अथवा बृंहति बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्मेति श्रुत्यैव निर्वचनान्निमित्तोपादानयोरुभयोर्वा प्रश्नः किं कारणं ब्रह्मेति किं कारणं ब्रह्माहोस्वित्कालादि ? अथवा कारणमेव ? कारणत्वेऽपि किंनिमित्तमुतोपादानम् ? अथवोभयम् ? किंलक्षणमिति वक्ष्यमाणपरिहारानुरूपेण तन्त्रेणावृत्त्या प्रश्नेऽपि संग्रहः कर्तव्यः, प्रश्नापेक्षत्वात्परिहारस्य ।

कुतः स्म जाताः कुतो वयं कार्यकारणवन्तो जाताः ? स्वरूपेण जीवानामुत्पत्त्याद्यसंभवात् । ... ...

किं च, जीवाम केन— केन वा वयं सृष्टाः सन्तो जीवामेति स्थितिविषयः प्रश्नः । क्व च संप्रतिष्ठाः प्रलयकाले स्थिता ? अधिष्ठिता नियमिताः केन सुखेतरेषु सुखदुःखेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थां हे ब्रह्मविदः सुखदुःखेषु व्यवस्थां केनाधिष्ठिताः सन्तोऽनुवर्तामह इतिसृष्टिस्थितिप्रलयनियमहेतुः किमिति प्रश्नसंग्रहः ॥१॥

हरि ॐ ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं :

क्या (संसार का) कारण ब्रह्म है ? हम कहाँ से उत्पन्न हुए हैं ? हम किसके द्वारा जीवित रहते हैं ? और अन्तिम परिणति कहाँ है ? हे ब्रह्मवेत्ताओ ! हम किससे प्रेरित होकर सुखदुःख की व्यवस्था में विद्यमान रहते हैं ?

किं कारणं ब्रह्म—अनादि काल से ही सभी दार्शनिक पद्धतियाँ सृष्टि का कारण खोजती रही हैं और यह प्रश्न आज तक ज्यों का त्यों बना हुआ है । भारतीय दर्शन तथा पाश्चात्य दर्शन में सृष्टि विषयक प्रश्न को लेकर पर्याप्त ऊहापोह हुआ है । परन्तु इस प्रश्न का समाधान आज तक नहीं हो पाया है । **श्वेताश्वतरोपनिषद्** के रचनाकाल में भी यह एक महान् प्रश्न रहा होगा और संभवतः ब्रह्मविषयक एवं सृष्टि-विषयक प्रश्नों में रुचि रखने वाले लोग समय-समय पर इन गंभीर समस्याओं पर खुलकर विवाद करते रहे होंगे क्योंकि जिस प्रकार से यह उपनिषद् प्रारंभ होता है उससे यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है । भारतीय चिन्तन पद्धति के अन्तर्गत ब्रह्म को सभी का मूल कारण माना गया है परन्तु **श्वेताश्वतरोपनिषद्** के रचना काल के आस-पास जिज्ञासु पुरुषों के मन में इस बात को लेकर कुछ सन्देह उत्पन्न होने लगा था और वे आपस में बैठकर इस पर पुनर्विचार करने लगे कि वास्तव में क्या ब्रह्म संसार का कारण है । **शंकरानन्द दीपिका** नामक टीका में यह प्रश्न करते हैं कि क्या

ब्रह्म संसार का उपादान कारण है या हम लोग किसी निमित्त या अन्य अनिश्चित निमित्त से उत्पन्न हुए हैं। लौकिक व्यवहार में यह देखा जाता है कि जो भी उत्पन्न होता है उसका कुछ न कुछ कारण अवश्य होता है कि जैसे कुलाल एवं दण्ड घट के हेतु हैं। **नारायण** के मन में भी यही शंका है कि संसार में जो कुछ महान दिखाई पड़ता है उसका कारण क्या है। **विज्ञानभगवान, उपनिषद्ब्रह्मयोगी** तथा **शंकराचार्य** भी यही प्रश्न करते हैं कि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है या निमित्त कारण ?

कुतः स्म जाताः—जिज्ञासु लोगों के सामने यह बड़ी भारी समस्या थी कि हम लोग कहाँ से उत्पन्न हुए हैं। प्रस्तुत मन्त्र में कई प्रकार के प्रश्न एक साथ उठाए गए है जिनमें से यह उत्पत्तिविषयक प्रश्न है। **शंकरानन्द** तथा **नारायण** दोनों ही प्रश्न करते हैं कि क्या हम ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं अथवा अन्य किसी कारण से। इस प्रसंग में **विज्ञानभगवान**[1] तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** दो मत प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार आकाशादि ब्रह्म में लीन हो जाते हैं और फिर सर्ग के आदि में उपादान कारण बन कर सृष्टि का निर्माण करते हैं क्या हम भी ब्रह्म से उसी तरह उत्पन्न हुए हैं। यहाँ वे विवर्तवाद को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि जल में विद्यमान रहने वाले चन्द्रमा एवं घट में स्थित आकाश के समान हम लोग सुषुप्ति-प्रलयादि में महाकाशस्थ-बिम्ब चन्द्र ब्रह्म में एकरूपता को प्राप्त करते हैं एवं प्रबोध-रूपी सृष्टि के समय ब्रह्म के विवर्त में कार्य कारण होते हुए महाकाशस्थित चन्द्र बिम्ब के समान ब्रह्म से ही उत्पन्न होते हैं। जहाँ तक **शंकराचार्य** के मत का संबंध है वे यहाँ पर **कारणकार्यभाव** स्वीकार करते हैं।

जीवाम केन—प्रकृत मन्त्र में **जीवाम केन** द्वारा स्थिति विषयक प्रश्न पर विचार किया गया है। **शंकरानन्द** तथा **नारायण** मानते हैं कि क्या हम किसी अनिश्चित हेतु से जीवित रहते हैं और हमारे जीवन का कारण ही अनिश्चित है। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** जीवन के कारण के लिए किसी अदृष्ट ईश्वर की कल्पना करते हैं और साथ साथ स्वभाव को भी जीवन का कारण मानते हैं। **शंकराचार्य** इसको मात्र स्थिति विषयक प्रश्न मानते हैं।

क्व च संप्रतिष्ठाः—यह विनाश संबंधी प्रश्न है। हमेशा से ही मनुष्य के मन में एक स्वाभाविकी जिज्ञासा बनी रही है कि हमारी अन्तिम परिणति क्या है। **कठोपनिषद्** (१।१।२०) में नचिकेता ने यमराज से यह प्रश्न किया था :

---

१. आहोस्विज्जलचन्द्रस्थानीया घटाकाशस्थानीया वा वयं सुषुप्तिप्रलयादिषूपाधिवलये बिम्बचन्द्रमहाकाशस्थानीये ब्रह्मण्यैक्यमुपगता सन्तः प्रबोधसृष्ट्यादि समये ब्रह्मविवर्तकार्यकारणादिमन्तो बिम्बचन्द्रमहाकाशस्थानीय ब्रह्मणः सकाशाज्जाताः। पृ० १७८।

92099
[stamp: library stamp, partly illegible]

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥

शंकरानन्द "**संप्रतिष्ठा**" शब्द का अर्थ आधार करते हैं और कहते हैं कि यही आधार है; यही निश्चित नहीं है। **नारायण** भी '**संप्रतिष्ठा**' का अर्थ आधार करते हैं। **विज्ञानभगवान**[1] एवं **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** '**संप्रतिष्ठा**' से मोक्ष का भाव ग्रहण करते है और कहते हैं कि मोक्ष अवस्था में ब्रह्म में विकार होने पर क्या अकेला हमारा ही अवस्थान होगा या स्वयं (ब्रह्म) के अविकारी होने पर माया के कारण विकास होने पर हमारा ब्रह्म में अवस्थान होगा; या अविद्या नाम की माया को विद्या के ब्रह्म रूप में प्रलय करके विशुद्ध ब्रह्म में हमारा अवस्थान होगा। **विज्ञानभगवान** की टीका के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि उनके सामने इस पाठ के अतिरिक्त कुछ अन्य पाठ भी रहे होंगे क्योंकि उनका कहना है कि '**क्व च संप्रतिष्ठा इत्यस्मिन् पाठे मोक्षावस्थायां कीदृग्रूपे ब्रह्मणि वयमेकत्वेनावस्थिता इति योजयितव्यम्**।' **शंकराचार्य** '**संप्रतिष्ठा**' का अर्थ प्रलय करते हैं और कहते हैं कि प्रलय काल में हम कहाँ स्थित होंगे।

अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु—भारतीय चिन्तन पद्धति में कर्म सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए यह माना गया है कि सुख एवं दुःख हमारे पूर्व जन्मों में किए गए कर्मों के फल हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् के ऋषि के अनुसार कोई अदृष्ट शक्ति है या कोई अन्य कारण है जो हमें सुख एवं दुःख में प्रवृत्त करता है। यहाँ **शंकरानन्द** का विचार है कि किसी के द्वारा अधिष्ठित होते हुए मानो जैसे हम गृहों द्वारा जकड़े हुए हों, परतन्त्र होते हुए सुख और दुःख में प्रवृत्त होते हैं। क्या हम किसी अनिश्चित कारण द्वारा संसार में सुख और दुःख को भोगते हैं? **नारायण** यह मानते हैं कि हम किसी से नियमित होकर सुख और दुःख में प्रवृत्त होते हैं; प्रवृत्ति के स्वतन्त्र होने पर दुःख में हमारी प्रवृत्ति नहीं होती और सुख में अधिक प्रवृत्ति होती है। **विज्ञानभगवान** एवं **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** मानते हैं कि हम अपने सुख एवं दुःख के विषय में सूर्य जैसे देवता से नियमित होकर परतन्त्र रूप से उनमें प्रवृत्त होते हैं। इसके अतिरिक्त वे ईश्वर को सुख एव दुःख का कारण मानते हैं और यह भी कहते हैं कि सूर्य और ईश्वर दोनों ही सुख एवं दुःख के कारण हो सकते हैं। **शंकराचार्य** कहते हैं कि किससे प्रेरित होकर हम सुख एवं दुःख में प्रवृत्त होते हैं।

---

१. मोक्षावस्थायामस्माकं विकारीभूते ब्रह्मणि किमेकत्वेनावस्थानमुत स्वतोऽविकारिणि मायामिलितत्वेन ब्रह्मण्येकत्वेनावस्थानमाहोस्विदविद्याख्यां मायां विद्यया ब्रह्ममात्रतया प्रविलाप्य विशुद्धे ब्रह्मण्येकत्वेनावस्थानम्। पृ० १७८-१७९।

इदानीं कालादीनि ब्रह्मकारणवादप्रतिपक्षभूतानि विचारविषयत्वेन दर्शयति—

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा
भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।
संयोग एषां न त्वात्मभावा-
दात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥२॥

शांकरभाष्यम्—कालः स्वभाव इति। योनिशब्दः संबध्यते। कालो योनिः कारणं स्यात्? कालो नाम सर्वभूतानां विपरिणामहेतुः। स्वभावः, स्वभावो नाम पदार्थानां प्रतिनियता शक्तिः; अग्नेरौष्ण्यमिव। नियतिरविषमपुण्यपापलक्षणं कर्म तद्वा कारणम्? यदृच्छाकस्मिकी प्राप्तिः। भूतान्याकाशादीनि वा योनिः? पुरुषो वा विज्ञानात्मा योनिः? इतीत्थमुक्तप्रकारेण किं योनिरिति चिन्त्या चिन्त्यं निरूपणीयम्। केचिद्योनिशब्दं प्रकृतिं वर्णयन्ति। तस्मिन्पक्षे किं कारणं ब्रह्मेति पूर्वोक्तं कारणपदमत्राप्यनुसंधेयम्।

तत्र कालादीनामकारणत्वं दर्शयति—संयोग एषामित्यादिना। अयमर्थः—कालादीनि प्रत्येकं कारणमुत तेषां समूहः। न च प्रत्येकं कालादीनां कारणत्वं संभवति दृष्टविरुद्धत्वात्। देशकालनिमित्तानां संहतानामेव लोके कार्यकरत्वदर्शनात्। न चाप्येषां कालादीनां संयोगः समूहः कारणम्, समूहस्य संहतेः परार्थत्वेन शेषत्वेन शेषेण आत्मनो विद्यमानत्वादस्वातन्त्र्यात्सृष्टिस्थितिप्रलयनियमलक्षणकार्यकरणत्वायोगात्।

आत्मा तर्हि कारणं स्यादेवात आह—आत्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोरिति। आत्मा जीवोऽप्यनीशोऽस्वतन्त्रो न कारणम्, अस्वातन्त्र्यादेव चात्मनोऽपि सृष्ट्यादिहेतुत्वं न संभवतीत्यर्थः। कथमनीशत्वम्? सुखदुःखहेतोः सुखदुःखहेतुभूतस्य पुण्यापुण्यलक्षणस्य कर्मणो विद्यमानत्वात्कर्मपरवशत्वेनास्वातन्त्र्याच्च त्रैलोक्यसृष्टिस्थितिनियमे सामर्थ्यं न विद्यत एवेत्यर्थः। अथवा सुखदुःखादिहेतुभूतस्याध्यात्मिकादिभेदभिन्नस्य जगतोऽनीशो न कारणम् ॥२॥

काल, स्वभाव, नियति, आकस्मिकी घटना, भूत प्रकृति, पुरुष—(ये कारण हैं) इस पर विचार करना चाहिए। इन सब का संयोग भी आत्मा के अधीन होने के कारण, कारण नहीं हो सकता तथा जीवात्मा भी सुख-दुःख के कारण अधीन है (अतः आत्मा को भी जगत् का कारण नहीं माना जा सकता)।

काल—पिछले मन्त्र में सृष्टि के कारण, उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश के विषय में अनेक प्रश्न उठाए गए थे। इस मन्त्र में उनमें से एक प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न किया गया है। यहाँ काल, स्वभाव नियति, यदृच्छा भूत, योनि एवं पुरुष को उत्तर रूप में प्रस्तुत किया गया है परन्तु इन सभी में कुछ न कुछ

दोष देखा गया है। इस विषय में सभी टीकाकारों ने अपने-अपने मत व्यक्त किए हैं। **शंकरानन्द**[1] के मत के अनुसार काल वह है जो लोगों द्वारा व्यवहार में लाया जाता है और निमेष, घटी, पल, होरा, दिन, रात्रि, पक्ष, मास एवं वर्ष तथा भूत, वर्तमान एवं भविष्य द्वारा अभिव्यक्त होता है। **नारायण** के अनुसार यह काल वही है जो ज्योतिषशास्त्र में प्रसिद्ध है। **विज्ञानभगवान** एवं **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** यह मानते हैं कि संसार चक्र का कारण काल है, ऐसी घोषणा कालवेत्ताओं ने की है **शंकराचार्य** ने परिणामवाद को स्वीकार करते हुए कहा है कि सभी पदार्थों में रूपान्तर प्राप्ति का कारण काल है। काल के विषय में **अथर्ववेद** (१९।५३) का मत है :

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः…तं रोहयन्ति कवयो विपश्चितः । तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा । **महाभारत** में काल के विषय में कहा गया है :

कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥
कालः पचति भूतानि सर्वाण्यैवात्मनात्मनि ।
यस्मिन् तु पचते कालस्तं वेदेह न कश्चन ॥

स्वभाव—संसार का कारण खोजते-खोजते यह कहा गया कि स्वभाव सृष्टि का कारण हो सकता है। स्वभाव को लेकर टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए हैं। **शंकरानन्द**[2] मानते हैं कि जो असाधारण कार्यकारणभाव है वह ही स्वभाव है जैसे अग्नि में जलाने की शक्ति है और जल का स्वभाव नीचे की ओर जाना है। **नारायण** यहाँ लोकमत का आश्रय लेते हुए कहते हैं कि लोक के अनुसार वस्तुओं का एक धर्म होता है। **विज्ञानभगवान** और **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** भी स्वभाव को लोकगत वस्तु धर्म स्वीकार करते हैं। अन्य सभी टीकाकारों के समान **शंकराचार्य** भी पदार्थों की नियत शक्ति को स्वभाव मानते हैं, जैसे अग्नि का स्वभाव है उष्णता।

नियति—अन्य सभी कारणों के समान नियति को भी एक कारण माना गया है। **शंकरानन्द** मानते हैं कि सभी पदार्थों में विद्यमान रहने वाली नियमन-शक्ति ही नियति है। इस संदर्भ में उनका कहना है ऋतुकाल में ही स्त्रियों का गर्भ धारण करना और चन्द्रमा के उदय होने पर ही समुद्र में ज्वार भाटा आना नियति है। **नारायण** के मत के अनुसार अग्नि का ऊपर की ओर प्रज्ज्वलित

---

१. निमेषादिपरार्धान्तप्रत्ययोत्पादको भूतो वर्तमान आगामीति व्यवह्रियमाणो जनैः। पृ० ८८।

२. स्वभावः स्वस्य तत्तत्पदार्थस्य भावोऽसाधारणकार्यकारित्वं यथाऽग्नेर्दाहादित्वमपां निम्नदेशगमनादि। पृ० ८८।

होना और वायु का तिर्यक् गति से बहना नियति है। **विज्ञानभगवान** नियति को केवल साधारण नियम ही मानते हैं। **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** इस संदर्भ में मीमांसकों का मत प्रस्तुत करते हैं कि पुण्य और पाप की नियति ही कारण है। **शंकराचार्य** के अनुसार पुण्यपापरूप जो अदिष्ट कर्म हैं वे नियति कहे जाते हैं। इसका तात्पर्य है कि 'सद्' कर्म करने से पुण्य की प्राप्ति होती है और 'असद्' कर्म करने से पाप होता है।

यदृच्छा—यदृच्छा को भी सृष्टि के कारण रूप में प्रस्तुत किया गया है। किसी भी आकस्मिक रूप से घटित होने वाली घटना को यदृच्छा कहा जाता है। **शंकरानन्द**[1] के अनुसार काकतालीयन्याय से शुभ या अशुभ घटना का अप्रत्याशित रूप से होना यदृच्छा है। **नारायण** के मत में काल के क्रम से अकस्मात् जो मेघ वर्षा करता है, भूमि में कम्पन होता है और लाभ एवं हानि है, वही यदृच्छा है। **विज्ञानभगवान**[2] एवं **उपनिषद् ब्रह्मयोगी** निरीश्वरवादियों का मत देते हुए कहते हैं कि पूर्व जन्म में किए गये पुण्य और पापों द्वारा ही मनुष्य जन्म ग्रहण नहीं करते अपितु बुद्धि और कर्ता के बिना ही यदृच्छा द्वारा जन्म ग्रहण करते हैं। **शंकराचार्य** यदृच्छा को मात्र आकस्मिकी घटना मानते हैं।

भूतानि—भूत (पंच महाभूत) को भी सृष्टि का कारण बतलाया गया है। सांख्य दर्शन में यह स्वीकार किया गया है कि पंच महाभूतों से इस सृष्टि का निर्माण हुआ है और इस प्रक्रिया को पंचीकरण कहा गया है। **शंकरानन्द** का भी सांख्य मत के अनुसार यही कहना है कि भूत चार या पाँच हैं और संभवतः यह सृष्टि भी उसी प्रकार उत्पन्न हुई है जैसे तेल, बत्ती एवं अग्नि के संयोग से दीपक की उत्पत्ति होती है। **नारायण** यहाँ पर एक अन्य अर्थ स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि भूत शब्द का प्रयोग यहाँ उत्पन्न होने के अर्थ में किया गया है। उनका कहना है कि माता-पिता से जैसे पुत्र का जन्म होता है वैसे ही सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। **विज्ञानभगवान** एवं **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** कहते हैं कि जो लोग जगत् को नित्य मानते हैं वे भूतों (पंच महाभूतों) को सृष्टि का कारण स्वीकार करते हैं। **शंकराचार्य** भूत एवं योनि—इन दोनों शब्दों को एक साथ ग्रहण करते हैं और कहते हैं कि आकाशादि ही (सृष्टि का) कारण हैं।

---

१. यदृच्छाकाकतालीयन्यायेन संवादकारिणी काचन शक्तिः। पृ० ८८। एक कौवा एक वृक्ष की शाखा पर जाकर बैठा ही था कि अचानक ऊपर से एक फल गिरा और कौवे के प्राण पंखेरु उड़ गए। अतः जब कभी कोई शुभ या अशुभ घटना अप्रत्याशित रूप से घटित होती है तो उसे काकतालीयन्याय कहा जाता है।

२. पूर्वपूर्वकल्पेषु जीवैः संचितपुण्यापुण्यानुगुणतया जगत्सर्वज्ञेनेश्वरेणोत्तरकल्पादौ न सृज्यते किंतु बुद्धिमत्कर्तृकत्वमन्तरेण यदृच्छया जायत इति निरीश्वराः। पृ० १७६।

योनि—अधिकांश टीकाकारों ने योनि शब्द को पृथक् रूप से नहीं माना है। टीकाकारों ने **योनि** शब्द को **काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूतयोनि** तथा **पुरुष** के कारण रूप में ग्रहण किया है। **शंकरानन्द** योनि का अर्थ कारण करते हैं। **नारायण** योनि शब्द को स्त्री के अंग (अवयव) विशेष के रूप में ग्रहण करते हैं परन्तु **विज्ञानभगवान**[1] एवं **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** शाक्तों के मत का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि प्रकृतिवादी शाक्त लोगों के अनुसार प्रकृति ही कारण है। जैसा पहले ही बतलाया जा चुका है कि **शंकराचार्य** योनि शब्द को **काल, स्वभाव नियति, यदृच्छा, भूत** एवं **पुरुष** के साथ जोड़ते हैं।

पुरुष—जितने कारणों का पहले परिगणन किया जा चुका है इनमें पुरुष भी एक है। **शंकरानन्द** के अनुसार संगहीन, उदासीन चिदानन्दात्मा ही पुरुष है। **नारायण** उस पुरुष के क्षेत्र को अधिक व्यापक मानते हैं। उनके अनुसार मन एवं आत्मा भी उसी में सम्मिलित हैं। **विज्ञानभगवान**[2] एवं **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** ने पुरुष की कल्पना हिरण्यगर्भ के रूप में की है और वे अपने मत को पुष्ट करने के लिए योगशास्त्रवेत्ताओं का आश्रय ग्रहण करते हैं। **शंकराचार्य** सीधे-सीधे पुरुष को विज्ञानात्मा मानते हैं।

आत्मभावात्—इस मन्त्र में **काल, स्वभाव, यदृच्छा, भूत, योनि** एवं **पुरुष** को सृष्टि के कारण रूप में प्रस्तुत किया गया है। परन्तु इनका विश्लेषण करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि ये सभी पृथक्-पृथक् रूप से सृष्टि के कारण नहीं हो सकते। इसके लिए इस मन्त्र में **आत्मभावात्** का प्रयोग किया गया है। **आत्मभाव** का संबंध सबसे ही है। **आत्मभाव** का विश्लेषण करने से पहले यह समझना जरूरी है कि साधारणतया **आत्मभाव** से ऋषि का क्या तात्पर्य रहा होगा। हम आपाततः अभी इसका अर्थ करते हैं "**तादात्म्य**" या "**ऐक्यभाव**"। सर्वप्रथम सभी टीकाकारों के मत को प्रस्तुत करना आवश्यक है। **शंकरानन्द**[3] **आत्मभाव** का

---

१. योनिः प्रकृतिः कारणमिति प्रकृतिवादिनः शाक्ताः। पृ० १७८।

२. पुरुषो हिरण्यगर्भ एव कारणमिति योगशास्त्रविदः। पृ० १७८।

३. इतश्च कारणान्न संयोगः कारणमित्याह—आत्मभावादात्मनश्चेतनस्य सत्त्वात्। अयं भावः—एषां कालीदानां पुरुषान्तानां सत्त्वे सति संयोगः कल्पनीयः। सति च चेतने पुरुषकालादिवत्किं संयोगेनेति। ननु तर्हि कर्ता भोक्ता चेतनः पुरुषशब्दवाच्य आत्माऽस्तु कारणमित्यत आह—आत्माऽपि कर्ता भोक्ता चेतनोऽपि न त्वित्यपिसामर्थ्यादनुवर्तते। तत्र हेतुमाह—अनीशः। जगत्कारणं हि चेतनमचेतनं वाऽङ्गीक्रियमाणं सर्वस्य नियन्त्रित्यङ्गीकरणीयमात्मा च जीवरूपोऽनीश्वरः। कस्यानीशः सुखदुःखहेतोःसुखदुःखयोरनुकूलप्रतिकूलवेदनीययोर्हेतुधर्माधर्माभिदिरूपस्तस्य। अतश्चेतनः स्वतन्त्रः कारणं ब्रह्मशब्दवाच्यः। पृ० ८९-९०।

संबंध **"संयोग एषाम्"** के साथ जोड़ते हैं और कहते हैं कि चैतन्य आत्मा की सत्ता के कारण कालादि का संयोग भी सृष्टि का कारण नहीं हो सकता। **काल** से लेकर **पुरुष** तक के संयोग की कल्पना कीजिए। जब **पुरुष** चैतन्य है तो कालादि के संयोग से क्या अभिप्राय हो सकता है? फिर क्या कर्ता, भोक्ता एवं चैतन्य आत्मा जिसको **पुरुष** द्वारा भी अभिव्यक्त किया जाता है, सृष्टि का कारण हो सकता है ? तो कहा गया है कि कर्ता, भोक्ता एवं चैतन्य आत्मा में इतनी सामर्थ्य कहाँ कि वह सृष्टि का कारण बन सके। चेतन या अचेतन हम किसी को भी संसार का कारण स्वीकार करें वह कारण तो सब कुछ को नियन्त्रित करने वाला होना चाहिए परन्तु आत्मा तो मात्र जीव है अनीश्वर है। वह सुख एवं दुःख का भी स्वामी नहीं है और वह सुख आने पर अनुकूलता एवं दुःख से प्रतिकूलता की अनुभूति करता है। अतः चैतन्य आत्मा से भिन्न कोई स्वतन्त्र ब्रह्म ही सृष्टि का कारण हो सकता है। **नारायण** भी **शंकरानन्द** के समान ही आत्मभाव का संबंध **"संयोग एषाम्"** के साथ जोड़ते हैं। उनका कहना है कि आत्मा चेतन है और कालादि अचेतन हैं। अतः काल के साथ जब आत्मा का संयोग हो जाएगा तब काल में चेतनाभाव के कारण प्रवृत्ति असंभव हो जाएगी और चैतन्य आत्मा के परतन्त्र होने से आत्मा कर्ता नहीं बन सकेगी। पहले दो टीकाकारों के समान ही **विज्ञानभगवान** एवं **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** भी कालादि के संयोग में अकारणत्व सिद्ध करने के लिए ही **आत्मभाव** का प्रयोग करते हैं। दोनों ही टीकाकारों का कहना है कि इनको (**कालादि को**) भोग रूप में स्वीकार करने पर भोक्ता की आत्मा के भाव (सत्ता) के कारण इन सबका भोग्यत्व परतन्त्र है और इनकी स्वतन्त्रता का कोई मूल कारण नहीं है। **आत्मभाव** जैसे महत्त्वपूर्ण पद को लेकर **शंकराचार्य** ने मौन रहना ही उचित समझा है। अस्तु, यह तो रहा टीकाकारों का मत। अब रह गई **"संयोग एषाम्"** में इन सभी का संयोग करके सृष्टि का कारणत्व सिद्ध करने की बात। इस संदर्भ में **शंकरानन्द**[1] ने इन सभी के संयोग को सृष्टि का कारण न मानते हुए छः पक्ष स्थापित किए हैं और कहा है कि **योनि** शब्द का संबंध इन सभी से है। **पहला पक्ष**—यह माना जाता है कि सृष्टि की उत्पत्ति अणु आदि से हुई है परन्तु अणु आदि का कारणत्व काल के संदर्भ को छोड़ कर स्वीकार नहीं किया जा सकता और यदि कल्पना के आधार पर यह मान भी लें तो अणु का कारणत्व काल सापेक्ष होगा। अतः काल को ही सृष्टि का कारण क्यों न मान लिया जाए। **दूसरा पक्ष**—काल भी वस्तु के स्वभाव को छोड़ कर कारण नहीं माना जा सकता, अतः फिर स्वभाव ही कारण हो जाएगा। **तीसरा पक्ष**—सभी पदार्थों का स्वभाव नियत (निश्चित) कारण होता है, अर्थात् सभी पदार्थों का कुछ न कुछ स्वभाव निश्चित है, जैसे अग्नि का स्वभाव है उष्णता। अतः अन्वय एवं व्यतिरेक के माध्यम से **नियति** को भी कारण माना जाना जा सकता है। **चौथा पक्ष—नियति**

१. अत्र षट्पक्षाः पूर्वपूर्वस्य दौर्बल्याद् प्रादुर्भवन्ति। पृ० ८९।

भी कई प्रकार की (अनेकान्तवाली) हो सकती है तो फिर **नियति** को कारण मानने से अव्यवस्था नामक दोष उपस्थित होने की संभावना होगी और इस प्रकार **नियति** का अधिकाधिक विस्तार करने से इसमें से मनचाहा (**यदृच्छा**) अर्थ निकलने लगेगा, अतः इससे तो अच्छा यहीं होगा कि **यदृच्छा** को ही सृष्टि का कारण मान लिया जाए। **पाँचवाँ पक्ष**—जब हम यह मान लेते हैं कि **यदृच्छा या** मनमाना प्रकार या संयोग मात्र ही सृष्टि का कारण है तो ऐसा होने पर भी भूतों (पंच महाभूतों) के बिना भी सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः **भूत** (पञ्चमहाभूत) को ही सृष्टि का कारण क्यों न मान लिया जाए। **छठा पक्ष**—यदि यह माना जाए कि भूत से ही सृष्टि की उत्पत्ति हुई है तो उत्पन्न होने वाला चेतन **पुरुष** के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता, अतः चेतन पुरुष ही (सृष्टि का) कारण हो जाएगा। क्योंकि **योनि** (कारण) सभी प्रश्नों से जुड़ा हुआ है, अतः **योनि** भी सृष्टि का कारण हो सकता है। इस प्रकार यह भी छठे पक्ष के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। **शंकरानन्द** ने इस पक्ष को एक विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया है। इसी संदर्भ में **शंकरानन्द** आगे कहते हैं कि भूत को यदि मूर्त कार्य रूप में स्वीकार किया जाए तो अवश्य ही उसका भी कोई कारण (प्रकृति) होगा। इन छः पक्षों के अतिरिक्त **शंकरानन्द** एक सातवाँ पक्ष भी स्थापित करते हैं कि भूत (पंच महाभूत) के समान प्रकृति भी अचेतन है और चेतन पुरुष उसका कारण है।

आत्मभाव पर विचार करने से पूर्व हमने इसका अर्थ "**तादात्म्य**" या "**ऐक्यभाव**" किया था। सभी टीकाकारों के अर्थों का विश्लेषण करने के बाद प्रतीत होता है कि इसका अर्थ "**तादात्म्य**" या "**ऐक्यभाव**" होना चाहिए। **कालादि** किस प्रकार सृष्टि का कारण नहीं हो सकते यह हमने अभी-अभी देखा है। उपनिषद् के प्रारम्भ में सृष्टि के कारण, उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय संबंधी कुछ प्रश्न उठाए गए थे और तत् पश्चात् दूसरे मन्त्र में कुछ संभावित उत्तर भी दिए गए परन्तु सभी दिए गए उत्तर ठीक नहीं जँचते। इसका एक मात्र कारण है **आत्मभाव**। **आत्मभाव** का अभिप्राय है "**तादात्म्य**"। हम यह जानना चाहते हैं कि क्या सृष्टि का कारण ब्रह्म है। यदि ब्रह्म है तो इसके साथ-साथ यह भी प्रश्न उत्पन्न होता है कि ब्रह्म किस काल में सृष्टि का कारण था और यदि था तो काल की गति निरन्तर चली आ रही है। जो अब वर्तमान है वह कुछ समय पश्चात् अतीत बनेगा और जो अब अनागत है वह कुछ समय पश्चात् वर्तमान बन जाएगा। इस प्रकार काल की गति निरबाध रूप से चलती रहेगी। तो फिर प्रश्न ज्यों का त्यों ही बना रहा। हम तो सृष्टि के कालक्रम के विषय में जानना चाहते हैं और उत्तर में काल को प्रस्तुत कर दिया गया। ऐसा नहीं हो सकता कि काल ही स्वयं अपना कारण हो। यह तो ऐसा हुआ कि प्रहेलिका के उत्तर के अभाव में एक अन्य प्रहेलिका को प्रस्तुत कर दिया गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि जो हमारा मूल प्रश्न है उसका इस उत्तर के साथ

"**आत्मभाव**" तादात्म्य स्थापित हो गया है और "**आत्मभाव**" के कारण काल सृष्टि का कारण नहीं हो सकता है। यह तादात्म्य स्थापित होने की प्रक्रिया सभी दिए गए संभावित उत्तरों के साथ घटित होती है और सर्वत्र ही "**आत्मभाव**" के कारण वे सभी (कालादि) सृष्टि का कारण नहीं हो सकते। **काल** के बाद, **स्वभाव** दूसरा सृष्टि का कारण बताया गया है। यह भी **आत्मभाव** के कारण सृष्टि का कारण नहीं हो सकता। मूल प्रश्न सृष्टि के कारण का है अर्थात् हम यह जानना चाहते हैं कि उस कारण का **स्वभाव** क्या है क्योंकि प्रत्येक वस्तु या पदार्थ का कोई न कोई स्वभाव होता है। यहाँ पर भी **आत्मभाव** की प्रक्रिया लागू होती है। जिसका हम स्वभाव जानना चाहते हैं उसके उत्तर में स्वभाव को प्रस्तुत कर दिया गया है। अतः यहाँ भी "**आत्मभाव**" तादात्म्य स्थापित हो जाता है। स्वभाव के पश्चात् **नियति** को सृष्टि का कारण बताया गया है। यह भी **आत्मभाव** के कारण सृष्टि का कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति किसी निश्चित क्रम के अन्तर्गत हुई होगी और यह संभव नहीं हो सकता कि जिस क्रम के बारे में प्रश्न किया गया है, उसी को ही उत्तर के रूप में प्रस्तुत कर दिया जाए। अतः यहाँ पर भी '**आत्मभाव**' तादात्म्य स्थापित होता है। **नियति** के बाद **यदृच्छा** (संयोग या आकस्मिकी घटना) को सृष्टि का कारण बतलाया गया है। सृष्टि की उत्पत्ति मात्र एक संयोग या आकस्मिकी घटना नहीं है क्योंकि (Chaos) से इसका विकास नहीं हुआ है। अतः **यदृच्छा** सृष्टि का कारण नहीं हो सकता क्योंकि आकस्मिकी घटना या संयोग का भी कुछ न कुछ कारण अवश्य होता है। इस प्रकार यहाँ भी "**आत्मभाव**" तादात्म्य हो जाता है और **यदृच्छा** को सृष्टि के कारण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके बाद आता है भूत। जहाँ तक भूत का प्रश्न है वह भी सृष्टि का कारण नहीं हो सकता क्योंकि हम यह जानना चाहते हैं कि **भूत** (आकाशादि) का **स्वभाव** क्या था, कितने भूतों से मिलकर सृष्टि की उत्पत्ति हुई है आदि आदि। अतः यहाँ भी मूल प्रश्न के साथ "**आत्मभाव**" तादात्म्य की स्थापना होने के कारण भूत का भी सृष्टि के कारणत्व रूप में निवारण हो गया। **भूत** के बात **योनि** को सृष्टि का कारण बतलाया गया है। **योनि** शब्द को सृष्टि का कारण इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि हम सृष्टि की प्रकृति या कारण को ही जानना चाहते हैं। अतः पूर्वोक्त प्रकार से मूल प्रश्न से "**आत्मभाव**" तादात्म्य स्थापित हो जाता है। अन्त में **पुरुष** को सृष्टि का कारण बतलाया गया है। **पुरुष** सृष्टि का कारण इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि हम उस मूल **पुरुष** (सृष्टि के कर्ता) के विषय में ही जानना चाहते हैं कि वह कैसा था, क्या था, चेतन या चेतनाहीन था इत्यादि। वह उपादान कारण था या निमित्त। इस प्रकार यहाँ भी मूल प्रश्न के साथ पुरुष का "**आत्मभाव**" तादात्म्य स्थापित हो जाता है और पुरुष को भी सृष्टि का कारण नहीं माना जा सकता। **आत्मभाव** की यह प्रक्रिया कालादि सभी सात कारणों में लागू होती है। अभी इनके संयोग की बात

बाकी हैं। इसके विषय में सबसे उपयुक्त बात **शंकराचार्य** ने कही है, उनका कहना है कि लोक में देशकालादि निमित्तों को परस्पर मिलकर ही कार्य करते देखा गया है और कालादि संयोग या समूह भी कारण नहीं हो सकता है; क्योंकि समूह पदार्थ शेष हैं और उसका शेषी आत्मा विद्यमान है अतः स्वतन्त्र न होने के कारण वह सृष्टि, स्थिति, प्रलय और प्रेरणारूप कार्य करने में समर्थ नहीं है।

आत्माप्यनीशः—कालादि सभी कारणों पर विचार करने के पश्चात् अब मात्र एक कारण रह जाता है और वह है आत्मा। इस पर उपनिषत्कार ने स्वयं ही कह दिया कि आत्मा सृष्टि का कारण नहीं हो सकती क्योंकि वह तो सुख-दुःख का हेतु है। परन्तु आपाततः देखने में यह उक्ति कुछ विचित्र प्रतीत होती है क्योंकि सामान्यतया यह समझा जाता है कि आत्मा तो सुख, दुःख, हानि, लाभ तथा अन्य सभी धर्मों से परे है। इसके विषय में यह कहा गया है कि यदि आत्मा सुख एवं दुःख का हेतु न होती तो उसके द्वारा दुःखमय संसार की उत्पत्ति क्यों की जाती? इस पर **शंकरानन्द**[1] का कथन है कि आत्मा तो सुख आने पर अनुकूलता एवं दुःख आने पर प्रतिकूलता का अनुभव करती है, अतः सृष्टि का कारण तो चैतन्य ब्रह्म ही हो सकता है। **नारायण** सीधे सीधे कहते हैं कि आत्मा चाहते हुए भी सुख को प्राप्त नहीं कर सकती और न चाहने पर भी दुःख को प्राप्त होती है अतः इस कारण से वह परतन्त्र होने पर संसार का कर्ता नहीं है। **विज्ञानभगवान** का मत है कि आत्मा पुण्य से सुख एवं पाप से दुःख प्राप्त करती है। **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** कहते हैं कि आत्मा जगत् निर्माण में समर्थ नहीं है। **शंकराचार्य** का मत है कि आत्मा के लिए सुखदुःख के हेतु पुण्य और पाप कर्म विद्यमान हैं, उन कार्यों के अधीन होने से इसकी परतन्त्रता है।

एवं पक्षान्तराणि निराकृत्य प्रमाणान्तरागोचरे वस्तुनि प्रकारान्तरमपश्यन्तो ध्यानयोगानुगमेन परममूलकारणं स्वयमेव प्रतिपेदिर इत्याह—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥३॥

शांकरभाष्यम्—

ते ध्यानयोगेति। ध्यानं नाम चित्तैकाग्र्यं तदेव योगो युज्यतेऽनेनेति ध्यातव्यस्वीकारोपायः, तमनुगताः समाहिता अपश्यन् दृष्टवन्तो देवात्मशक्तिमिति।

---

१. सुखदुःखहेतोः सुखदुःखयोरनुकूलप्रतिकूलवेदनीययोर्हेतुर्धर्माधर्मादिरूपस्तस्य। अतश्चेतनः स्वतन्त्रः कारणं ब्रह्मशब्दवाच्यः। पृ० ६०।

पूर्वोक्तमेव प्रश्नसमुदायपरिहाराणां सूत्रमुत्तरत्र प्रत्येकं प्रपञ्चयिष्यते । तत्रायं प्रश्नसंग्रहः—किं ब्रह्म कारणम् ? आहोस्वित्कालादि ? तथा किं कारणं ब्रह्माहोस्वित्कार्यकारणविलक्षणम् ? अथवा कारणं वाकारणं वा ? कारणत्वेऽपि किमुपादानमुत निमित्तम् ? अथवोभयकारणं ब्रह्म किंलक्षणम् ? अकारणं वा ब्रह्म किंलक्षणम् ? इति

तत्रायं परिहारः—न कारणं नाप्यकारणं न चोभयं नाप्यनुभयं न च निमित्तं न चोपादानं न चोभयम् । एतदुक्तं भवति—अद्वितीयस्य परमात्मनो न स्वतः-कारणत्वमुपादानत्वं निमित्तत्वं च । यदुपाधिकमस्य कारणत्वादि तदेव कारणं निमित्तमुपपाद्य तदेव प्रयोजकं निष्कृष्य दर्शयति—देवात्मशक्तिमिति । देवस्य द्योतनादियुक्तस्य मायिनो महेश्वरस्य परमात्मन आत्मभूतामस्वतन्त्रां न सांख्य-परिकल्पितप्रधानादिवत्पृथग्भूतां स्वतन्त्रां शक्तिं कारणमपश्यन् । दर्शयिष्यति च—'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥' (श्वेता० उ० ४।१०) इति ।

स्वगुणैः प्रकृतिकार्यभूतैः पृथिव्यादिभिश्च निगूढां संवृतां कार्याकारेण कारणाकारस्याभिभूतत्वात्कार्यात्पृथक्स्वरूपेणोपलब्धुमयोग्यामित्यर्थः । तथा च प्रकृति-कार्यत्वं गुणानां दर्शयति व्यासः—"सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।" (गीता १४।५) इति ।

कोऽसौ देवो यस्येयं विश्वजननी शक्तिरभ्युगम्यत इत्यत्राह—यः कारणानीति । यः कारणानि निखिलानि तानि पूर्वोक्तानि कालात्मयुक्तानि कालात्मभ्यां युक्तानि कालपुरुषसंयुक्तानि स्वभावादीनि 'कालः स्वभावः' इति मन्त्रोक्तान्यधितिष्ठति नियमयत्येकोऽद्वितीयः परमात्मा तस्य शक्तिं कारणमपश्यन्निति वाक्यार्थः ।

अथवा देवात्मशक्तिं देवात्मनेश्वररूपेणावस्थितां शक्तिम् । ...

कोऽसौ देवः ? यः कारणानीत्यादि पूर्ववत् । अथवा देवस्य परमेश्वरस्यात्मभूतां जगदुदयस्थितिलयहेतुभूतां ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकां शक्तिमिति । ...

स्वगुणैः सत्त्वरजस्तमोभिः । सत्त्वेन विष्णू रजसा ब्रह्मा तमसा महेश्वरः सत्त्वाद्युपाधिसम्बन्धात्स्वरूपेण निरुपाधिकपूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनैवानुपलभ्यमानाः । परस्यैव ब्रह्मणः सृष्ट्यादिकार्यं कुर्वन्तोऽवस्थाभेदमाश्रित्य शक्तिभेदव्यवहारो न पुनस्तत्त्वभेदमाश्रित्य । ...

प्रथममीश्वरात्मना मायिरूपेणावतिष्ठते ब्रह्म । स पुनर्मूर्तिरूपेण त्रिधा व्यवतिष्ठते । तेन च रूपेण सृष्टिस्थितिसंहाररूपनियमनादिकार्यं करोति । ... ...

अथवा देवात्मशक्तिमिति देवश्चात्मा च शक्तिश्च यस्य परस्य ब्रह्मणोऽवस्थाभेदास्तां प्रकृतिपुरुषेश्वराणां स्वरूपभूतां ब्रह्मरूपेणावस्थितां परात्परतरां शक्तिं कारणमपश्यन्निति । तथा च त्रयाणां स्वरूपभूतं प्रदर्शयिष्यति—"भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्" (श्वेता० उ० १।१२) "त्रयं यदा

विन्दते ब्रह्ममेतत्" (श्वेता० उ० १।६) इति। स्वगुणैर्ब्रह्मपरतन्त्रैः प्रकृत्यादिविशेषणैरुपाधिभिर्निगूढाम्। तथा च दर्शयिष्यति—"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" (श्वेता० उ० ६।११) इति।...

अथवा देवात्मनो द्योतनात्मनः प्रकाशस्वरूपस्य ज्योतिषां ज्योतीरूपस्य प्रज्ञानघनस्वरूपस्य परमात्मनो जगदुदयस्थितिलयनियमनविषयां शक्ति सामर्थ्यमपश्यन्निति स्वगुणैः स्वव्यष्टिभूतैः सर्वज्ञसर्वेशितृत्वादिभिर्निगूढां तत्तद्विशेषरूपेणावस्थितत्वात्स्वरूपेण शक्तिमात्रेणानुपलभ्यमानाम्। तथा च मानान्तरवेद्यां शक्ति दर्शयिष्यति—

"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥" (श्वेता० उ० ६।८) इति। समानमन्यत्

कारणं देवात्मशक्तिमिति प्रश्ने परिहारे च ये ये पक्षभेदाः प्रदर्शितास्ते सर्वे संगृहीताः। उत्तरत्र सर्वेषां प्रपञ्चनादप्रस्तुतस्य प्रपञ्चनायोगात्प्रश्नोत्तरदर्शनाच्च। समासव्यासधारणस्य च विदुषामिष्टत्वात्।

उन्होंने ध्यान योग द्वारा अपने गुणों से आच्छादित देवता की आत्मशक्ति को देखा जो (परमात्मा) उन सब (काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, योनि एवं पुरुष) का भी अधिष्ठाता है।

देवात्मशक्तिम्—पिछले मन्त्र में यह बतलाया गया कि कालादि सात कारणों से सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हुई है। गंभीर विश्लेषण करने पर यह मालूम हुआ कि इन सभी में कुछ-न-कुछ दोष है और ये सभी सृष्टि की उत्पत्ति के कारण नहीं माने जा सकते हैं। तो फिर सृष्टि की उत्पत्ति का कारण क्या हो सकता है? ऋषियों ने ध्यान के द्वारा **देवात्मशक्ति** को सृष्टि के कारण रूप में देखा। यह **देवात्मशक्ति** क्या है? इसके अर्थ को लेकर टीकाकारों में पर्याप्त मतभेद है। **शंकरानन्द**[1] इसको स्वयं प्रकाशमान आनन्दस्वरूप चैतन्य देव की अविद्या एवं माया आदि नामों से अभिहित शक्ति मानते हैं। **नारायण** इसको देवता की अपनी परम सामर्थ्य की शक्ति स्वीकार करते हैं। **विज्ञानभगवान** अध्यास के माध्यम से यह स्वीकार करते हैं कि यह उस द्योतन स्वभाव वाले, अखण्ड चित् एवं रसमय देवता की माया नामक शक्ति है जिससे सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश ये सभी स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। यह माया शक्ति उसकी अपनी शक्ति और परतन्त्र भी है। **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** भी **विज्ञानभगवान** के समान ही देवात्मशक्ति को देवता की परतन्त्र शक्ति मानते हैं। **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** भी यहाँ अध्यास की प्रक्रिया को स्वीकार करते हैं। **शंकराचार्य** ने इसकी विस्तार से व्याख्या की है और इसके पाँच विकल्प प्रस्तुत किए हैं :

---

१. देवस्य स्वयंप्रकाशस्याऽऽत्मन आनन्दात्मनः शक्तिरविद्या मायादिशब्दाभिधेया ताम्। पृ० ६०।

(१) उन्होंने देव—द्योतनादियुक्त मायावी परमेश्वर—स्वरूपभूता परतन्त्र शक्ति को कारणरूप में देखा, सांख्यमत द्वारा कल्पना किए हुए प्रधानादि के समान उससे भिन्न किसी स्वतन्त्र शक्ति को नहीं।[1]

(२) यहाँ दूसरे विकल्प में **शंकराचार्य** देवात्मना (तृतीयान्त पद) से ईश्वर रूप से स्थित शक्ति को स्वीकार करते हैं।

(३) तीसरे अर्थ में **शंकराचार्य** ने परमात्मा की एक ऐसी शक्ति की कल्पना की है जिसमें सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय की सामर्थ्य है।

(४) चौथे विकल्प में **शंकराचार्य देवात्मशक्ति** को तीन भागों में विभक्त करते हैं अर्थात् **देवता, आत्मा** और **शक्ति**—ये जिस परब्रह्म के अवस्था भेद हैं उस प्रकृति, पुरुष और ईश्वर की स्वरूपभूता ब्रह्मरूप से स्थित परात्पर शक्ति को देखा। **भोक्ता, भोग्य** एवं **प्रेरक** भी उसी परब्रह्म के अवस्था भेद हैं।

(५) द्योतनात्मक प्रकाशरूप अर्थात् समस्त तेजों के तेज प्रज्ञानघनमूर्ति परमात्मा की जगत् का सृजन, पालन, संहार और नियन्त्रण करने वाली शक्ति अर्थात् सामर्थ्य को देखा।

ब्रह्मसूत्र के टीकाकारों ने भी अपनी-अपनी टीकाओं में इस मन्त्र का उद्धरण दिया है। **ब्रह्मसूत्र** (१.४.९) के **शांकरभाष्य** में इस मन्त्र को उद्धृत किया गया है और वहाँ पर यह प्रतिपादित किया गया है कि यह जो **देवात्मशक्ति** है यह वही है जिसका इसी उपनिषद् में आगे '**मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्**' (श्वेता० ४।१०) '**यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः**' (श्वेता० ४।११) और '**अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्**' (श्वेता० ४।५) आदि आदि मन्त्रों में किया गया है। अन्यत्र (**ब्रह्मसूत्र** १.१.२) शांकरभाष्य में भी इस मन्त्र को उद्धृत किया गया है। वहाँ भाष्यकार का मत है कि सृष्टि से पहले भी ईश्वर में अधिष्ठित जीव विद्यमान है। यह उपाधि द्वारा अपने अधिष्ठेय एवं अधिष्ठातृभाव का परित्याग करके अपने स्वरूप भेद के बिना उत्पन्न नहीं होता। इन सभी प्रसंगों में **ब्रह्मसूत्र** की टीका में शांकरभाष्य में अपने मत को स्पष्टतया समझाने के लिए इस मन्त्र को उद्धृत किया गया है। **विज्ञानभिक्षु** ने भी अपनी टीका में (**ब्रह्मसूत्र** २.१.३०) इस मन्त्र को उद्धृत किया है। उनका कहना है कि परमात्मा के अवयवहीन होने पर उसके और अधिक अंश भेद नहीं हो सकते, अतः वह परम देवता सर्वशक्तिमान् है। अतः प्रकृति एवं पुरुष आदि शक्तिओं से अवच्छिन्न भाग रूपी परदेवता के अंश हैं : आकाश, परमाणु आदि। परन्तु श्रुति तो इस बात का निषेध करती है कि उस परमात्मा के प्रारंभिक अवयव हैं। तो फिर शक्ति आदि भी कैसे अंश हो सकते हैं ? उस समय ब्रह्म सर्बशक्तिमान है और यह प्रमाण

१. मैक्समूलर शंकराचार्य की इस व्याख्या से सहमत हैं। सेक्रिड बुक्स ऑफ् दि ईस्ट, वाल्यूम १५, भाग २, (उपनिषद्) पृ० २३२, १९६५।

दिया जाता है 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' 'प्रधान-क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः'; यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः'। अर्थात् इन-इन संदर्भों से उस ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता प्रदर्शित की जाती है।

टीकाकारों द्वारा दिए गए अर्थों पर विचार करने के पश्चात् 'देवात्मशक्तिम्" की सामान्य एवं सहज भावना को इस प्रकार समझा जा सकता है। सर्वप्रथम इसके तीन भाग हैं : देव, आत्मा और शक्ति। जहाँ तक देव का प्रश्न है, यह देव वही है जिसका धर्म में एवं अन्यत्र वर्णन किया गया है। यह देव वही है जिसको देदीप्यमान एवं द्योतनात्मक कहा गया है। दूसरा तत्त्व है आत्मा। आत्मा वह तत्त्व है जो प्रत्येक प्राणी में विद्यमान है। तीसरा तत्त्व है शक्ति। शक्ति वह तत्त्व है जिसे विज्ञान में ऊर्जा कहा गया है। उपनिषत्काल का संभवतः आशय यह रहा होगा कि सृष्टि के निर्माण में ये तीनों तत्त्व ही मुख्य रूप से सहायक हैं।

स्वगुणैः—उपनिषद् में जिस **देवात्मशक्ति** को सृष्टि का कारण माना गया है उसके विषय में यह भी कहा गया है कि वह अपने गुणों से आच्छादित थी। गुण पर भी टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए हैं। **शंकरानन्द** गुण को लेकर दो विकल्प प्रस्तुत करते हैं। पहले में उनका मत है कि शुक्ल, लोहित एवं कृष्ण ही **देवात्मशक्ति** के गुण हैं। दूसरे विकल्प में वे सांख्यमत द्वारा स्वीकृत सत्त्व, रजस् एवं तमस् को प्रस्तुत करते हैं और साथ-साथ यह भी संकेत करते हैं कि वह अल्प बुद्धि वाले लोगों द्वारा प्राप्य नहीं है। **नारायण** गुण का अर्थ अविद्या करते हैं और कहते हैं कि जैसे द्रष्टा आवरण के कारण सूर्य की प्रभा को नहीं देख सकता, उसी प्रकार जीव भी अविद्या के कारण उस देवता की शक्ति को नहीं देख सकता है। **विज्ञानभगवान** एवं **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** दोनों ही गुण से सत्त्व, रजस् एवं तमस् का अर्थ ग्रहण करते हैं और उनके अनुसार सृष्टित्व, स्थापकत्व एवं संहारत्व भी गुण में ही सम्मिलित हैं। **शंकराचार्य** भी गुण से सत्त्व, रजस् एवं तमस् ही मानते हैं और कहते हैं कि सत्त्वादि गुण रूप उपाधि के कारण ही सत्त्व से विष्णु, रजस् से ब्रह्म और तमस् से महादेव को मानना चाहिए।

एवं तावद् 'देवात्मशक्तिं' 'यः कारणानि निखिलानि कालात्मना युक्तान्यधितिष्ठत्येकः' इत्येकस्याद्वितीयस्य परमात्मनः स्वरूपेण शक्तिरूपेण च निमित्तकारणोपादानकारणत्वं मायित्वेनेश्वररूपत्वं देवतात्मत्वसर्वज्ञत्वादिरूपत्वममायित्वेन सत्यज्ञानानन्दाद्वितीयरूपत्वं च समासेन श्रुत्यर्थाभ्यामभिहितम्। इदानीं तमेव सर्वात्मानं दर्शयति कार्यकारणयोरनन्यत्वप्रतिपादनेन। ... ...

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं
शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं
त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥४॥

शांकरभाष्यम्—

तमेकेति। य एकः कारणानि निखिलान्यधितिष्ठति तमेकनेमिं योनिः कारणमव्याकृतमाकाशं परमव्योम माया प्रकृतिः शक्तिस्तमोऽविद्या छायाज्ञानमनृतमव्यक्तमित्येवमादिशब्दैरभिलप्यमानैका कारणावस्था नेमिरिव नेमिः सर्वाधारो यस्याधिष्ठातुरद्वितीयस्य परमात्मनस्तमेकनेमिम्। त्रिवृतं त्रिभिः सत्त्वरजस्तमोभिः प्रकृतिगुणैर्वृतम्।

षोडशको विकारः पञ्चभूतान्येकादशेन्द्रियाण्यन्तोऽवसानं विस्तारसमाप्तिर्यस्यात्मनस्तं षोडशान्तम्। अथवा प्रश्नोपनिषदि "यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्ति' (२।२) इत्यारभ्य"स प्राणमसृजत् प्राणाच्छ्रद्धाम्" (६।४) इत्यादिना प्रोक्ता नामान्ताः षोडशकला अवसानं यस्येति। अथवैकनेमिमिति कारणभूताव्याकृतावस्थाभिहिता। तत्कार्यसमष्टिभूतविराट्सूत्रद्वयं तद्व्यष्टिभूतभूरादिचतुर्दश भुवनान्यन्तोऽवसानं यस्य प्रपञ्चात्मनावस्थितस्य तं षोडशान्तम्।

शतार्धारम्। पञ्चाशत्प्रत्ययभेदा विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्या अरा इव यस्य तं शतार्धारम्। पञ्च विपर्ययभेदाः—तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धतामिस्र इति। अशक्तिरष्टाविंशतिधा। तुष्टिर्नवधा। अष्टधा सिद्धिः। एते पञ्चाशत्प्रत्ययभेदाः। तत्र तमसो भेदोऽष्टविधः। अष्टसु प्रकृतिष्वनात्मस्वात्मप्रतिपत्तिविषयभेदेनाष्टविधत्वप्रतिपत्तेः। मोहस्य चाष्टविधो भेदः। अणिमादिशक्तिर्मोहः। दशविधो महामोहः। दृष्टानुश्रविकशब्दादिविषयेषु पञ्चसु पञ्चस्वभिनिवेशो महामोहः। दृष्टानुश्रविकभेदेन तेषां दशविधत्वम्। तामिस्रोऽष्टादशविधः। दृष्टानुश्रविकेषु दशसु विषयेष्वष्टविधैरैश्वर्यैः प्रयतमानस्य तदसिद्धौ यः क्रोधः स तामिस्रोऽभिधीयते। अन्धतामिस्रोऽप्यष्टादशविधः। अष्टविधैश्वर्ये दशसु विषयेषु भोग्यत्वेनोपस्थितेष्वर्धभुक्तेषु मृत्युना ह्रियमाणस्य यः शोको जायते महता क्लेशेनैते प्राप्ता न चैते मयोपभुक्ताः प्रत्यासन्नश्चायं मरणकाल इति सोऽन्धतामिस्र इत्युच्यते।

विपर्ययभेदा व्याख्याताः। अशक्तिरष्टाविंशतिधोच्यते—एकादशेन्द्रियाणामशक्तयो मूकत्वबधिरत्वान्धत्वप्रभृतयो बाह्याः। अन्तःकरणस्य पुरुषार्थयोग्यतातुष्टीनां विपर्ययेण नवधाऽशक्तिः। सिद्धीनां विपर्ययेणाष्टधाऽशक्तिः।

तुष्टिर्नवधा—प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याश्चतस्रः। विषयोपरमात्पञ्च। कश्चित्प्रकृतिपरिज्ञानात्कृतार्थोऽस्मीति मन्यते। अन्यः पुनः पारिव्राज्यलिङ्गं गृहीत्वा कृतार्थोऽस्मीति मन्यते। अपरः पुनः प्रकृतिपरिज्ञानेन किमाश्रमाद्युपादानेन वा किं बहुना कालेन अवश्यं मुक्तिर्भवतीति मत्वा परितुष्यति। कश्चित्पुनर्मन्यते विना भाग्येन न किञ्चिदपि प्राप्यते। यदि मम भाग्यमस्ति ततो भवत्येवात्रैव मोक्ष इति परितुष्यति। विषयाणामार्जनमशक्यमित्युपरम्य तुष्यति। शक्यमतो द्रष्टुमार्जितुमार्जितस्य रक्षणमशक्यमित्युपरम्य परितुष्यति। सातिशयत्वादिदोषदर्शनेनोपरम्य परस्तुष्यति। विषयाः सुतरामेवाभिलाषं जनयन्ति न च तद्भोगाभ्यासे तृप्तिरुपजायते।

तस्मादलमनेन पुनः पुनरसन्तोषकारणेनोपभोगेनेत्येवंसङ्गदोषदर्शनादुपरम्य कश्चित्तुष्यति। नानुपहत्य भूतान्युपभोगः संभवति। भूतोपघातभोगाच्चाधर्मः अधर्मान्नरकादिप्राप्तिरिति हिंसादोषदर्शनात्कश्चिदुपरम्य तुष्यति। प्रकृत्युपादानकालभाग्याश्चतस्रः। विषयाणामार्जनरक्षणविषयदोषसङ्गहिंसादोषात्पञ्च तुष्टय इति नव तुष्टयो व्याख्याताः।

सिद्धयोऽभिधीयन्ते—ऊहः शब्दोऽध्ययनमिति तिस्रः सिद्धयः। दुःखविघातास्तिस्रः। सुहृत्प्राप्तिर्दानमिति सिद्धिद्वयम्। ऊहस्तत्त्वं जिज्ञासमानस्योपदेशमन्तरेण जन्मान्तरसंस्कारवशात्प्रकृत्यादिविषयं ज्ञानमुत्पद्यते सेयमूहो नाम प्रथमा सिद्धिः। शब्दो नामाभ्यासमन्तरेण श्रवणमात्राद्यज्ज्ञानमुत्पद्यते सा द्वितीया सिद्धिः। अध्ययनं नाम शास्त्राभ्यासाद्यज्ज्ञानमुत्पद्यते सा तृतीया सिद्धिः। आध्यात्मिकस्याधिभौतिकस्याधिदैविकस्य त्रिविधदुःखस्य व्युदासाच्छीतोष्णादिजन्यदुःखसहिष्णोस्तितिक्षोर्यज्ज्ञानमुत्पद्यते तस्य आध्यात्मिकादिभेदात्सिद्धेस्त्रैविध्यम्। सुहृदं प्राप्य या सिद्धिर्ज्ञानस्य सा सुहृत्प्राप्तिर्नाम सिद्धिः। आचार्यहितवस्तुप्रदानेन या सिद्धिर्विद्यायाः सा दानं नाम सिद्धिः। एवमष्टविधा सिद्धिर्व्याख्याता।

एवं विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्याः पञ्चाशत्प्रत्ययभेदा व्याख्याताः।...

विंशतिप्रत्यराभिः। विंशतिप्रत्यरा दशेन्द्रियाणि तेषां च विषयाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाः। पूर्वोक्तानामराणां प्रत्यरा ये प्रतिविधीयन्ते कीलका अराणां दार्ढ्याय ते प्रत्यरा इत्युच्यन्ते। तैः प्रत्यरैर्युक्तम्। अष्टकैः षड्भिर्युक्तमिति योजनीयम्।

"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥"
(गीता ७।४)

इति प्रकृत्यष्टकम्। त्वक्चर्ममांसरुधिरमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धात्वष्टकम्। अणिमाद्यैश्वर्याष्टकम्। धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्याख्यभावाष्टकम्। ब्रह्मप्रजापतिदेवगन्धर्वयक्षराक्षसपितृपिशाचा देवाष्टकम्। अष्टावात्मगुणा ज्ञेयाः, दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहेति गुणाष्टकं षष्ठम्। एतैः षड्भिर्युक्तम्।

विश्वरूपैकपाशं स्वर्गपुत्रान्नाद्यादिविषयभेदाद्विश्वरूपं विश्वरूपो नानारूप एकः कामाख्यः पाशोऽस्येति विश्वरूपैकपाशम्। धर्माधर्मज्ञानमार्गभेदा अस्येति त्रिमार्गभेदम्। द्वयोः पुण्यपापयोर्निमित्तैकमोहो देहेन्द्रियमनोबुद्धिजात्यादिष्वनात्मस्वात्माभिमानोऽस्येति द्विनिमित्तैकमोहम्। अपश्यन्निति क्रियापदमनुवर्तते। अधीम इत्युत्तरमन्त्रसिद्धं वा क्रियापदम्॥४॥

उस एक नेमि, तीन वृत्त, सोलह अन्त, पचास अरों, बीस प्रत्यरों, छः अष्टकों, एक पाश, तीन मार्ग, दो निमित्त तथा एक मोह वाले (को उन्होंने देखा)।

एकनेमिम्—भारतीय दर्शन में सृष्टि प्रक्रिया के नाना रूप बताए गए हैं। उनमें से कुछ लोगों के मत के अनुसार संसार की उत्पत्ति कारणकार्यरूप में हुई है। अभी तक सृष्टि के कारण पर विचार किया गया था। अब कारणब्रह्म का चक्र रूप में वर्णन किया गया है। दर्शन में चक्र की कल्पना कोई नवीन कल्पना नहीं है। सृष्टि, प्रलय और फिर सृष्टि का निर्माण भी अपने-आप में एक प्रकार से चक्र ही है। पुनर्जन्मवाद भी चक्रवत् परिक्रमा ही है। कर्म फल भी एक प्रकार से चक्र ही है। यहाँ कारण ब्रह्म को एक चक्र के माध्यम से व्यक्त किया गया है। **शंकरानन्द** अविद्या को ही नेमि मानते हैं। **नारायण** नेमि को तान्त्रिक अर्थ में स्वीकार करते हैं और उनके अनुसार कुण्डली लक्षण से युक्त चित् शक्ति ही नेमि है। **विज्ञानभगवान**[1] और **उपनिषद् ब्रह्मयोगी** माया को नेमि मानते हैं और उनके अनुसार यह अखण्ड माया ही संसार में भ्रमण करने के लिए रथ की नेमि है। **शंकराचार्य** नेमि को परमात्मा की उस अवस्था से जोड़ते हैं जो योनि, कारण, अव्याकृत, आकाश, परव्योम, माया, प्रकृति, शक्ति, तम, अविद्या, छाया, अज्ञान, अनृत और अव्यक्त इत्यादि शब्दों से अभिव्यक्त होती है।

त्रिवृतम्—जिस नेमि का ऊपर जिक्र किया गया है उसके तीन वृत हैं। ये वृत क्या हैं, इस पर टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए हैं। **शंकरानन्द** सांख्यमत में स्वीकृत शुक्ल, लोहित तथा कृष्ण को ही तीन वृत मानते हैं। **नारायण** **त्रिवृत** के लिए तीन विकल्प प्रस्तुत करते हैं और उन सभी पर तन्त्र का प्रभाव प्रतीत होता है। पहले विकल्प में त्रिवृत में वात, पित्त तथा कफ ग्रहण किए गए हैं, दूसरे में ईडा, पिंगला सुषुम्ना और तीसरे में पृथिवी, जल तथा तेज ग्रहण किए गए हैं। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** के अनुसार सत्त्व, रजस् तथा तमस् ही तीन वृत हैं और ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव, जिनके द्वारा संसार उत्पत्ति, स्थिति और संहार की अवस्थाओं को प्राप्त होता है—ये सभी तीन वृत के अन्तर्गत आते हैं। **शंकराचार्य** भी **विज्ञानभगवान** के समान ही तीन वृत से सत्त्व, रजस् और तमस् ही ग्रहण करते हैं।

षोडशान्तम्—जिस कारण ब्रह्म का इस मन्त्र में निरूपण किया जा रहा है उसे सोलह अन्त वाला कहा गया है। **शंकरानन्द** तथा **नारायण** के मत के अनुसार ११ इन्द्रियाँ तथा पंचभूत—पृथिवी, जल, वायु, आकाश और अग्नि ही सोलह अन्त हैं। **नारायण** इसके अतिरिक्त **षोडशान्तम्** का एक अन्य विकल्प प्रस्तुत करते हैं कि अमावास्या के साथ जो सोलह तिथियाँ होती हैं उनका जो परिणाम (अन्त) है वह षोडशान्त है। **विज्ञानभगवान**[2] तथा **उपनिषद् ब्रह्मयोगी** के अनुसार प्रश्नो-

---

१. मायाशब्दनिर्दिष्टैकाऽखण्डा प्रकृतिः संसारस्थभ्रमणनिर्वाहकत्वेन नेमिः। पृ० १८०।

२. षोडशान्तं प्राणश्रद्धाभूतपञ्चकेन्द्रियमनोन्नवीर्यतपोमन्त्रकर्मलोकनामाख्याः प्रश्नोपनिषत्पठिताः षोडशकलाः। पृ०१८०।

पनिषद् के छठे प्रश्न में वर्णित १६ कलाएँ (प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम) ही सोलह अन्त हैं। जहाँ तक **शंकराचार्य** के मत का प्रश्न है वे भी इन्हीं सोलह कलाओं को ही सोलह अन्त मानते हैं और इसके साथ ११ इन्द्रियों एवं पंच महाभूतों (पृथिवी, जल, वायु, आकाश और अग्नि) को भी सोलह अन्त मानते हैं।

शतार्धारम्—पचास अरे वाला—**शंकरानन्द** के मत के अनुसार पचास अरे निम्नलिखित हैं :—

(i) अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश = ५ (पंचक्लेश)

(ii) तम, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र = ५ (विपर्यय)

(iii) अशक्तियाँ : २८

११ इन्द्रियाँ

८ सिद्धियाँ (ऊह, शब्द, अध्ययन, आध्यात्मिक दुःख, आधिभौतिक दुःख, आधिदैविक दुःख सुहृत्प्राप्ति और दान)

९ तुष्टियाँ (प्रकृति, उपादान, काल, भाग्य, उपार्जन, रक्षण, विषयतारतम्यदोष, संग और हिंसा)

(इन सब का अभावात्मक रूप अशक्ति है)

(iv) तुष्टियाँ ९

(प्रकृति, उपादान, काल, भाग्य, उपार्जन, रक्षण, विषयतारतम्यदोष, संग और हिंसा)

(v) तीन दुःख—आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक ३

५०

जहाँ तक पाँच विपर्यय एवं पाँच क्लेशों का प्रश्न है, दर्शन ग्रन्थों में इनको प्रायः[1] पर्याय भी कहा गया है। योगशास्त्र में पाँच विपर्ययों को पञ्चक्लेश कहा गया है। अनित्य में नित्यता, अपवित्र में पवित्रता, दुःख में सुख तथा अनात्मा में आत्म का बोध ही **अविद्या** है।[2] द्रष्टा पुरुष और दर्शनशक्ति बुद्धि का अभिन्न रूप में प्रतीत होना ही **अस्मिता** है।[3] सुख का अनुभव करने के बाद उसके या उसकी

१. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः। यो० सू० २।३। (क्लेशा इति पञ्चविपर्यया इति अर्थः। योगभाष्य २।३, सांख्य सू० ३.३७।

२. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। यो० सू० २।५।

३. दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता। यो० सू० २।६।

प्राप्ति के साधन के प्रति तृष्णा ही **राग** है।[१] दुःख की अनुभूति के अनन्तर उसको याद कर दुःख या उसके कारण के प्रति क्रोध की भावना ही **द्वेष** है।[२] प्रतिदिन अनेक प्राणी मृत्यु को प्राप्त होते हैं किन्तु स्वयं को उससे बचाने की तत्परता **अभिनिवेश** है।[३] यदि व्यापक रूप से विचार किया जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि पाँच क्लेश और पाँच विपर्यय एक दूसरे के पूरक हैं और अन्योन्य आश्रित हैं।

पाँच क्लेशों और पाँच विपर्ययों पर विचार करने के बाद अब अशक्तियों, तुष्टियों और सिद्धियों पर विचार करना प्रासंगिक होगा।

सबसे पहले अशक्तियाँ क्या हैं, इस पर विचार करते हैं। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है कि ११ इन्द्रियाँ, ६ तुष्टियाँ, और ८ सिद्धियों को मिलाकर इनका जो अभाव पक्ष है वह ही अशक्ति कहलाता है। इन्द्रियों की संख्या ११ बताई गई है। जब इन इन्द्रियों में अपने-अपने कार्य करने का सामर्थ्य समाप्त हो जाता है और परिणामतः पुरुष यथेष्ट रूप से इनका प्रयोग नहीं कर पाता है तब ११ इन्द्रियों में निम्नलिखित ११ प्रकार के दोष पाये जाते हैं : (१) **बाधिर्य** (सुनने का अभाव), (२) **कुण्ठता** (स्पर्शाभाव), (३) **अन्धत्व** (दिखाई न देना), (४) **जड़ता** (जिह्वा द्वारा रसास्वादन का अभाव), (५) **अजिघ्रता** (घ्राण शक्ति का अभाव), (६) **मूकता** (मूकभाव), (७) **कौण्ड्य** (वस्तुओं को ग्रहण न कर पाना), (८) **पंगुत्व** (चल न पाना), (९) **उदावर्त** (मल-मूत्र त्यागने में वायु का निकलना रुक जाना, (१०) **क्लैब्य** (मैथुन क्रिया का अभाव) और (११) **मन्दता** (संकल्प शक्ति का अभाव)। ११ इन्द्रियों के अभाव पक्ष के पश्चात् ९ तुष्टियों के अभाव पक्ष पर विचार करना आवश्यक है। ९ तुष्टियों का विपरीत भाव ही ९ अतुष्टियाँ हैं। ९ अतुष्टियाँ इस प्रकार हैं : (१) 'प्रधान (मूल प्रकृति) नहीं है'—इस प्रकार की प्रतीति का नाम **असुवर्णा** अतुष्टि है। (२) महत्तत्त्व की सत्ता को अस्वीकार करने वाली अतुष्टि को **अनिला** या **अज्ञानमलिना** कहा गया है। (३) अहंकार के अभाव की प्रतीति का नाम **मनोज्ञा** है। (४) तन्मात्राएँ तथा आकाशादि महाभूत भी वस्तुतः होते नहीं, इस प्रतीति को **अदृष्टि** की संज्ञा दी गई है। (५) इसी प्रकार धनार्जन में अतुष्टि **अपरा** नामक प्रवृत्ति है। (६) रक्षण में प्रवृत्त अतुष्टि **सुपरा** नामक प्रवृत्ति है। (७) सुपरा के विनाश में किसी प्रकार का दोष न समझना **असुनेत्रा** नामक अतुष्टि है। (८) भोग में आसक्ति **वसुनाडिका** नामक अतुष्टि है। (९) हिंसादि दोष को न देखते हुए भोग में प्रवृत्ति **अनुतमाम्भसिका** नामक अतुष्टि है। ये नौ प्रकार की अतुष्टियाँ एक प्रकार से बौद्धिक अशक्तियाँ ही हैं। जैसे तुष्टियों के ठीक विपरीत स्वभाव वाली अतुष्टियाँ हैं वैसे ही सिद्धियों के

---

१. सुखानुशयी रागः। यो० सू० २।७।

२. दुःखानुशयी द्वेषः। यो० सू० २।८।

३. स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः। यो० सू० २।९।

बिल्कुल विपरीत आठ असिद्धियाँ है। बिना अध्ययन के ही जिस किसी तत्त्व का आविर्भाव (१) **अप्रतार**, शास्त्र का यथावत् अध्ययन न करने पर अन्यार्थवाचक शब्द का अन्य अर्थ करना (२) **असुतार**, आगम के ठीक-ठीक ऊहापोह किए बिना उत्पन्न होने वाला ज्ञान (३) **अतारतार**, विरोधी व्यक्ति की सलाह के बिना ही होने वाला विपरीत ज्ञान (४) **अरम्यक**, दक्षिणा न देने से असन्तुष्ट गुरु से उत्पन्न वासनादि का उच्छेद न होना (५) **असदामुदित**, आध्यात्मिक दुःख से प्रपीड़ित होने पर भी संसार से उद्विग्न न होने से विवेक की जिज्ञासा न होना (६) **अप्रमोद**, आधिभौतिक दुःख से प्रपीड़ित होने पर भी उसके निवारण की जिज्ञासा न होना (७) **अमुदित** तथा राक्षस पिशाच एवं ग्रह आदि कृत आधिदैविक दुःख से संत्रस्त का भी कामिनी आदि में आसक्त होने से संसार से उद्वेग-जन्य जिज्ञासा का न होना (८) **आमोदमान** नामक आठ सिद्धियाँ कही गई हैं।[1] इस प्रकार ११ इन्द्रियों का अभाव, ९ अतुष्टियाँ और ८ असिद्धियाँ मिलकर २८ अशक्तियाँ कही जाती हैं। २८ अशक्तियों पर विचार करने के पश्चात् अब ९ तुष्टियों तथा ८ सिद्धियों का भी विश्लेषण कर लेना चाहिए। सांख्यकारिका में तुष्टियों की संख्या ९ बताई गई है।[2] **शंकराचार्य** एवं **शंकरानन्द** ने नौ तुष्टियों को इस प्रकार समझाया है। पहली चार तुष्टियाँ हैं : (१) **प्रकृति**, (२) **उपादान**, (३) **काल**, और (४) **भाग्य** नामवाली (सांख्यकारिका के अनुसार आन्तरिक) और पाँच तुष्टियाँ (सांख्यकारिका के अनुसार बाह्य) विषयों से उपरति हो जाने से होती हैं।

(१) **प्रकृति**—कोई पुरुष प्रकृति का ज्ञान होने पर ही यह मान लेता है कि मैं कृतार्थ हो गया।

(२) **उपादान**—कोई संन्यास के चिह्न धारण करने से ही 'मैं कृतार्थ हो गया' ऐसा अपने को मानने लगता है।

(३) **काल**—कोई प्रकृति का ज्ञान होने पर ऐसा मानकर सन्तुष्ट हो जाता है कि अब संन्यासाश्रमादि ग्रहण करने की क्या आवश्यकता है। बहुत काल बीतने पर अब तो अवश्य मुक्ति हो ही जाएगी।

(४) **भाग्य**—कोई ऐसा मानने लगता है कि बिना भाग्य के कुछ नहीं मिलेगा, यदि मेरा भाग्य होगा तो मुझे अवश्य यहीं मोक्ष प्राप्त हो जाएगा—ऐसा समझ कर वह सन्तुष्ट हो जाता है।

(५) कोई यह मानकर कि विषयों का उपार्जन करना असंभव है, उपरत होकर सन्तुष्ट हो जाता है।

---

१. सांख्यकारिका, ब्रजमोहन चतुर्वेदी, पृ० १६६-६७, दिल्ली १९६९।

२. आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभागाख्याः।
बाह्या विषयोपरमात् पञ्च च नव तुष्टयोऽभिमताः॥
—सांख्यकारिका ५०।

(६) कोई यह सोचकर कि विषयों का दर्शन और उपार्जन तो संभव है, परन्तु उपार्जित विषयों की रक्षा करना सम्भव नहीं है, उनसे उपरत होकर संतोष कर लेता है।

(७) कोई विषयों में न्यूनाधिकतादि दोष देखने से उनसे उपरत होकर सन्तुष्ट हो जाता है।

(८) विषय तो तत्संबंधी अभिलाषा को उत्पन्न करते हैं, उनके पुनः पुनः भोग से कभी तृप्ति नहीं होती। अतः पुनः पुनः असन्तोष के हेतुभूत इन विषयों के भोग को छोड़ो—इस प्रकार विषयासक्ति में दोष देखकर कोई उनसे उपरत होकर संतोष कर लेता है।

(९) जीवों की हिंसा किए बिना भोग मिलना संभव नहीं है और जीवहिंसा-पूर्वक भोग भोगने से अधर्म होगा तथा अधर्म से नरकादि की प्राप्ति होगी। इस प्रकार हिंसा रूप दोष देखकर कोई उनसे उपरत होकर सन्तोष कर लेता है।

जैसा पहले ही बतलाया जा चुका है कि सिद्धियों की संख्या ८ है।[1] इन आठ में से तीन **आध्यात्मिक दुःख**, **आधिभौतिक** तथा **आधिदैविक** दुःखों का विनाश—ये मुख्य सिद्धियाँ कही गई हैं और अन्य पाँच **ऊह**, **शब्द**, **अध्ययन**, **सुहृत्प्राप्ति** तथा **दान** गौण हैं और पहली तीन की साधिका बताई गई हैं। **शंकराचार्य** ने इन आठ सिद्धियों को इस प्रकार से समझाया है।

(१) **ऊह**—तत्त्व जिज्ञासु को उपदेश के बिना ही जन्मान्तर के संस्कार से जो प्रकृति आदि के विषय में ज्ञान उत्पन्न हो जाता है वह **ऊह** नाम की पहली सिद्धि है।

(२) **शब्द**—बिना अभ्यास के केवल श्रवना मात्र से ही जो ज्ञान उत्पन्न हो जाता है वह **शब्द** नाम की दूसरी सिद्धि है।

(३) **अध्ययन**—शास्त्र के अभ्यास से जो ज्ञान उत्पन्न हो जाता है उसे **अध्ययन** कहते हैं, यह तीसरी सिद्धि है।

(४-६) **आध्यात्मिक**, **आधिभौतिक** और **आधिदैविक**—इन त्रिविध दुःखों की उपेक्षा करने से शीतोष्णादिजनित दुःख सहन करने वाले तितिक्षु पुरुष को जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह दुःख विघात नाम की सिद्धि है; आध्यात्मिकादि भेद के कारण इस सिद्धि के भी तीन प्रकार हैं।

---

१. ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः॥

—सांख्यकारिका ५१।

(७) **सुहृत्प्राप्ति**—किसी सुहृद् के प्राप्त होने पर जो ज्ञान की सिद्धि होती है वह **सुहृत्प्राप्ति** नाम की सिद्धि है।

(८) **दान**—आचार्य को उसकी प्रिय वस्तु दान करने से जो ज्ञान की प्राप्ति होती है वह **दान** नाम की सिद्धि है।

अभी तक **शंकरानन्द** ने जिस प्रकार से **शतार्धारम्** की व्याख्या की है हमने उस पर विचार किया। इसी प्रसंग में हमने २८ अशक्तियों, ९ तुष्टियों तथा ८ सिद्धियों पर भी विचार कर लिया है। जहाँ तक **नारायण** के मत का प्रश्न है वे इसका तान्त्रिक अर्थ करते हैं और कहते हैं कि जो षट्चक्र में पचास दल हैं वे ही अरे हैं। **विज्ञानभगवान** एवं **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** शतार्धारम् के लिए दो विकल्प प्रस्तुत करते हैं। पहले विकल्प के अनुसार अकारादि जो पचास वर्ण हैं वे ही पचास पचास अरे हैं। इसके साथ-साथ वे (**विज्ञान भगवान्**) निम्नलिखित को पचास अरों की कोटि में रखते हैं : दो कान, त्वचा, दो नेत्र, जिह्वा, नासिका, वाक्, दो पैर, दो हाथ, मलमूत्र विसर्जन जननेन्द्रिय, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग, आनन्द, दिक्, वायु, आदित्य, वरुण, पृथिवी, अग्नि, इन्द्र, त्रि-विक्रम, मृत्यु, प्रजापति, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, मन्तव्य, बोद्धव्य, अहंकर्त्तव्य, चेतयितव्य, चन्द्र, बृहस्पति, रुद्र, क्षेत्रज्ञ, प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान। इस प्रकार **विज्ञानभगवान** ने इन पचास पदार्थों को पचास अरों की कोटि में रखकर इनका व्यापक विस्तार कर दिया है। **शंकराचार्य** के अनुसार पचास अरे निम्न-लिखित हैं :—

(i) तम, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र	= ५ विपर्यय
(ii) अशक्तियाँ (उपर्युक्त)	= २८
(iii) तुष्टियाँ (उपर्युक्त)	= ९
(iv) सिद्धियाँ (उपर्युक्त)	= ८
	५०

विंशतिप्रत्यराभिः—अभी तक पचास अरों का वर्णन किया जा रहा था। इसके बाद मन्त्र में बीस प्रत्यरों का जिक्र किया गया है। इस पर टीकाकारों ने भिन्न भिन्न मत व्यक्त किए हैं। **शंकरानन्द** के मत के अनुसार दस इन्द्रियाँ और उनके दस विषय ही २० प्रत्यरे हैं। इन्द्रियों[1] का विभाजन दो प्रकार से किया जाता है : **५** ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ और मन जो उभयात्मक माना गया है।

---

१. बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थान् कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥
—सांख्यकारिका २६ ।

	ज्ञानेन्द्रियाँ	विषय	कर्मेन्द्रियाँ	विषय
(१)	आँख	रूप	(१) वाणी	वचन
(२)	कान	शब्द	(२) हाथ	आदान
(३)	नासिका	गन्ध	(३) पैर	विहरण
(४)	जिह्वा	रस	(४) पायु	उत्सर्ग
(५)	त्वचा	स्पर्श	(५) उपस्थ	आनन्द

जहाँ तक **नारायण** के मत का प्रश्न है वे इसका तान्त्रिक अर्थ करते हैं और उनके अनुसार (षट्चक्र के अन्दर) स्थित होने वाली अंगुलियों से उपलक्षित ही बीस अरे हैं। **विज्ञानभगवान** और **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** दोनों ही बीस अरों से आठ वसु और बारह आदित्य मानते हैं तथा साथ-साथ **शंकरानन्द** के समान ही दस इन्द्रियाँ और दस विषयों को भी बीस अरों के अन्तर्गत मानते हैं।

अष्टकैः षड्भिः—जिस चक्र की कल्पना इस मन्त्र में की गई है उसमें छः अष्टक हैं। **शंकरानन्द** के अनुसार ये छः अष्टक निम्नलिखित हैं :—

(१) **करणाष्टक**—अव्यक्त, महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ[1] (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध)।

(२) **योगाष्टक**—यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

(३) सिद्ध्यष्टक—ऊह, शब्द, अध्ययन, दान, सुहृत्प्राप्ति, दुःखत्रयविघात (आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक)

(४) **अणिमाष्टक**—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व।

(५) **ग्रहाष्टक**—घ्राण, वाक्, रसना, चक्षु, श्रोत्र, मन, हस्त और त्वचा।

(६) **अतिग्रहाष्टक**—गन्ध, वक्तव्य, रस, रूप, शब्द, काम, कर्म और स्पर्श।

शंकरानन्द इन छः अष्टकों के अतिरिक्त छः अन्य अष्टकों का विकल्प भी प्रस्तुत करते हैं, जिनमें दो अष्टक (ग्रहाष्टक और अतिग्रहाष्टक) के अतिरिक्त निम्नलिखित चार अष्टक सम्मिलित हैं :—

(१) **आयतनाष्टक**—पृथिवी, काम, रूप, आकाश, तम, आप, रेतस्, आयतन।

(२) **लोकाष्टक**—पृथिवीलोक, भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महल्लोक, जनलोक, तपोलोक, सत्यलोक।

(३) **देवाष्टक**—अमृत, स्त्री, सत्य, दिशा, मृत्यु, असुः, वरुण, प्रजापति।

(४) **पुरुषाष्टक**—शरीर, काममय, आदित्य, श्रोत्र, छायामय, आदर्शस्थ, उदकस्थ पुत्रमय।

---

१. सांख्यकारिका २४।

नारायण छः अष्टकों का तान्त्रिक अर्थ करते हैं और उनके मत के अनुसार षट्चक्र की छः कर्णिकाएँ ही छः अष्टक हैं। **नारायण** के सामने अष्टकैः का संभवतः एक और पाठान्तर रहा होगा—"**अक्षकैः**"। यदि "**अक्षकैः**" पाठ को स्वीकार करें तो उनका कहना है कि **अक्षकैः षड्भिः** का तात्पर्य होगा कि ऐसा षट्चक्र जिसके शीर्ष पर अकारादि से लेकर क्षकारादि तक के वर्ण अंकित हों। **विज्ञानभगवान**, **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** तथा **शंकराचार्य** उन छः अष्टकों को ही स्वीकार करते हैं जिनका संकेत गीता (७.४) में **अष्टधा प्रकृतिः** कह कर किया गया है। वे छः अष्टक निम्नलिखित हैं :—

(१) **धात्वष्टक**—त्वचा, चर्म, मांस, रुधिर, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र।

(२) **प्रकृत्यष्टक**—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार।

(३) **ऐश्वर्याष्टक**—अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व।

(४) **भावाष्टक**—धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य।

(५) **देवाष्टक**—ब्रह्मा, प्रजापति, देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितृगण और पिशाच।

(६) **गुणाष्टक**—दया, क्षमा, अनसूया, शौच, अनायास, मंगल, अकृपणता और अस्पृहा।

त्रिमार्गभेदम्—तीन हैं मार्ग भेद जिसके। देवयान, पितृयान और कृमि-कीटादि मार्ग भी **शंकरानन्द** के अनुसार तीन मार्ग हैं। **नारायण**, **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** अर्चिमार्ग, धूममार्ग तथा अधोगति को ही तीन मार्ग मानते हैं। **शंकराचार्य** के अनुसार धर्म, अधर्म और ज्ञान ही तीन मार्ग हैं।[1]

पूर्वं चक्ररूपेण दर्शितमिदानीं नदीरूपेण दर्शयति—

पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां
पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां
पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥५॥

---

१. इस पर मैक्समूलर का मत है कि संभवतः इस मन्त्र का उद्देश्य तात्कालिक दार्शनिक विचार धाराओं की स्वीकृत दार्शनिक शब्दावली का निरूपण करना है या यह केवल मात्र कल्पना है।—सेक्रिड बुक्स ऑफ् दि ईस्ट, वाल्यूम १५, भाग २, (उपनिषद्) पृ० २३२, १९६५।

शांकर भाष्य—पञ्चस्रोतोऽम्बुमिति । पञ्च स्रोतांसि चक्षुरादीनि ज्ञानेन्द्रियाण्यम्बुस्थानानि यस्यास्तां नदीं पञ्चस्रोतोऽम्बुम् । अधीम इति सर्वत्र संबध्यते । पञ्चयोनिभिः कारणभूतैः पञ्चभूतैरुग्रां वक्रां च पञ्चयोन्युग्रवक्राम् । पञ्च प्राणाः कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाण्यादयो वोर्मयो यस्यास्तां पञ्चप्राणोर्मिम् । पञ्चबुद्धीनां चक्षुरादिजन्यानां ज्ञानानामादिः कारणं मनः । मनोवृत्तिरूपत्वात्सर्वज्ञानानां मनो मूलं कारणं यस्याः संसारसरितस्ताम् । तथा च मनसः सर्वहेतुत्वं दर्शयति—

"मनोविजृम्भितं सर्वं यत्किञ्चित्सचराचरम् ।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥"

इति । पञ्च शब्दादयो विषया आवर्तस्थानीयास्तेषु विषयेषु प्राणिनो निमज्जन्तीति यस्यास्तां पञ्चावर्ताम् । पञ्च गर्भदुःखजन्मदुःखजरादुःखव्याधिदुःखमरणदुःखान्येवौघवेगो यस्यास्तां पञ्चदुःखौघवेगाम् । अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशभेदाः पञ्च पर्वाण्यस्यास्तां पञ्चपर्वामिति ॥५॥

जिसमें पाँच स्रोत की जलधाराएँ हैं, जो पाँच उद्‌गमस्थलों पर भयानक एवं वक्र है; जिसमें पाँच प्राणरूपी लहरे हैं; पाँच प्रकार के ज्ञानों का मूल जिसका कारण है; जिसमें पाँच भंवर है; पाँच दुःख जिसकी बाढ़ हैं; जिसमें पचास भेद हैं ऐसी पाँच जोड़ों वाली (नदी) पर हम मनन करते हैं ।

पञ्चस्रोतोऽम्बुम्—पिछले मन्त्र में कारणब्रह्म का निरूपण चक्र रूप में किया गया है। इस मन्त्र में कार्य ब्रह्म का निरूपण नदी रूप में किया गया है । उपनिषदीय शैली के अन्तर्गत कभी तो सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्व को अतीव स्थूल ढंग से दर्शाया जाता है और कभी स्थूल बात को सूक्ष्म ढंग से प्रकट किया जाता है । इस मन्त्र में स्थूल ब्रह्माण्ड को नदी रूप में कल्पित किया गया है और लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा नदी के विभिन्न तत्त्वों का निरूपण किया गया है । **पञ्चस्रोतोऽम्बुम्** का अर्थ है : जिसमें पाँच स्रोत जल की धाराएँ हैं । **शंकरानन्द**[1] कहते हैं कि पाँच इन्द्रिय-छिद्र ही जिसके स्रोत हैं परन्तु साथ-साथ वे कहते हैं कि वैसे तो शरीर में बीस इन्द्रिय-छिद्र हैं तो फिर कौन सी पाँच इन्द्रियाँ ली जाएँ । तो फिर नेत्र, कान और नासिका के छः छिद्रों में से तीन को लिया जाना चाहिए, चौथा रसना का छिद्र मुख और पाँचवीं त्वचा को लिया जाना चाहिए । इस प्रकार **शंकरानन्द** के मत के अनुसार नेत्र, कान, नासिका, मुख और त्वचा ही पाँच स्रोत हैं । **नारायण** के मत के अनुसार संसार के विषय वासना ही पाँच स्रोत (प्रवाह) हैं । **विज्ञान-**

---

१. यद्यपि देहे नवैकदशान्तानिच्छिद्राणि तथापि च्छिद्रद्वयमेकैकस्य चक्षुः श्रोत्रघ्राणानां त्रयाणामपीति षट्कं छिद्राणां त्रिषु आस्यच्छिद्रं रसनायाः । शेषं छिद्रजातं त्वच इति । पृ० ९२ ।

भगवान, **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** तथा **शंकराचार्य** यह मानते हैं कि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (आँख, कान, नासिका, जिह्वा तथा त्वचा) ही पाँच स्रोत हैं।

पञ्चयोन्युग्रदक्राम्—**शंकरानन्द** के अनुसार पंच महाभूत ही (पृथिवी, अग्नि, जल, आकाश, तथा वायु) पाँच योनियाँ हैं। इसके साथ-साथ **शंकरानन्द** एक अन्य पाठ भेद की ओर संकत करते हुए कहते हैं कि संभवतः **पञ्चयोन्युग्रवक्राम्**" के स्थान पर "**पञ्चयोन्युग्रदक्त्राम्**" पाठ रहा होगा। **शंकरानन्द** कहते हैं कि नरक को जाने वाली और असुर प्रवृत्तियों वाली पाँच इन्द्रियाँ ही पाँच योनियाँ हैं। "**पञ्चयोन्युग्रवक्त्राम्**" पाठ होने पर इसका आशय कुटिल तथा आसुरी प्रवृत्तियों से ही है। **नारायण** इस संदर्भ में कहते हैं कि पाँच इन्द्रियाँ ही अविद्या के उत्पत्ति स्थान हैं और अनित्यता में नित्यता, अपवित्रता में पवित्रता दुःख में सुख तथा अनात्मा में आत्मा के बोध की उत्पत्ति इन्द्रियों से ही होती है। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** कहते हैं कि पाँच तन्मात्राएँ (योनि) अपनी गति, प्रवाह तथा संनिवेश के कारण ही बहुत वक्र हैं। **शंकराचार्य** का कहना है कि पाँच योनियों अर्थात् पाँच कारण भूतों से जो उग्र तथा वक्र है।

पञ्चप्राणोर्मिम्—सभी टीकाकारों ने पाँच प्राणों—प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान—को ही पाँच तरंगों के रूप में स्वीकार किया है।

पञ्चबुद्धयादिमूलाम्—**शंकरानन्द** के मत के अनुसार शब्द, रूप, रस तथा गन्ध-ये सभी हमारी पाँच इन्द्रियों के ज्ञान भेद हैं। **आदि** शब्द से तत् तत् संबंधी इच्छा भेद उन्हीं से उत्पन्न होते हैं, अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ही जिसमें मूल कारण हैं। **नारायण** बुद्धि, मन, चित्त अहंकार और विषयवासना को पाँच बुद्धियों की कोटि में सम्मिलित करते हैं। इसके साथ-साथ वे कहते हैं कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तथा गन्ध का जो निर्विकल्पक ज्ञान है वही जिसका प्रथम (मूल) कारण है। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** के मत के अनुसार विज्ञान, शक्ति और अहंकार ही पाँच ज्ञानेन्द्रियों के मूल कारण हैं। **शंकराचार्य** का कहना है कि पाँच ज्ञानेन्द्रियों से होने वाले पाँच ज्ञानों का कारण मन है; क्योंकि समस्त ज्ञान मनोवृत्ति रूप है।

पञ्चावर्ताम्—पाँच हैं भँवर जिसमें। **शंकरानन्द** का कहना है कि जल के भँवर के समान जिसमें पाँच भँवर हैं। **नारायण** विषयों के नाना रूप को ही भँवर मानते हैं और ये भँवर नदी की गति को रोकते हैं। **विज्ञानभगवान**[1] तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** यह मानते हैं कि पाँच महाभूत—आकाश, अग्नि, पृथिवी जल, वायु आदि के शब्द, रूप, गन्ध, रस, एवं स्पर्श गुण ही उनके आवर्त हैं। यहाँ पर इस प्रकार

---

१. आकाशादीनि पञ्च महाभूतान्युत्तरोत्तरमेकैकाधिकशब्दादिगुणान्यावर्तस्थानीयानि यस्यास्ताम्। पृ० १८२।

का अर्थ करने में संभवतः इन दोनों टीकाकारों का आशय गुणगुणीभाव से है। **शंकराचार्य** के अनुसार शब्द, रूप, गन्ध रस तथा स्पर्श ही आवर्त हैं जिसमें मनुष्य डूब जाते हैं।

पञ्चदुःखौघवेगाम्—जिसमें पाँच दुःख रूप औघवेग हैं। **शंकरानन्द** का इस पर यह मत है कि संसार में पाँच इन्द्रियों से दुःख की प्राप्ति होती है और यदि यह माना जाए कि उनसे सुख की प्राप्ति होती है तो आत्यन्तिक सुख से भी दुःख की प्रतीति होती है। दुःखों की अनुभूति के बिना दुःख प्रवाह के समान है और उस प्रवाह का वेग अतीव द्रुतगति वाला है। **नारायण** का भी यही कथन है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द से पाँच प्रकार के दुःखों की उत्पत्ति होती है। **विज्ञानभगवान**, **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** तथा **शंकराचार्य** गर्भ दुःख, जन्म दुःख, व्याधि दुःख, जरा दुःख, तथा मरण दुःख को ही पाँच औघवेग मानते हैं। **विज्ञानभगवान** के मत के अनुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश (पंचक्लेश) भी औघवेग हो सकते हैं।

पञ्चाशद्भेदाम्[1]—जिस नदी में पचास भेद हैं। यहाँ **शंकरानन्द** उन्हीं पचास भेदों को स्वीकार करते हैं जिनकी व्याख्या चौथे मन्त्र में **शतार्धारम्** के अन्तर्गत की जा चुकी है। **नारायण** इसका तान्त्रिक अर्थ करते हैं कि पचास दल वाले चित्त में जो पचास बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं वही पचास भेद हैं। इसके अतिरिक्त ओंकार की पचास कलाएँ भी पचास भेद हो सकते हैं।[2] **विज्ञानभगवान**[3] तथा **उपनिषद् ब्रह्मयोगी** मानते हैं कि पचास अक्षर भेद ही पचास भेद हैं। क्योंकि **शंकराचार्य** चौथे मन्त्र में **शतार्धारम्** के अन्तर्गत पचास की विस्तार से व्याख्या प्रस्तुत कर चुके हैं। अतः उन्होंने यहाँ पर **पञ्चाशद्भेदाम्** की व्याख्या करना उचित नहीं समझा।

पञ्चपर्वाम्—**शंकरानन्द**, **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** पाँच विपर्ययों (तम, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अन्धतामिस्र) को पाँच पर्व मानते हैं जब कि **शंकराचार्य** पाँच क्लेशों (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश) को पाँच पर्व मानते हैं। जहाँ तक इनके परस्पर अन्तर्भाव का संबंध है, **योग भाष्य**[4] के अनुसार पाँच क्लेश ही पाँच विपर्यय हैं। परन्तु अन्नमय कोश, प्राणमय

---

१. डा० रोअर इसके स्थान पर **पञ्चक्लेशभेदाम्** पाठ मानते हैं परन्तु। यह छन्द की दृष्टि से ठीक नहीं जमता (सेक्रिड बुक्स ऑफ़ दि ईस्ट, वाल्यूम् १५ भाग २ (उपनिषद्), पृ० २३४, १९६५।

२. यद्वोंकारस्य पञ्चाशत्कलास्ताभ्यः पञ्चाशद्वर्णा वर्णात्मा च वेदा वेदोद्भवं च जगत्। पृ० १४८।

३. पञ्चाशद्भेदां पञ्चाशदक्षरभेदा यस्यास्तां पूर्वोक्ताः सर्व एव अत्रापि गृह्यन्ते। पृ० १८२।

४. क्लेशा इति पञ्च विपर्यया इति अर्थः। योगभाष्य २.३; सांख्य सूत्र ३.३७।

कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश तथा आनन्दमय कोश ही पाँच पर्व हैं, ऐसा **नारायण** स्वीकार करते हैं। इसके साथ-साथ वे पाँच क्लेशों को भी पाँच पर्वों की कोटि में रखते हैं।

एवं तावन्नदीरूपेण ब्रह्मचक्ररूपेण च कार्यकारणात्मकं ब्रह्म सप्रपञ्चमिहाभिहितम्। इदानीमस्मिन्कार्यकारणात्मकब्रह्मचक्रे केन वा संसरति केन वा मुच्यत इति संसारमोक्षहेतुप्रदर्शनायाह—

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते
अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा
जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥६॥

शांकर भाष्य—**सर्वाजीव इति। सर्वेषामाजीवनमस्मिन्निति सर्वाजीवे। सर्वेषां संस्था समाप्तिः प्रलयो यस्मिन्निति सर्वसंस्थे। बृहन्तेऽस्मिन्हंसो जीवः। हन्ति गच्छत्यध्वानमिति हंसः। भ्राम्यतेऽनात्मभूतदेहादिमात्मानं मन्यमानः सुरनरतिर्यगादिभेदभिन्ननानायोनिषु। एवं भ्राम्यमाणः परिवर्तत इत्यर्थः।**

केन हेतुना नानायोनिषु परिवर्तते? इति तत्राह—पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वेति। आत्मानं जीवात्मानं प्रेरितारं चेश्वरं पृथग्भेदेन मत्वा ज्ञात्वा 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मि' इति जीवेश्वरभेददर्शनेन संसारे परिवर्तत इत्यर्थः।

केन मुच्यते? इत्याह—जुष्टः सेवितस्तेनेश्वरेण चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनाहं ब्रह्मास्मीति समाधानं कृत्वेत्यर्थः। तेनेश्वरसेवनादमृतत्वमेति। यस्तु पूर्णानन्दब्रह्मरूपेणात्मानमवगच्छति स मुच्यते। यस्तु परमात्मनोऽन्यमात्मानं जानाति स बध्यत इति। ... ...

(जब) जीव अपने आपको प्रेरक से पृथक् मानता है तो वह सबके लिए आश्रयभूत, प्रलयस्थान और महान् ब्रह्मचक्र में भ्रमण करता है तथा उसके प्रसन्न होने पर अमृतत्व को प्राप्त करता है।

सर्वाजीवे—जो सब का जीवन (आश्रय) है। **शंकरानन्द** इसको समग्र जीवन के रूप में मानते हैं जब कि **नारायण** इसका अर्थ जीवन का हेतु करते हैं क्योंकि हम जीवन में भोगों का उपभोग करते हैं। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** यह मानते हैं कि हमें संसार में चेतन तथा अचेतन सभी पदार्थों की उपस्थिति का आभास स्फुरण, तथा आनन्द रूप में प्राप्त होता है जैसे शुक्त्यादि में रजताभासादि। उसी प्रकार से इस जीवन में हमें भी स्फुरण तथा आनन्द की अनुभूति होती है। **शंकराचार्य** भी इसको समस्त जीवन के रूप में ग्रहण करते हैं।

सर्वसंस्थे—सबकी विलय का स्थान। यह शब्द अर्थ की दृष्टि से अतीव महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह संस्था नामक शब्द पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। आज-कल संस्था का अर्थ है संगठन। परन्तु प्राचीन काल में इसका आशय एक ऐसे स्थान से था जहाँ पर हर एक वस्तु जाकर विलीन हो जाती थी। **शंकरानन्द** इसका अर्थ मरण करते हैं परन्तु **नारायण**[1] इसका आशय वाणी आदि इन्द्रियों की स्थिति से लेते हैं। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** इसका अर्थ लय करते हैं तथा **शंकराचार्य** इसका अर्थ समाप्ति या प्रलय करते हैं।

हंसः—**हंस** शब्द का प्रयोग उपनिषदों में अनेक स्थलों पर किया है : **छान्दोग्योपनिषद्** ४.१.२; ४,७.१; **कठोपनिषद्** ५.२; **मैत्रायणी उपनिषद्** ६.८; ६.३४; ६.३५; **क्षुरिकोपनिषद्** २२; **तेजोबिन्दु उपनिषद्**; ४; **हंसोपनिषद्** १; **मुक्तोपनिषद्** ; १.३१। इसके अतिरिक्त स्वयं **श्वेताश्वतरोपनिषद्** में **हंस** शब्द का प्रयोग तीन बार हुआ है। १.६; ३.१८ और ६.१५। यहाँ इस मन्त्र में **हंस** जीवात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है : **शंकरानन्द**[2] यहाँ हन् धातु का गति संबंधी अर्थ स्वीकार करते हुए कहते हैं कि जो संसारचक्र को जाता है वह ही जीव है। **नारायण** का कहना है कि **हंस** अपने विभिन्न कर्मों के कारण नाना योनियों को प्राप्त होता है। इसके साथ-साथ इसका तान्त्रिक अर्थ करते हुए **नारायण**[3] का विचार है कि यह जीव ही है जो पचास दल वाले हृदय कमल में पचास प्रकार की बुद्धियों को उत्पन्न करता हुआ अपनी वासनाओं के कारण कर्म से युक्त होकर विचरण करता है। **विज्ञानभगवान** हंस शब्द की विस्तार से व्याख्या करते हैं और इसको आत्मा के रूप में स्वीकार करते हैं। सर्वप्रथम आत्मा इस जाग्रत् अवस्था में स्थूल कार्य कारण भाव (मोटे तौर पर उस परमात्मा (कारण) से इस संसार (कार्य) की उत्पत्ति हुई है) को समझ कर उसका परित्याग कर देती है। इसके पश्चात् वासनामय सूक्ष्म कार्यकारण भाव को स्वप्न में छोड़ देती है। सुषुप्ति-काल में माया से संबंध न होने के कारण ब्रह्म को प्राप्त हो जाती है। इसके पश्चात् प्रारब्ध कर्मों के समाप्त होने पर आत्मा वर्तमान कार्यकारणभाव का परित्याग करके अविद्या (कर्मों) के कारण शरीर का परित्याग करती है। इसके पश्चात् आत्मा अपनी विद्या के कारण तम का विनाश करके चिन्मात्र तथा सुखमयी स्थिति को प्राप्त करके और अन्ततः इस स्थिति के उपरान्त वह अखण्ड, सत्य तथा चिन्मात्र ब्रह्म के दर्शन के कारण मोक्ष को प्राप्त हो जाती है। **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** यह मानते

---

१. सर्वेषां संस्था वागादीनां स्थितिः। पृ० १४६।

२. हंसः हन्ति गच्छति संसारचक्रं यः स हंसो जीव इत्यर्थः। पृ० ६३।

३. यद्वा हंसो जीवः पञ्चाशद्दलेषु पञ्चाशद् बुद्धिजननार्थं वासनाभिः कर्मसहिताभिर्भ्राम्यत इत्यर्थः। पृ० १४६।

हैं कि **नेति नेति** के माध्यम से जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि का निवारण करने के पश्चात् जो अन्त में अवशिष्ट रह जाता है वह आत्मा ही हंस है। **शंकराचार्य** मानते हैं कि संसार मार्ग में गमन करने के कारण से ही जीव को हंस कहा जाता है।

पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा—उपनिषत्कार के इन शब्दों में संसार में दुःख के कारण की ओर संकेत किया है कि जीवात्मा इस संसार में क्यों विचरण करती है। जब व्यक्ति अपने आपको पृथक् मानता है और उस परमात्मा सर्वशक्तिमान् तथा परमेश्वर को पृथक् मानता है तब संसार में बार बार विचरण करता है। उपनिषद् के अनुसार उसमें भेद दृष्टि ही दुःख का कारण है। यह उपनिषद् बार-बार प्रतिपादित करता है कि **भोक्ता** (जीवात्मा), **भोग्य** (संसार) तथा **प्रेरित** (परमात्मा) इन तीनों का मिला जुला रूप ही ब्रह्म है : **भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्**। (श्वेताश्वतर १.१२) **भोक्ता, भोग्य** तथा **प्रेरक**—यह त्रिपुटी ही ब्रह्म है। यदि इसे जान लिया तो ठीक है और यदि नहीं जाना तो महान् विनाश है। उपनिषद् का वचन है : **नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्** (श्वेताश्वतर १.१२)। यहाँ **शंकरानन्द** एक भिन्न मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि संसार के सोपाधिक कारण और संसार के निमित्त कारण—अर्थात् संसार के प्रवर्तयिता को पृथक् मानकर और अपने आपको प्रेरिता मानकर मनुष्य संसार में विचरण करता है। उनका कहना है कि यहाँ **चकार** का प्रयोग एव के अर्थ में हुआ है।[1] अपने आपको प्रेरिता (ईश्वर) मानना ही ब्रह्म चक्र में विचरण करने का कारण है। **नारायण** मानते हैं कि समाज में जो प्रत्येक से भिन्न है ऐसा परमात्मा ही परमहंस या प्रेरिता है। वह परमहंस परमात्मा ही सबका प्रेरक है। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का विचार है कि जैसे महाकाश और घटाकाश आपस में भिन्न नहीं हैं वैसे ही जो व्यक्ति अपनी आत्मा को परमात्मा से भिन्न मानता है ऐसा व्यक्ति संसार चक्र में भ्रमण करता है। उनका साथ-साथ यह भी कहना है जो यह मानता है कि वह (परमात्मा) कोई अन्य देवता है और मैं कोई अन्य हूँ ऐसा व्यक्ति बार-बार मृत्यु को प्राप्त होता है। **शंकराचार्य** भी यही मानते हैं कि जो ईश्वर और जीव में भेद का दर्शन करता है ऐसा व्यक्ति संसार में भ्रमण करता है।

रामानुज ने ब्रह्मसूत्र (१.१.१) पर अपने भाष्य में इस मन्त्र का प्रयोग किया है। उनका कहना है कि जीवात्मा और ब्रह्म एक दूसरे से विजातीय हैं और उस ब्रह्म का ज्ञान ही पुरुषार्थ या मोक्ष के साधन का उपाय है और उस जीवात्मा और ब्रह्म की विजातीयता '**पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा**' इत्यादि वाक्य से सिद्ध हो जाती है।

---

१. चकार एवकारार्थ आत्मानमेव प्रेरितारमीश्वरं मत्वा (शङ्करानन्द), पृ० ६३।

ननु तमेकनेमिमित्यादिना सप्रपञ्चं ब्रह्म प्रतिपादितम् । तथा च सत्यहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मात्मप्रतिपत्तावपि सप्रपञ्चस्यैव ब्रह्मण आत्मत्वेनावगमात् "तं यथा यथोपासते तदेव भवति" इति सप्रपञ्चब्रह्मप्राप्तिरेव स्यात् । ततश्च प्रपञ्चस्यापरित्यागान्न मोक्षसिद्धिः ततश्च जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेतीतिमोक्षोपदेशोऽनुपपन्न एवेत्याशङ्क्याह—

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म
तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च ।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा
लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥७॥

शांकर भाष्य—उद्गीतमिति । सप्रपञ्चं ब्रह्म यदि स्यात्ततो भवत्येव मोक्षाभावः । न त्वेतदस्ति । कस्मात् ? यत उद्गीतमुद्धृत्य गीतमुपदिष्टं कार्यकारणलक्षणात्प्रपञ्चाद्वेदान्तैः । ···

यत एवं प्रपञ्चधर्मरहितं ब्रह्मात एव परमं तु ब्रह्म । तुशब्दोऽवधारणे । परममेवोत्कृष्टमेव । संसारधर्मानास्कन्दितत्वात् । उद्गीतत्वेन ब्रह्मण उत्कृष्टत्वात् । "तं यथा यथोपासते" इति न्यायेनोत्कृष्टब्रह्मोपासनादुत्कृष्टमेव फलं मोक्षाख्यं भवत्येवेत्यभिप्रायः ।

नन्वेवं तर्हि ब्रह्मणः प्रपञ्चासंसृष्टत्वे प्रपञ्चस्यापि ब्रह्मासंसर्गात्सांख्यवाद इव प्रपञ्चस्यापि पृथक्सिद्धत्वेन स्वतन्त्रत्वाद् "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छा० उ० ६।१।४) इति पारतन्त्र्याभ्युपगमेन मिथ्यात्वोपदेशपूर्वकमद्वितीयब्रह्मात्मत्वेनोपदेशोऽनुपपन्नश्चेत्याशङ्क्याह—

तस्मिंस्त्रयमिति । यद्यपि ब्रह्मप्रपञ्चासंस्पृष्टं स्वतन्त्रं च तथापि प्रपञ्चो न स्वतन्त्रः । अपि तु कस्मिन्नेव ब्रह्मणि त्रयं प्रतिष्ठितं भोक्ता भोग्यं प्रेरितारमिति वक्ष्यमाणं भोग्यभोक्तृनियन्तृलक्षणम् । "अजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता" इति वक्ष्यमाणं भोक्तृभोग्यार्थरूपं चान्यद्वेदं श्रुतिसिद्धं विराट्सूत्राभ्यां कृतं नामरूपकर्मविश्वतैजसप्राज्ञजाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरूपस्वरूपं प्रतिष्ठितं रज्ज्वामिव सर्पः । यत एतस्मिन्सर्वं भोक्त्रादिलक्षणं प्रपञ्चरूपं प्रतिष्ठितम्, अत एवास्य भोक्त्रादित्रयात्मकस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्म सुप्रतिष्ठा शोभनप्रतिष्ठा । ब्रह्मणोऽन्यस्य चलनात्मकत्वाच्चलप्रतिष्ठान्यत्र । ब्रह्मणोऽचलत्वादत्राचलप्रतिष्ठा ।

नन्वेवं तर्हि विकारभूतप्रपञ्चाश्रयत्वेन परिणामित्वाद्दध्यादिवदनित्यं स्यादित्यशङ्क्याह—अक्षरं चेति । यद्यपि विकारः प्रपञ्चाश्रयस्तथाप्यक्षरं न क्षरतीत्यक्षरम् । चशब्दोऽवधारणे अविनाश्येव ब्रह्म, मायात्मकत्वाद्विकारस्य । विकाराश्रयत्वेऽप्यविनाश्येव कूटस्थं ब्रह्मावतिष्ठत इत्यभिप्रायः । मायात्मकत्वं च प्रपञ्चस्य

पूर्वमेव प्रपञ्चितम् । तस्मात्सर्वात्मकत्वेऽपि ब्रह्मणः प्रपञ्चस्य मिथ्यात्मकत्वेन ब्रह्मणः प्रपञ्चासंसर्गात्पूर्णानन्दब्रह्मात्मानं पश्यतो मोक्षाख्यः परमपुरुषार्थो भवतीत्यर्थः ।

कथं तस्यात्मानं पश्यतो मोक्षसिद्धिरित्यत आह—अत्रास्मिन्नन्नमयाद्यानन्दमयान्ते देहे विराडाद्यव्याकृतान्ते वा प्रपञ्चे पूर्वपूर्वोपाधिप्रविलयेनोत्तरोत्तरमप्यशनायाद्यसंस्पृष्टं वाचामगोचरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि विश्वाद्युपसंहारमुखेन लयं गता अहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मरूपेणैव स्थिता इत्यर्थः । तत्पराः समाधिपराः किं कुर्वन्ति योनिमुक्ता भवन्ति गर्भजन्मजरामरणसंसारभयान्मुक्ता भवन्तीत्यर्थः ।

परम ब्रह्म का वर्णन किया जा चुका है, (भोक्ता, भोग्य तथा नियन्ता) ये तीन उसी में प्रतिष्ठित हैं और वह अविनाशी है । ब्रह्मवेत्ता लोग यहाँ सार को समझ कर ब्रह्म में लीन होकर, समाधि में स्थित होकर जन्म से मुक्त हो जाते हैं ।

त्रयम्—जो सर्वोत्तम ब्रह्म है उसका वर्णन किया जा चुका है । संभवतः इसका संकेत छठे मन्त्र में प्रयुक्त हुए **सर्वाजीवे, सर्वसंस्थे** तथा **बृहन्ते** आदि शब्दों से है । यहाँ यह प्रतिपादित किया गया है कि उसी ब्रह्म में, जिसका वर्णन ऊपर किया गया है, तीनों स्थित हैं । ये तीन क्या हैं ? इस पर टीकाकारों में मत भेद है । **शंकरानन्द**[1] के अनुसार सांख्य मत में स्वीकृत लोहित, शुक्ल तथा कृष्ण—ही तीन हैं जो ब्रह्म में प्रतिष्ठित हैं या संसार का जन्म, स्थिति एवं विनाश—ये तीन स्थितियाँ जिस ब्रह्म में सुप्रतिष्ठित हैं । **नारायण** ऐसा मानते हैं कि तीन वेद (त्रयी विद्या) ही उस ब्रह्म में सुप्रतिष्ठित है । सत्व, रजस् और तमस्, ब्रह्मा, विष्णु और महेश ; जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तथा विश्व, तैजस और प्राज्ञ ये सभी उस अविनाशी ब्रह्म में प्रतिष्ठित हैं ऐसा **विज्ञानभगवान** मानते हैं । **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** प्रणव की तीन मात्राओं (अ, उ, म) को ही ब्रह्म में प्रतिष्ठित मानते हैं । **शंकराचार्य** का कहना है कि **भोक्ता, भोग्य** तथा **प्रेरिता**—ये तीनों ही ब्रह्म में प्रतिष्ठित हैं ।[2]

अन्तरम्—यहाँ अन्तर से आशय सार से है । जब जीवात्मा चिदानन्द रस को प्राप्त कर लेती है तो उससे उसका तादात्म्य स्थापित हो जाता है और उसकी स्थिति ऐसी हो जाती है जैसी कि मून्ज की सरकण्डे से पृथक् होने पर होती

---

१. लोहितशुक्लकृष्णरूपं जगतो जन्मस्थितिनाशरूपं वा । पृ० ६३ ६४ ।

२. (i) मैक्स मूलर भी शंकराचार्य का मत स्वीकार करते हैं ।
—सेक्रिड बुक्स ऑफ् दि ईस्ट पृ० २३५, वाल्यूम १५, भाग २ ।
(ii) स्वामी निखिलानन्द भी शंकराचार्य का मत मानते हैं ।
—दि उपनिषद्स् पृ० ७८, लंदन, १९५७ ।
(iii) राधाकृष्णन भी शंकराचार्य का मत मानते हैं ।
—दि प्रिंसिपल उपनिषद्स् पृ० ७१४, १९५३ ।

है। **नारायण** इसको मात्र भेद मानते हैं। **विज्ञानभगवान** इस अन्तर में व्यष्टि और समष्टि का अन्तर मानते हैं। **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का मत है कि इस संसार में अपने ज्ञान का अभाव ही अन्तर है अर्थात्, अपना स्वरूपाज्ञान ही अन्तर है। **शंकराचार्य** ने यहाँ मौन रहना ही उचित समझा है।

ननु अद्वितीये परमात्मन्यभ्युपगम्यमाने जीवेश्वरयोरपि विभागाभावाल्लीना ब्रह्मणीति जीवानां ब्रह्मैकत्वपरा लयश्रुतिरनुपपन्नैवेत्याशङ्क्य व्यवहारावस्थायां जीवेश्वरयोरुपाधितो विभागं दर्शयित्वा तद्विज्ञानादमृतत्वं दर्शयति—

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च
व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावा-
ज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥८॥

शांकर भाष्य—संयुक्तमेतदिति। व्यक्तं विकारजातमव्यक्तं कारणं तदुभयं क्षरमक्षरं च व्यक्तं क्षरं विनाश्यव्यक्तमक्षरमविनाशि तदुभयं परस्परसंयुक्तं कार्य-कारणात्मकं विश्वं भरते बिभर्तीश ईश्वरः।

तथा चाह भगवान्—

"क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः॥
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।"
(गीता १५।१६, १७) इति।

न केवलमीश्वरो व्यक्ताव्यक्तं भरतेऽनीशश्चानीश्वरश्च स आत्माविद्यातत्कार्य-भूतदेहेन्द्रियादिभिर्बध्यते भोक्तृभावात्। एतदुक्तं भवति--परस्परसंयुक्तो व्यष्टिसमष्टि-रूप ईश्वरः। तद्व्यष्टिभूतदेहेन्द्रियात्मकोऽनीशो जीवः। एवं समष्टिव्यष्ट्यात्म-कत्वेन जीवपरयोरौपाधिकस्य भेदस्य विद्यमानत्वात्तदुपाध्युपासनद्वारेण निरुपाधि-कमीश्वरं ज्ञात्वा मुच्यत इति भोक्त्रात्मैक्यवादे नानुपपन्नं किञ्चिद्विद्यत इति। ...

तस्माददद्वितीये परमात्मन्युपाधितो जीवेश्वरयोर्जीवानां च भेदव्यवस्थायाः सिद्धत्वान्न विशुद्धसत्त्वोपाधेरीश्वरस्याविशुद्धोपाधिजीवगताः सुखदुःखमोहा-ज्ञानादयः। ...

परमात्मा परस्पर रूप में संयुक्त क्षर (विनाशी) और अक्षर (अविनाशी) तथा व्यक्त और अव्यक्त का पालन-पोषण करता है। भोक्तृभाव के कारण परतन्त्र आत्मा का बन्धन होता है (और) देव (परमात्मा) का ज्ञान होने पर सब प्रकार के पाशों से मुक्त हो जाता है।

क्षरमक्षरम्—विनाशी तथा अविनाशी। **शंकरानन्द क्षर** तथा **अक्षर** को कारणकार्यभाव से जोड़ते हैं तथा उनके मत के अनुसार कार्य क्षर **है** और कारण **अक्षर** है। स्थूलदेह विनाशी है और सूक्ष्मदेह अविनाशी है ऐसा **नारायण**[1] का विचार है। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** भी इनको कारणकार्यभाव से ही जोड़ते हैं। **शंकराचार्य** भी **क्षर** को विनाशी तथा **अक्षर** को अविनाशी मानते हैं।

व्यक्ताव्यक्तम्—**व्यक्त** तथा **अव्यक्त**। **क्षर** तथा **अक्षर** के समान ही टीकाकारों ने **व्यक्त** तथा **अव्यक्त** को भी कारणकार्यभाव से जोड़ा है। अतः **शंकरानन्द** इसको मात्र कार्यकारणत्व मानते हैं। **नारायण** स्थूल को **व्यक्त** तथा लिंग को **अव्यक्त** मानते हैं। **विज्ञानभगवान** मानते हैं कि जिसका कोई नाम नहीं है और बीज अवस्था में विद्यमान रहनेवाली प्रकृति ही **अव्यक्त** है और नामादि से युक्त आकाशादि **व्यक्त** हैं। **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** भी यही मत स्वीकार करते हैं। **शंकराचार्य** विकारसमूह को **व्यक्त** तथा कारण को **अव्यक्त** मानते हैं।

भोक्तृभावात्—भोक्तृभाव[2] के कारण। संसार में आत्मा यह अनुभव करने लगती है कि मैं भोक्ता हूँ, इस प्रकार के ज्ञान से आत्मा अनीश्वर मानी गई है, ऐसा **शंकरानन्द**[3], मानते हैं। **नारायण** का भी यही मत है। संभवतः टीकाकारों के सामने "**बध्यते**" के स्थान पर "**बुध्यते**" पाठ रहा होगा क्योंकि सभी टीकाकार इसका **बुध्यते** से संकेत करते हैं। **विज्ञानभगवान**[4] तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का कथन है कि **विज्ञान**, **क्रिया** तथा **अहंकार** से युक्त भोक्ता अपनी बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न, सुख एवं दुःख आदि के द्वारा अपने आप पर कर्ता का अहंकार आरोपित करके कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख एवं दुःख के धर्मों को अपना मानकर सुखी या दुःखी होता है। **शंकराचार्य** भोक्तृभाव का संबंध अविद्या के साथ जोड़ते हैं।

---

१. क्षरं स्थूलदेहः। अक्षरं सूक्ष्मदेहः। पृ० १५०।

२. मूलतः **भोक्तृभाव** का प्रयोग सांख्य सूत्र १.१४३ तथा सांख्यकारिका १७ में किया गया है। **भोक्तृभाव** पुरुष की सत्ता का प्रमापक है। इसको सांख्य सूत्र १.१४२ में अधिष्ठानाच्चेति आदि शब्दों से भी व्यक्त किया गया है।

३. भोक्ताऽहमस्मीति ज्ञानेनाऽऽत्माऽनीश्वर एवेत्यर्थः। पृ० ६४।

४. विज्ञानक्रियाशक्तिमद्रूपोऽहंकारो भोक्ता बुद्धीच्छाप्रयत्नसुखदुःखादिकर्ताऽहंकारेणैक्याध्यासलक्षणाद्भोक्तृभावात्तद्धर्मान्कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखादीन्स्वधर्मत्वेन स्वीकृत्याहं कर्ता भोक्ता सुखी दुःखीति बुध्यते। पृ० १८४।

किञ्चेदमपरं वैलक्षण्यमित्याह—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशा-
वजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता
त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥९॥

शांकर भाष्यम्—

ज्ञाज्ञौ द्वाविति । न केवलं व्यक्ताव्यक्तं भरत ईशो नाप्यनीशः संबध्यते जीवः; अपि तु ज्ञाज्ञौ द्वौ ज्ञ ईश्वरोऽज्ञो जीवस्तावजौ जन्मादिरहितौ । ब्रह्मण एवाविकृतस्य जीवेश्वरात्मनावस्थानात् । तथा च श्रुतिः—

"पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः ।
पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत् ॥"
(बृ० उ० २।५।१८) इति ।

"एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च" (कठ० २।२।९) इति च । ईशनीशौ, छान्दसं ह्रस्वत्वम् ।

नन्वद्वैतवादिनो यदि भोक्तृभोग्यलक्षणप्रपञ्चसिद्धिः स्यात्तदा सर्वेशः परमेश्वरः, अनीशो जीवः, सर्वज्ञः परमेश्वरः, असर्वज्ञो जीवः, सर्वकृत्परमेश्वरः, असर्वकृज्जीवः, सर्वभृत्परमेश्वरः, देहादिभृज्जीवः, सर्वात्मा परमेश्वरः, असर्वात्मा जीवः विश्वैश्वर्य आप्तकामः परमेश्वरः, अल्पैश्वर्योऽनाप्तकामो जीवः, "सर्वतः पाणि०" (श्वेता० उ० ३।१६) "सहस्रशीर्षा" (श्वेता० उ० ३।१४) । "नित्यो नित्यानाम्" (श्वेता० उ० ६।१३) इत्यादिना जीवेश्वरयोर्विलक्षणव्यवहारसिद्धिः स्यात् । न तु भोक्त्रादिप्रपञ्चसिद्धिरस्ति स्वतः कूटस्थापरिणाम्यद्वितीयस्य वस्तुनोऽभोक्त्रादिरूपत्वात् । नापि परतो ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य भोक्त्रादिप्रपञ्चहेतुभूतस्य वस्त्वन्तरस्याभावात् । वस्त्वन्तरसद्भावेऽद्वैतहानिरित्याशङ्क्याह—अजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्तेति ।

भवेदयमीश्वराद्यविभागः यदि प्रपञ्चासिद्धिरेव स्यात् । सिध्यत्येव प्रपञ्चः । हि यस्मादर्थे । यस्मादजा प्रकृतिर्न जायत इत्यजा सिद्धा प्रसवधर्मिणी । "अजामेकाम् (श्वेता०उ० ४।५) । "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" (श्वेता०उ० ४।१०) "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (बृ० उ० २।५।१९) । "माया परा प्रकृतिः", "संभवाम्यात्ममायया" (गीता०४।६) इत्यादिश्रुतिस्मृतिसिद्धा विश्वजननी देवात्मशक्तिरूपैका स्वविकारभूतभोक्तृभोगभोग्यार्थप्रयुक्तेश्वरनिकटवर्तिनी किंकुर्वाणावतिष्ठते । तस्मात्सोऽपि मायी परमेश्वरो मायोपाधिसंनिधेस्तद्वानिव कार्यभूतैर्देहादिभिस्तद्वदेव विभक्तैर्वा विभक्त ईश्वरादिरूपेणावतिष्ठते । तस्मादेकस्मिन्नेकरसे परमात्मन्यभ्युपगम्यमानेऽपि जीवेश्वरादिसर्वलौकिकवैदिकसर्वभेदव्यवहारसिद्धिः । न च तयोर्वस्त्वन्तरस्य सद्भावादद्वैतवादप्रसक्तिः । मायाया अनिर्वाच्यत्वेन वस्तुत्वायोगात् । तथाह—"एषा हि भगवन्माया सदसद्व्यक्तिवर्जिता" । इति ।

यस्मादजैव भोक्त्रादिरूपा तस्मात्तत्स्वीकृतस्य मिथ्यासिद्धवस्तुत्वसंभवादनन्त-आत्मा। चशब्दोऽवधारणे। अनन्त एवात्मा। अस्यान्तः परिच्छेदो देशतः कालतो वस्तुतो वा न विद्यत इति। विश्वरूपो विश्वमस्यैव रूपमिति; परस्याविश्वरूपत्वात्। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" इति रूपस्य रूपिव्यतिरेकेणाभावाद्विश्वरूपत्वाद-प्यानन्त्यं सिद्धमित्यर्थः। हिशब्दो यस्मादर्थे। यस्माद्विश्वरूपवैश्वरूप्यं लक्षणं परमात्मन इत्येवमादिभिरात्मनो विश्वरूपत्वमित्यर्थः। यत एवानन्तो विश्वरूप आत्मात एवाकर्ता कर्तृत्वादिसंसारधर्मरहित इत्यर्थः।

कदैवमनन्तो विश्वरूपः कर्तृत्वादिसकलसंसारधर्मवर्जितो मुक्तः पूर्णानन्दा-द्वितीयब्रह्मरूपेणैवावतिष्ठते? इत्यत्राह—त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतदिति। त्रयं भोक्तृ-भोगभोग्यरूपम्। मायात्मकत्वादधिष्ठानभूतब्रह्मव्यतिरेकेण नास्ति किन्तु ब्रह्मैवेति यदा विन्दते तदा निवृत्तनिखिलविकल्पपूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मभावकर्तृत्वादिसकल-संसारधर्मवर्जितो वीतशोकः कृतकृत्योऽवतिष्ठत इत्यर्थः। अथवा ज्ञाज्ञाजात्मकजीवे-श्वरप्रकृतिरूपत्रयं ब्रह्म यदा विन्दते लभते तदा मुच्यत इति। ब्रह्ममिति मकारान्तं ब्रह्ममेतु मां मधुमेतु माम् इतिवच्छान्दसम् ॥९॥

सर्वज्ञ और अज्ञ जो क्रमशः सर्वसमर्थ तथा असमर्थ हैं, दोनों ही अजन्मा हैं। अकेली प्रकृति ही भोक्ता को भोग्यार्थ में नियुक्त करती है। आत्मा विश्वरूप तथा अकर्ता है। जब (कोई भी) इन तीनों (ईश्वर, जीव तथा प्रकृति) को प्राप्त करता है (तो) यह ही ब्रह्म है।

ज्ञाज्ञौ—यहाँ परमात्मा को ज्ञ तथा जीवात्मा को **अज्ञ** कहा गया है। इसके साथ-साथ परमात्मा सामर्थ्यवान है परन्तु जीवात्मा को सामर्थ्यहीन बतलाया गया है। अविद्या के लेश मात्र से अस्पृष्ट तथा चैतन्य स्वभाव वाला **ज्ञ** है; और कर्ता तथा भोक्ता ही **अज्ञ** है, **शंकरानन्द**[1] ऐसा मानते हैं। **नारायण** इनको "तत्पदार्थ" (ज्ञ) तथा त्वंपदार्थ" (अज्ञ) कहते हैं। **विज्ञानभगवान**[2] तथा **उपनिषद्-ब्रह्मयोगी** यहाँ बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव स्वीकार करते हुए कहते हैं कि बिम्ब स्थानीय ईश्वर ही सर्वज्ञ है और प्रतिबिम्बस्थानीय अल्पज्ञ जीव है। **शंकराचार्य** भी **ज्ञ** को ईश्वर तथा अज्ञ को जीव मानते हैं।

भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता—अभी ईश्वर तथा जीव का वर्णन किया गया है। इन दोनों में से अजा प्रकृति जीव (भोक्ता) को भोग्य की ओर प्रेरित करती है। इसके अतिरिक्त हमारी इन्द्रियाँ स्वयमेव बहिर्गामिनी बनाई गई हैं। ऐसा वर्णन **कठोपनिषद्** (२.१.१) में आता है:

---

१. ज्ञोऽविद्यालेशेनापरामृष्टश्चैतन्यैकस्वभावस्तत्पदार्थः। अज्ञः कर्ता भोक्ता त्वंपदार्थः। पृ० ९४।

२. बिम्बस्थानीय ईश्वरो यः सर्वज्ञः प्रतिबिम्बस्थानीयो जीवोऽज्ञः किंचिज्ज्ञः। पृ० १८५।

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

इस उपनिषद् के अनुसार अजा प्रकृति उस परमेश्वर की माया ही है जैसा कि स्वयं इस उपनिषद् में भी कहा गया है : **मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्** (श्वेताश्वतरोपनिषद् ४.१०) । **शंकरानन्द** का कहना है कि नाना प्रकार के विक्षेपों से युक्त अविद्या नामक माया ही जीव को संसार की ओर प्रेरित करती है । वस्तुतः भोक्ता संसारी जीव है और चिदानन्दरस रूपी भोग को वह प्राप्त करना चाहता है । वास्तव में भोक्ता तथा भोग्यार्थ का भेद काल्पनिक है और स्वयंप्रकाशानन्दात्मा में तो किसी भी प्रकार से भेददृष्टि नहीं हो सकती । **नारायण** यह मानते हैं कि जीवात्मा अजा प्रकृति के कारण ही विषयों की ओर प्रेरित होता है । **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** भोक्ता का संबंध प्रतिबिम्ब-स्थानीय (चन्द्र) के साथ जोड़ते हैं और जिस जल (या दर्पण) में चन्द्र का प्रतिबिम्ब पड़ता है वह जल ही अजा प्रकृति है । **शंकराचार्य** मानते हैं कि भगवान् की आत्मशक्ति-रूपा जगज्जननी माया अपने विकारभूत भोक्ता, भोग और भोग्य के संपादन में नियुक्त होकर ईश्वर की निकटवर्तिनी किंकरीरूप में विद्यमान है । इन सभी अर्थों पर विचार करने के वाद यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भिन्न-भिन्न विषयोपभोगों के स्वभाव (प्रकृति) जीवात्मा को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं । संभवतः उपनिषत्-कार का संकेत एक ऐसे तत्त्व की ओर है जो जीवात्मा (भोक्ता) को विषयोपभोगों की ओर प्रेरित करता है तथा यह कार्य अजा प्रकृति द्वारा संपादित किया जाता है । इसमें जीवात्मा का कोई दोष नहीं है क्योंकि ब्रह्मा ने हमारी सभी इन्द्रियों को स्वभावतः बहिर्गामिनी बनाया है; ऐसा **कठोपनिषद्** (२.१.१) का प्रमाण है ।

त्रयम्—इस उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म त्रिविध स्वरूप है : **सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् (श्वेताश्वतरोपनिषद् १.१२)** । **भोक्ता, भोग्य** तथा **प्रेरक** ही ब्रह्म के तीन रूप हैं । इन तीनों की त्रिपुटी का नाम ही ब्रह्म है ऐसा उपनिषत्कार का मत है । **शंकरानन्द** के अनुसार **भोक्ता, भोग्य** तथा **अजा** (प्रकृति) वह त्रिपुटी है । **नारायण जीव, ईश्वर तथा शुद्ध** को त्रिपुटी में सम्मिलित करते हैं । **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद् ब्रह्मयोगी परमात्मा, जीव** तथा **माया** (प्रकृति) को त्रिपुटी स्वीकार करते हैं । **शंकराचार्य भोक्ता, भोग** तथा **माया** को त्रिपुटी कहते हैं ।[1]

ब्रह्मसूत्र के भाष्यों में भी इस मन्त्र को उद्धृत किया गया है । **श्रीकंठ** इस मन्त्र को **ब्रह्मसूत्र** (२.३.१९) के भाष्य में उद्धृत करते हैं । उनका कहना है कि जीव के अज्ञत्व से तात्पर्य किञ्चिज्ज्ञ होना है और असंसारी परमेश्वर तो सर्वज्ञ है । अतः

१. मैक्स मूलर परमात्मा, जीवात्मा तथा देवात्मशक्ति (श्वेताश्वतरोपनिषद् १.३) की त्रिपुटी को मानते हैं ।
—सेक्रिड बुक्स आफ् दि ईस्ट, वाल्यूम १५, भाग २, उपनिषद् पृ० २३५ ।

संसार में किंचिज्ज्ञ (जीव) के मुक्त होने पर ही वह सर्वज्ञ हो पाता है। इसके साथ वे इसका उद्धरण **ब्रह्मसूत्र** (१.१.१) के भाष्य में भी देते हैं। वहाँ उनका कहना है कि यह जो कहा जाता है कि जीव ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है यह उचित नहीं है क्योंकि **"ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ"; 'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः'** इत्यादि वाक्यों से जीव की ब्रह्म से उत्पत्ति की कल्पना अवैदिक सिद्ध हो जाती है। **श्रीकर** इस मन्त्र का प्रयोग **ब्रह्मसूत्र** (१.१.२) के भाष्य में करते हैं। उनका विचार है कि यह जो कहा जाता है कि सभी वस्तुएँ उस परमात्मा से उत्पन्न हुई हैं और उसी के द्वारा जीवित रहती हैं आदि आदि (**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति.........यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति, तैत्तिरीय ३.१**) इससे यह सिद्ध होता है कि परमेश्वर ही सबका उत्पत्ति स्थान (कारण) है। परन्तु यह ऐसा नहीं हैं क्योंकि **"ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ"** से परमेश्वर के समान जीव भी अजन्मा माना जाता है। परन्तु अन्त में **श्रीकर** निष्कर्ष रूप में यह प्रतिपादित करते हैं कि जैसे पहले खलियान में धान्य विद्यमान होता है और पश्चात् बाहर आता है उसी प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ से पहले भी जीव उसी परमात्मा में विद्यमान रहते हैं और फिर उसके पश्चात् उसी से बाहर आ जाते हैं। इस प्रकार उस (ब्रह्म) से बाहर निकलने की क्रिया के कारण ही उसको जीवों का कर्ता कहा जाता है। अतः जो उसे जीवों का जनक मानते हैं और जो उसे जीवों का जनक नहीं मानते हैं उनमें परस्पर विरोध नहीं है।

विज्ञानभिक्षु इसका उद्धरण ब्रह्मसूत्र (१.१.२) के भाष्य में देते हैं। उनका कथन है कि ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता परन्तु ब्रह्म के अज्ञान का प्रतिषेध करने वाले वाक्यों तथा ब्रह्म को अनिर्वचनीयता की सीमा में बाँधने वाले वाक्यों के प्रतिषेध वास्तव में सही नहीं हैं। व्यवहार की दृष्टि से तो ब्रह्म का ज्ञान संभव ही नहीं है क्योंकि **'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ'** में जीव को अज्ञानी बतलाया गया है और ब्रह्म को ज्ञानी बतलाया गया है तथा परमार्थतः दोनों एक ही हैं।

जीवेश्वरयोर्विभागं दर्शयित्वा तद्विज्ञानादमृतत्वं दर्शितम्। इदानीं प्रधानेश्वरयोर्वैलक्षण्यं दर्शयित्वा तद्विज्ञानादमृतत्वं दर्शयति—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः
क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्-
भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥१०॥

शांकर भाष्यम्

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हर इति। अविद्यादेर्हरणात्परमेश्वरो हरः। अमृतं च तदक्षरं चामृताक्षरममृतं ब्रह्मैवेश्वर इत्यर्थः। स ईश्वरः क्षरात्मानौ प्रधानपुरुषावी-

शत इष्टे देव एकश्चित्सदानन्दाद्वितीयः परमात्मा। तस्य परमात्मनोऽभिध्यानात्, कथम्? योजनाज्जीवानां परमात्मसंयोजनात्तत्त्वभावात् 'अहं ब्रह्मास्मि' इति भूयश्चासकृदन्ते प्रारब्धकर्मान्ते यद्वा स्वात्मज्ञाननिष्पत्तिरन्तस्तस्मिन्स्वात्मज्ञानोदयवेलायां विश्वमायानिवृत्तिः। सुखदुःखमोहात्मकाशेषप्रपञ्चरूपमायानिवृत्तिः॥१०॥

प्रधान क्षर (विनाशशील) तथा अविनाशी अमृत इन दोनों का ही एक देव नियमन करता है। उसके चिन्तन, मनोयोग तथा उसके अधिकाधिक मनन करने से सब प्रकार की माया की समाप्ति होती है।

क्षरं प्रधानम्— प्रधान से यहाँ संसार को अभिव्यक्त किया गया है। क्योंकि संसार का धर्म विनाश है अतः संसार को **क्षर** कहा गया है। **शंकरानन्द** इसको मात्र मुख्य मानते हैं। **नारायण** प्रधान को माया के साथ जोड़ते हैं। **विज्ञानभगवान**[1] यहाँ विवर्तवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि आकाश ही प्रधान है जहाँ सब कुछ जाकर विलीन हो जाता है। **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का मत है कि जो अपने ज्ञान के कारण क्षीण होता है वह **क्षर** है। प्रधान का संबंध वे उस तत्त्व से जोड़ते हैं जो सम्यक्ज्ञान के परे है और जब तक उसका (अमृत—अक्षर) ज्ञान नहीं प्राप्त होता तब तक वह व्यवहार में क्षरणशील है। परमार्थतः **क्षर** और **अक्षर** दोनों एक ही हैं। **शंकराचार्य** यहाँ मौन रहना ही उचित समझते हैं।

अमृताक्षरम्:—जो क्षरण हीन अमृतत्व है वह ही हर है। **शंकरानन्द** यहाँ कारणकार्यभाव को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि **क्षर** कार्य है और **अक्षर** अकार्य है तो फिर **अक्षर** को अमृत मानने से **क्षर** (कार्य) भी साधर्म्य से अमृत हो जायेगा। इसका निराकरण वे यह बात कह कर करते है कि **क्षर** (कार्य) में अमृत की परिकल्पना और **अक्षर** (अमृत) की कल्पना सीपी में चाँदी के व्यवहार के समान है। **नारायण** यहाँ यह कहते हैं कि **अक्षर** अमृत है। **विज्ञानभगवान** भी अन्य टीकाकारों की भाँति अमृत को **अक्षर** मानते हैं। इसके साथ-साथ उनका कहना है कि अमृत **अक्षर** इसलिए है कि उसके साक्षित्व का रूप नाश नहीं होता है। **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का कथन है कि **क्षर** और **अक्षर** दोनों एक साथ न दिखाई देने पर व्यावहारिक ज्ञान में **क्षर** ही मर्त्यधर्मा है और वैकल्पिक रूप में समानाधिकरण के कारण अमृत **अक्षर** है। यहाँ पर भी **शंकराचार्य** ने मौन रहना ही उचित समझा है।

हरः—अविद्या का अभाव ही हर है ऐसा **शंकरानन्द** मानते हैं। **नारायण** हर को शिव मानते हैं। **विज्ञानभगवान** हर को अद्वितीय, नित्य और द्वैत को उत्पन्न करने वाला मानते हैं। वह हर स्वयं सम्यग्ज्ञान का विषय है और वह शरीर के द्वैत के कारण उत्पन्न होने वाली अविद्या का हरण करता है। **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का मत है कि वह नित्य है और क्षर (प्रधान) का विशेष रूप से हरण करने के कारण

---

१. क्षरं प्रधानं क्षरतीति क्षरं प्रधानं वियत्प्रमुखं सर्वमस्मिन्विवर्तत्वेन प्रधीयत इति प्रधानम्। पृ० १८६।

हर कहा गया है। **शंकराचार्य** भी **शंकरानन्द** के समान ही अविद्यादि को हरने के कारण परमेश्वर को हर मानते हैं। राधाकृष्णन[1] के अनुसार **हर** शिव के अनेक नामों में से एक है परन्तु मैक्स मूलर[2] हर को **ईश्वर** या **देव** मानते हैं।

क्षरात्मानौ—क्षर (प्रधान) तथा आत्मा। **शंकरानन्द** क्षर को कार्य (संसार) तथा अविद्या से युक्त चैतन्य आत्मा को आत्मा मानते हैं। साथ-साथ वे एक अन्य पाठ भी प्रस्तुत करते हैं[3] : **क्षरात्मना वीशते**। इस पाठ के अनुसार **क्षर** उपलक्षण से युक्त वह (परमात्मा) सब में आत्मा के रूप में रहता है। **नारायण** भी **क्षर** तथा आत्मा को ही स्वीकार करते हैं। **विज्ञानभगवान प्रतिबिम्ब स्थानीय** जीव को **क्षर** तथा पुरुष को आत्मा मानते हैं। **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** जीव और प्रकृति को **क्षर** तथा आत्मा मानते हैं। **शंकराचार्य प्रधान** और **पुरुष** को क्रमशः **क्षर** तथा **आत्मा** मानते हैं।

अभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावात्—इस पद में तीन शब्द हैं : **अभिध्यानात् योजनात्** तथा **तत्त्वभावात्**। वास्तव में इनके द्वारा ऋषि परमात्मा को प्राप्त करने की तीन अवस्थाओं की ओर संकेत करता है। ये तीनों क्रमशः एक दूसरे से उत्तरोत्तर रूप में श्रेष्ठ हैं। सर्वत्र आत्मा विद्यमान है और सब कुछ आत्मा है, **शंकरानन्द** ऐसे विचार को **अभिध्यान** मानते हैं। **नारायण** के मत के अनुसार प्रमुख रूप से स्मरण **अभिध्यान** है। **विज्ञानभगवान अभिध्यान** को विस्तार पूर्वक समझाते हैं। परमात्मा, चिदात्मा और एकरसमय ही सब प्राणियों में विद्यमान है। इतना ही नहीं सुरनरतिर्यगादि योनियों में भी वह विद्यमान रहता है। जैसे आकाश सर्वत्र विद्यमान है और उसका कोई भेद नहीं है, वह तो केवल घटाकाश और महाकाश द्वारा ही अभिहित किया जाता है, उसी प्रकार वह परमात्मा भी सभी प्राणियों में विद्यमान है, प्राणियों के नामगत, आयुगत तथा देशगत भेद घटाकाश तथा महाकाश के समान हैं। परमात्मा का यह सर्वत्र विद्यमानता का भाव ही **विज्ञानभगवान** के अनुसार **अभिध्यान** है। **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** अभिध्यान से उस परमात्मा का चिन्मात्र का ध्यान मानते हैं। **शंकराचार्य** अभिध्यान को **योजनात्** तथा **तत्त्वभाव** से जोड़ते हैं और इसकी स्वतन्त्र रूप से व्याख्या नहीं करते।

प्रसिद्ध महावाक्य "**अहं ब्रह्मास्मि**" को ही **शंकरानन्द** योजना मानते हैं। **नारायण** इसको तान्त्रिक रूप से समझते हैं और बीज (बीजाक्षर) का योग ही उनके अनुसार **योजनम्** है। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** भी प्रसिद्ध

---

१. प्रिंसिपल उपनिषद्स, पृ० ७१५।

२. सेक्रेड बुक्स ऑफ् दि ईस्ट, वाल्यूम १५, भाग २ (उपनिषद्) पृ०२३५-३६।

३. क्षरात्मा वीशत इति वा पदच्छेदः। विशति। क्षरात्मनेत्युपलक्षणं सर्वात्मना विशति सर्वं भवतीत्यर्थः। पृ० ६५।

महावाक्य "**अहं ब्रह्मास्मि**" को योजना मानते हुए कहते हैं कि **कार्यकारणसंघात** का साक्षिभूत मैं स्वयं ही वह परमात्मा हूँ। **शंकराचार्य** परमात्मा के साथ जीव के संयोग को योजना मानते हैं।

शंकरानन्द के मत के अनुसार शरीर के पतन के पश्चात् आत्मा की विद्यमानता ही **तत्त्वभाव** है। **नारायण** यथार्थस्वरूप भाव को **तत्त्वभाव** मानते हैं। **विज्ञानभगवान** इस पर कोई स्पष्ट संकेत नहीं करते। **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** के मत के अनुसार परमात्मा की अन्तिम सत्ता ही **तत्त्वभाव** है। **शंकराचार्य** महावाक्य "**अहं ब्रह्मास्मि**" को **तत्त्वभाव** मानते हैं।

विश्वमायानिवृत्तिः—परमात्मा के चिन्तन, मनोयोग तथा तत्त्वभाव से सभी प्रकार की माया से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। **शंकरानन्द**[1] संसार में विपरीत प्रतीति के कारण को विश्वमाया मानते हैं और उस कारण से उपरति ही निवृत्ति है। वे इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि देह के समाप्त होने पर संस्कार गत अविद्या समाप्त हो जाती है परन्तु विद्वानों के लिए तो यह जीवन्मुक्त के समान ही है क्योंकि वे तो मात्र जीवित रहते हैं और उनका व्यवहार विदेह के समान होता है। **नारायण** के अनुसार सारी माया ही विश्व माया है। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** यह मानते हैं कि निवृत्ति विद्यमान से ही होती और अविद्यमान से निवृत्ति नहीं होती, तथा अन्ततः अविद्या आदि की समाप्ति होने पर सब प्रकार की माया की निवृत्ति हो जाती है। **शंकराचार्य** के अनुसार सुख, दुःख एवं मोहमय सम्पूर्ण प्रपञ्चरूप माया की निवृत्ति हो जाती है।

ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार भी इन मन्त्र को अपने-अपने मत को पुष्ट करने के लिए उद्धृत करते हैं। **ब्रह्मसूत्र** (१.१.१) पर **रामानुजाचार्य** इसको उद्धृत करते हुए कहते है कि '**अमृताक्षरं हरः**' इससे भोक्ता का निर्देश होता है और प्रधान को अपने भोग्यत्व के रूप में हरण करने के कारण उसको हर कहा गया है। **श्रीकर भाष्य** भी इस मन्त्र को **ब्रह्मसूत्र** (१.१.१.; १.१.३२; १.३.६) के संदर्भ में उद्धृत करता है। "**श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि**" यहाँ पर संकेत दिया गया है कि उसको (परब्रह्म, परमात्मा या परमेश्वर को) श्रद्धा, भक्ति और ध्यान के माध्यम से जानना चाहिए और किसी भी प्रकार का बाह्य लिंग चिह्न आदि धारण करना निरर्थक है परन्तु श्रुति तो यह कहती है कि "**तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावात् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः**"—अर्थात् हर के अभिध्यान आन्तरिकानुसंधान तथा साक्षात्कार द्वारा सब प्रकार की माया की निवृत्ति हो जाती है—यहाँ उसके बाह्य रूप का

---

१. विश्वस्य माया विपरीतप्रतीतिस्तत्कारणं च विश्वा चासौ माया चेति वा तस्या निवृत्तिः सर्वात्मनाऽनुपलम्भः। अयमर्थः—संस्कारशेषाऽविद्या देहपाते निवर्तते ततो विदुषोऽप्यविरुद्धो देहयात्राद्यर्थो व्यवहार इति। पृ० ९६।

संकेत उपलब्ध होता है परन्तु यहाँ भी श्रुति में ऐसे प्रमाणों का अभाव नहीं है जो परमात्मा के बाह्य रूप का प्रतिपादन करते हों।

वैष्णव सम्प्रदाय में भी इस मन्त्र को उद्धृत किया जाता है। वैष्णव सम्प्रदाय में कहा गया है कि **"मोक्षमिच्छेज्जनार्दनात्"** अर्थात् जनार्दन से ही मोक्ष की इच्छा करनी चाहिए। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मुमुक्षु जनों के लिए यह आवश्यक है कि वे मुक्ति के लिए केवल **नारायण** की ही उपासना करें। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। श्रुति में ऐसे अनेक उद्धरण देखे गए हैं जो नारायण के अतिरिक्त शिवोपासना पर बल देते हैं : **"ईशं ज्ञात्वा अमृतत्वमेति"**; **"ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति"**; **"ईशं ज्ञात्वा अमृता भवन्ति"**; **"क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः। तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।"**; **'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे"**; **"विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः"**; **"तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमीशम्।"** इन सभी संदर्भों में शिवोपासना का जिक्र किया गया है। अतः इन श्रुति वाक्यों की अपेक्षा स्मृति वाक्यों के अभाव में यह कहा जा सकता है कि शिवोपासना के द्वारा भी मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है।

श्रीकर भाष्य ब्रह्मसूत्र (१.१. ३२) में इस मन्त्र में प्रयुक्त **अभिध्यानात्"** तथा **"योजनात्"** को क्रमशः **प्राणलिंगोपासना** तथा **भावलिंगोपासना** के द्योतक के रूप में स्वीकार किया गया है। अन्यत्र **श्रीकर भाष्य ब्रह्मसूत्र** (१.३.६) में यह स्वीकार गया है कि इस मन्त्र में प्रयुक्त **"हरः"** वास्तव में परमशिव का द्योतक है। **विज्ञानभिक्षु** अपने **ब्रह्मसूत्र** भाष्य (१.१.५) में यह मानते हैं कि इस मन्त्र में प्रयुक्त **"विश्वमायानिवृत्तिः"** केवल संसार के व्यापार की निवृत्ति ही है संसार के व्यापार का नाश नहीं है। इसके साथ-साथ **विज्ञानभिक्षु ब्रह्मसूत्र** भाष्य (२.३.९) में इस मन्त्र का उद्धरण यह प्रकट करने के लिए देते हैं कि महदादि विकारी हैं और अनित्य हैं तथा नित्य हर प्रधान का भी स्वामी है।

इदानीं तद्विदस्तद्ध्यायिनश्च तज्ज्ञानध्यानकृतं फलभेदं दर्शयति—

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः
क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे
विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥११॥

शांकर भाष्यम्

ज्ञात्वेति ज्ञात्वा देवम् 'अयमहमस्मि' इति, सर्वपाशापहानिः पाशरूपाणां सर्वेषामविद्यादीनामपहानिः। क्षीणैरविद्यादिभिः क्लेशैस्तत्कार्यभूतजन्ममृत्युप्रहाणिर्जननमरणादिदुःखहेतुविनाशः। ज्ञानफलं प्रदर्शितम्।

ध्याने किञ्चित्क्रममुक्तिरूपं विशेषमाह—तस्य परमेश्वरस्याभिध्यानाद् देहभेदे शरीरपातोत्तरकालमर्चिरादिना देवयानपथा गत्वा परमेश्वरसायुज्यं गतस्य तृतीयं विराड्रूपापेक्षयाव्याकृतपरमव्योमकारणेश्वरावस्थं विश्वैश्वर्यलक्षणं फलं भवति। स तदनुभूय तत्रैव निर्विशेषमात्मानं ज्ञात्वा केवलो निरस्तसमस्तैश्वर्यतदुपाधिसिद्धिरव्याकृतपरमव्योमकारणेश्वरात्मतृतीयावस्थं विश्वैश्वर्यं हित्वाप्तकाम आत्मकामः पूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मरूपोऽवतिष्ठते।

एतदुक्तं भवति—सम्यग्दर्शनस्य तथाभूतवस्तुविषयत्वेन निर्विषयपूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मविषयत्वाद्विज्ञानानन्तरमविद्यातत्कार्यप्रहाणेन पूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मस्वरूपोऽवतिष्ठते। ध्यानस्य पुनः सहसा न निराकारे बुद्धिः प्रवर्तत इति सविशेषब्रह्मविषयत्वात् "तं यथा यथोपासते..." इति न्यायेन सविशेषविश्वैश्वर्यलक्षणब्रह्मप्राप्त्या विश्वैश्वर्यमनुभूय निर्विशेषपूर्णानन्दब्रह्मात्मानं ज्ञात्वा केवलात्मकामोऽवाप्ताशेषपुमर्थो मुक्तो भवति। ...

तस्मादुपासको देहादुत्क्रम्यार्चिरादिना देवयानेन विश्वैश्वर्यं ब्रह्म प्राप्य विश्वैश्वर्यमनुभूय तत्रैव केवलं प्रत्यस्तमितभेदपूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मानं ज्ञात्वा केवलात्मकामो मुक्तो भवति। विद्वान्निर्विशेषपूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मविज्ञानादशेषगन्तृगन्तव्यगमनादिभेदप्रत्यस्तमयाद्विनैवोत्क्रान्तिं देवयानं च ब्रह्मज्ञानसमनन्तरं जीवन्मुक्तो ब्रह्मज्ञानसमनन्तरं ब्रह्मानन्दमनुभूय आत्मरतिरात्मतृप्त आत्मनैवान्तःसुखोऽन्तरारामोऽन्तर्ज्योतिरात्मक्रीड आत्मरतिरात्ममिथुन आत्मानन्द इहैव स्वाराज्ये भूम्नि स्वे महिम्न्यमृतोऽवतिष्ठते। तद्धेतुत्वाद्बाह्यविषयपरित्यागेन ब्रह्मण्याधाय वाङ्मनःकायनिष्पाद्यं श्रौतस्मार्तलक्षणं कर्म कृत्वा विशुद्धसत्त्वो योगारूढो भूत्वा शमादिसाधनसंपन्नः। ...

(उस) देव को जानकर सब प्रकार के बन्धनों का क्षय होता है और क्लेशों के क्षय होने से जन्म तथा मृत्यु का विनाश हो जाता है। शरीर के पतन होने पर विश्वैश्वर्यमयी तृतीय स्थिति (हो जाती है) (और) इच्छाएँ केवल अपने आप में ही (शान्त हो जाती हैं)।

सर्वपाशापहानिः—सब प्रकार के बन्धनों का विनाश। जैसा कि पहले ही बतलाया जा चुका है कि यह उपनिषद् रुद्र-शिवात्मक परमात्मा के ज्ञान पर अत्यधिक बल देता है। इसलिए ही इस उपनिषद् में **ज्ञात्वा** (१.८ ; १.११; २.१५; ४.१४; ४.१५; ४.१६; ५.१३; ६.१३) **निचाय्य** (२.१; ४.११) **ज्ञेयम्** (१.१२) **प्रसमीक्ष्य** (२.१४) **विदुः** (३.१ ; ३.१० ; ३.१३; ४.१७ ; ४.२० ; ५.६. ; ५.१४) **विदित्वा** (३.८;६.१५) **वेद** (४.८); **विज्ञेयः** (५.९) ; **विदाम**(६.७) और **अनुपश्यन्ति** (६.१२) आदि शब्दों का बार बार प्रयोग किया गया है। उस परमात्मा को जानने से सब प्रकार के पाशों (बन्धन) का विनाश हो जाता है। दर्शनशास्त्र के अनुसार पुत्र, स्त्री, संसार अहंभाव, ममभाव तथा ऐश्वर्यादि सभी पाश माने गए हैं। **शंकरानन्द** का कहना है कि पुत्र, पत्नी, संसार, अहंभाव तथा ममभाव की हानि अर्थात्

परित्याग परमात्मा के दर्शन के द्वारा हो जाएगा। इसके परिणाम स्वरूप सब में आत्मा का आभास होगा तथा सर्वत्र समबुद्धि का भाव होगा। **नारायण** का मत है कि परम शिव का दर्शन करने से सभी बन्धन समाप्त हो जाएगें। **विज्ञानभगवान** के अनुसार संसार में राग, द्वेष, पाप और पुण्य ये सभी पाश हैं। इन सब का दहन ही अपहानि है। विद्या से अविद्या का दहन होता है। अविद्या दहन से राग द्वेष का भी दहन होता है। राग-द्वेष के दहन से रागद्वेषादि द्वारा उत्पन्न होने वाली क्रियाओं का भी दहन होता है। उन क्रियाओं के दहन से तत्तत् पाप एवं पुण्य से प्राप्त होने वाले भावी फल का दहन हो जाता है। इस भावी फल के दहन से दूसरा देह बन्धन भी नहीं होता है और इस प्रकार सुख एवं दुःख का अनुभव नहीं होता है। **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का कहना है कि वास्तव में सब कुछ ज्ञानाग्नि द्वारा दहन हो जाता है। सबके मूल रागद्वेष भी ज्ञान द्वारा दहन हो जाते हैं। अन्ततः सब प्रकार की क्रियाओं के निषेध द्वारा कर्मों के भावी फल आदि का भी दहन हो जाता है। यह सारी दहन क्रिया ज्ञानाग्नि द्वारा ही संभव हो सकती है। ऐसा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का मत है। **शंकराचार्य** का विचार है कि **"यह मैं हूँ"** आदि भाव ही पाश है और अविद्या भी एक प्रकार का पाश है।

क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः—क्लेशों के क्षय होने पर जन्म तथा मृत्यु का नाश हो जाता है। जैसा कि पहले ही बतलाया जा चुका है क्लेशों की संख्या पाँच है: अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश। योग शास्त्र[1] में पाँच विपर्ययों (तम, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अन्धतामिस्र) को पञ्चक्लेश कहा गया है। इस प्रसंग में **शंकरानन्द** ने अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश को क्लेश के रूप में स्वीकार किया है। इसके साथ साथ **शंकरानन्द** का सुझाव है कि **जन्ममृत्युप्रहाणिः** के स्थान पर **जन्ममृत्योः प्रहाणिः** पाठ होना चाहिए। **नारायण** भी इन्हीं पाँच क्लेशों को मानते हैं। **विज्ञानभगवान** इसकी विस्तार से व्याख्या करते हैं। सर्वप्रथम अपनी अन्तरात्मा में ब्रह्म का साक्षात्कार होने से कर्तृत्वादि की निमित्तभूता अविद्या का दहन होता है। कर्तृत्वादि के दहन से कर्म का दहन होता है। इस प्रकार सम्यग् ज्ञान द्वारा इस जन्म में या किसी अन्य जन्मान्तर में किए गए कर्मों के दहन से दूसरा जन्म प्राप्त करने की संभावना भी समाप्त हो जाती है। अतएव उसके (कर्म के) परित्याग से मृत्यु की भी हानि हो जाती है। **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का कहना है कि जो व्यक्ति यह सोचता है कि उसके अतिरिक्त इस संसार में और कुछ नहीं है अर्थात् वह सर्वत्र अपनी आत्मा का ही दर्शन करता है ऐसे व्यक्ति के लिए सब प्रकार के क्लेशों के क्षीण होने पर जन्म तथा मृत्यु का भी नाश हो जाता है। **शंकराचार्य** का विचार है कि क्षीण हुए अविद्यादि क्लेशों के साथ ही उनके कार्यभूत जन्म मृत्यु आदि का नाश हो जाता है अर्थात् जन्म-मृत्यु आदि दुःख के हेतुओं का अन्त हो जाता है।

---

१. क्लेशा इति पञ्चविपर्यया इति अर्थः। योगभाष्य २.३; सांख्य सूत्र ३.३७।

तृतीयम्—सामान्यतया **तृतीयम्** का सम्बन्ध **विश्वैश्वर्यम्** के साथ जोड़ा जाता है। यह विश्व ऐश्वर्य की कौन सी तीसरी अवस्था है ? **शंकरानन्द** ने अपनी **दीपिका** टीका में इन तीन अवस्थाओं का संकेत किया है। पहली अवस्था वह है जब मनुष्य यह अनुभव करता है कि सब में आत्मा है। संभवतः इसी पहली अवस्था की ओर **ईशोपनिषद्** (६-७) भी इसी प्रकार से संकेत करता है। इस अवस्था में शत्रु और और मित्र का भेद मिट जाता है। यह तो हुई पहली अवस्था। दूसरी अवस्था में मनुष्य अनुभव करता है कि "**अहं ब्रह्मास्मि**" और इस प्रकार ब्रह्म के तादात्म्यज्ञान द्वारा अहंकार, राग-द्वेष और अभिनिवेश का भी विनाश हो जाता है। इन सबका विनाश ही दूसरी अवस्था है। तीसरी अवस्था में प्रारब्धकर्मों का भी क्षय हो जाता है। उस स्थिति में सभी अवशिष्ट संस्कारों का भी विनाश हो जाता है। यही वह तीसरी अवस्था है जिसकी ओर संभवतः उपनिषत्कार संकेत करना चाहता है। **नारायण तृतीय** को वेदान्त के महावाक्य "**तत् त्वमसि**" के साथ जोड़ते हैं। उनके अनुसार जब मनुष्य यह अनुभव कर लेता है तू ही वह ब्रह्म है तो यही वह तीसरी अवस्था है। **विज्ञानभगवान**[1] तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी तृतीयं विश्वैश्वर्यम्** की ये व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं : पहली स्थिति में मात्र कर्म द्वारा अर्थात् धूमादि मार्ग द्वारा प्राप्त होने वाले चन्द्रलोक के ऐश्वर्य से अर्चि मार्ग द्वारा प्राप्त होने वाला दूसरा ब्रह्म लोक का ऐश्वर्य श्रेष्ठ है और इससे भी कहीं अधिक श्रेष्ठ है मात्र केवल ज्ञान द्वारा उपलब्ध होने वाला तीसरा ऐश्वर्य। **शंकराचार्य** के अनुसार **तृतीयं विश्वैश्वर्यम्** अपने आप में और कुछ नहीं अपितु अव्याकृत परमव्योम रूप कारण ब्रह्म में स्थित सम्पूर्ण ऐश्वर्यरूप तृतीय फल है, अर्थात् एक ऐसा अवसान जहाँ कारण ब्रह्म की अवस्था में आकर सभी का मूलरूप (ईश्वर) एक ही है। **स्वामी निखिलानन्द**[2] के अनुसार ब्रह्मलोक में अलौकिक शक्ति की प्राप्ति ही तृतीय अवस्था है। वास्तव में यहाँ **ध्यान** तथा **ज्ञान** से प्राप्त होने वाले फल की ओर संकेत किया गया है जैसा कि **शिवधर्मोत्तर** में भी बतलाया गया है :

ध्यानादैश्वर्यमतुलमैश्वर्यात्सुखमुत्तमम् ।
ज्ञानेन तत्परित्यज्य विदेहो मुक्तिमाप्नुयात् ॥

अर्थात् ध्यान से अतुलित ऐश्वर्य मिलता है और ऐश्वर्य से उत्कृष्ट सुख की प्राप्ति होती है। ज्ञान से उनका त्याग करके देहाभिमान से रहित होकर मोक्ष प्राप्त करे। इस प्रकार जो ध्यान द्वारा प्राप्त होता है वह मात्र सांसारिक सुख ही है। एक वस्तु की प्राप्ति से उत्पन्न होने वाला ज्ञान उसके त्याग का कारण भी बनता है।

---

१. केवलकर्मणा धूमादिमार्गेण प्राप्तव्यचन्द्रलोकैश्वर्यादुपासनेनार्चिरादिमार्गेण प्राप्तव्यब्रह्मलोकैश्वर्याच्च परं तदपेक्षया तृतीयं केवलसम्यग्ज्ञानैकलभ्यम्। पृ० १८८।

२. दि उपनिषद्स, पृ० ८३।

ब्रह्मसूत्र के भाष्यकारों ने भी इस मन्त्र को उद्धृत किया है। **शंकराचार्य** इसको **ब्रह्मसूत्र भाष्य** (३.२.५, ६) में उद्धृत करते हैं। वहाँ पर प्रसंग है: **'पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ'**— इस पर **शंकराचार्य** का कहना है कि क्या जीव और ईश्वर में समानधर्मत्व नहीं है ? समान धर्मत्व तो विद्यमान है परन्तु अविद्या आदि के व्यवधान के कारण वह तिरोहित रहता है। वह तिरोहित होता हुआ भी परमेश्वर के ध्यान के अभ्यास का प्रयत्न करने वाले सभी व्यक्तियों को भासित नहीं होता जैसे तिमिर नामक रोग से पीड़ित व्यक्ति के ओषधि खाने पर भी उसका अन्धकार दूर नहीं होता। ईश्वर की कृपा के कारण ही किसी विरले व्यक्ति को वह समानधर्मत्व भासित होता है। स्वभावतः सभी व्यक्तियों को वह भासित नहीं होता। ईश्वर के कारण ही जीव को बन्ध और मोक्ष प्राप्त होते हैं। ईश्वरस्वरूप के अज्ञान के कारण बन्धन होता है और उसके स्वरूप ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है क्योंकि इसमें श्रुति का प्रमाण है: **"ज्ञात्वा देवं ... ..."**। शैवागम भी वैदिक हैं इस बात को सिद्ध करने के लिए **श्रीकर भाष्य** इस मन्त्र को **ब्रह्मसूत्र** (१.२.१) में उद्धृत करता है क्योंकि इस मन्त्र में शैवागम का अतीव प्रचलित पद **पाश** का प्रयोग किया गया है **(सर्वपाशापहानिः)**। **श्रीकर भाष्य** (४.१ १२) में इस मन्त्र द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि शरीर संबंधी अज्ञान की निवृत्ति शिव के साक्षात्कार से हो जाती है।

यस्माज्ज्ञानानन्तरं परमपुरुषार्थसिद्धिस्तस्मात्—

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं
नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥१२॥

शांकर भाष्यम्—

एतत्प्रकृतं केवलात्माकाशब्रह्मरूपं नित्यं नियमेन ज्ञेयम्। किमत्रान्यसंस्थं न स्वात्मसंस्थं ज्ञेयं नानात्मनि बाह्ये। श्रूयते च—"तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्" (क० उ० २।२।१२) **इति।** ... ...

अथवैतद्यदपरोक्षं प्रत्यगात्मत्वं तन्नित्यमविनाशि स्वे महिम्नि स्थितं ब्रह्मैव ज्ञेयम्। कस्मात्? हि शब्दो यस्मादर्थे यस्मान्नातः परं वेदितव्यमस्ति किञ्चिदपि। श्रूयते च बृहदारण्यके—"तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मा" (बृ० उ० १।४।७) **इति।**

कथमेतज्ज्ञेयम्? इत्याह—भोक्ता जीवो भोग्यमितरत्सर्वं प्रेरितान्तर्यामी परमेश्वरः। तदेतत्त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मैवेति। भोक्त्राद्यशेषभेदप्रपञ्चविलापनेनैव निर्विशेषं ब्रह्मात्मानं जानीयादित्यर्थः।

इसको सदैव अपनी आत्मा में स्थित जानना चाहिए। इसके अतिरिक्त और कुछ भी ज्ञातव्य नहीं है। भोक्ता, भोग्य और प्रेरक को जानने से सब कुछ कथित (हो जाता है) यह (वही) ब्रह्म है।

भोक्ता, भोग्यं प्रेरितारम्—इन तीन पदों में इस उपनिषद् का सार विद्यमान है। जैसा पहले भी बतलाया जा चुका है इस उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप त्रिविध है और यह त्रिपुटी ही ब्रह्म है। इसके जानने के पश्चात् और कुछ ज्ञातव्य नहीं रहता। **शंकरानन्द** के अनुसार सामर्थ्यहीन अजन्मा भोक्ता है, अजा प्रकृति भोग्य है और ईश्वर प्रेरयिता है। **नारायण** का मत है कि भोक्ता अक्षर है (क्योंकि अन्ततः क्षर और अक्षर को इसी उपनिषद् (१.१०) में अजन्मा कहा गया है। भोग्य क्षर है और प्रेरयिता ईश्वर है। **विज्ञानभगवान**[1] और **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का कहना है कि प्रकृत प्रसंग में द्वितीया विभक्ति के स्थान में प्रथमा विभक्ति का प्रयोग हुआ है। कार्योपाधिक घटाकाशस्थानीय जीव भोक्ता है, दृश्यमान जगत् भोग्य है और कारणोपाधिक ईश्वर प्रेरयिता है। इन दोनों टीकाकारों का एक और सुझाव है कि संभवतः यहाँ पर प्रथमा विभक्ति के अर्थ में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है अर्थात् भोक्ता भोग्य और प्रेरयिता—यह सब ही त्रिविध रूप ब्रह्म है। इसको जानने से सब कुछ विदित हो जाता है। **शंकराचार्य** का विचार है कि जीव भोक्ता है। भोक्ता और अन्तर्यामी से अतिरिक्त और सब भोग्य है तथा अन्तर्यामी परमेश्वर प्रेरिता है।

विज्ञानभिक्षु (**ब्रह्मसूत्र** १.१.४ भाष्य) इस मन्त्र का प्रयोग यह सिद्ध करने के लिए करते हैं कि ब्रह्मज्ञान एवं ब्रह्मानुभूति दो भिन्न भिन्न तत्त्व हैं। **'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्यनिर्णये।'** इस कारिका के आधार पर ब्रह्म के विषय में जो तात्पर्यसमन्वय स्थापित किया जाता है वह तो फलार्थवाद के असिद्ध हो जाने पर केवल ब्रह्म के ज्ञान के विषय में ही संभव है न कि स्वयं ब्रह्म के विषय में। ब्रह्मज्ञान तथा स्वयं ब्रह्म दो भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। इस मन्त्र में प्रयुक्त **'नातः परं वेदितव्यं हि किंचित्'** आदि द्वारा तो ब्रह्मज्ञान ही सिद्ध होता है। वेदान्तियों के मत में ब्रह्मज्ञान केवल ज्ञानविषयक सैद्धान्तिक पक्ष है और ब्रह्मानुभूति वैयक्तिक आधार पर ही होती है।

---

१. (i) भोक्ता भोक्तारं, द्वितीयार्थे प्रथमा, कार्योपाधिकं घटाकाशस्थानीयं जीवं भोग्यं दृश्यजातं प्रेरितारं कारणोपाधिकमीश्वरम्। पृ० १८६।

(i) अथवा भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं, प्रथमार्थे द्वितीया। पृ० १८६।

इदानीम् "ओमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत" (प्र० उ० ५।५)। "ओमित्यात्मानं युञ्जीत" (महानारा० २४।१) "ओमित्यात्मानं ध्यायीत" इति श्रुतेरात्मानमन्विष्य पराभिध्याने प्रणवस्य नियमादभिध्यानाङ्गत्वेन प्रणवं दर्शयति—

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्ति-
र्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्य-
स्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥१३॥

शांकर भाष्यम्

वह्नेर्यथेति। वह्नेर्यथा योनिगतस्यारणिगतस्य मूर्तिः स्वरूपं न दृश्यते मथनात्प्राङ् नैव च लिङ्गस्य सूक्ष्मदेहस्य विनाशः। स एवारणिगतोऽग्निर्भूयः पुनः पुनरिन्धनयोनिना मथनेन गृह्यः। योनिशब्दोऽत्र कारणवचनः। इन्धनेन कारणेन पुनः पुनर्मथनाद्गृह्यः। 'तदोभयम्' इवार्थो वाशब्दः। तच्चोभयं तदुभयमिव मथनात्प्राङ् न गृह्यते। मथनेन च गृह्यते। तद्वदात्मा वह्निस्थानीयः प्रणवेनोत्तरारणिस्थानीयेन मथनाद्गृह्यते देहेऽधरारणिस्थानीये ॥१३॥

अग्नि जैसे अपनी योनि में दिखाई नहीं देती और न ही उसके लिंग का नाश होता है वही (अग्नि) फिर अपने ईन्धन रूपी कारण में ग्रहण की जा सकती है, उसी प्रकार अग्नि और अग्नि लिंग के समान इस शरीर में ओम् के द्वारा आत्मा का ग्रहण किया जा सकता है।

उपनिषदीय शैली में कठिन से कठिन विषय को सरल ढंग से समझाने का अनोखा ही तरीका है। इसके लिए उपनिषदों में भिन्न भिन्न प्रकार की उपमाएँ, रूपक एवं प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। प्रकृत मन्त्र में आत्मा की तुलना काष्ठस्थित अग्नि से की गई है। इस मन्त्र में यह प्रतिपादित किया गया है कि अरणियों में रहती हुई अग्नि मन्थन से पूर्व दिखाई नहीं देती है और न ही इसके सूक्ष्म रूप का नाश होता है तथा उसी अरणि में स्थित अग्नि को ईन्धन (योनि) के पुनः पुनः मन्थन द्वारा फिर भी देखा जा सकता है। यहाँ योनि शब्द का प्रयोग कारण के रूप में किया गया है। उसी प्रकार आत्मा भी सदैव विद्यमान रहती है परन्तु अविद्यादि के प्रभाव के कारण दिखाई नहीं देती और प्रणवद्वारा उसको शरीर में देखा जा सकता है। यहाँ पर "उभयम्" शब्द सादृश्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

———

तदेव प्रपञ्चयति—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ॥१४॥

शांकर भाष्यम्

स्वदेहमिति। स्वदेहमरणिं कृत्वाधरारणिं ध्यानमेव निर्मथनं तस्य निर्मथनस्याभ्यासाद्देवं ज्योतीरूपं प्रपश्येन्निगूढाग्निवत् ॥१४॥

अपने शरीर को (निम्न अरणि) बनाकर और प्रणव को उत्तरारणि बना कर ध्यानरूप मन्थन के अभ्यास से छिपे हुए देव को देखे ।

स्वदेहमरणिम्—पिछले मन्त्र में अग्नि के प्रतीक द्वारा यह संकेत किया गया था कि जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि स्थित रहती है और दिखाई नहीं देती उसी प्रकार शरीर में आत्मा भी विद्यमान रहती है और अविद्यादि के कारण यह भासित नहीं होती है। यहाँ इस मन्त्र में उस संकेत को और अधिक व्यापक रूप दे दिया गया है। शरीर स्थित आत्मा को प्राप्त करने के लिए अपने शरीर को नीचे की अरणि समझना चाहिए। इसी मन्त्र में आगे कहा गया है कि प्रणव को उत्तरारणि बना कर ध्यान रूपी मन्थन के द्वारा छिपे हुए देव को देखना चाहिए। शरीर स्थूल तत्व है और प्रणव सूक्ष्म तत्त्व है। तो फिर मन्थन में इन दो विपरीत तत्त्वों का प्रयोग कैसे हो सकता है ? क्या मन्थन में शरीर तथा प्रणव का प्रयोग हो सकता है ? **शंकरानन्द**[1] का मत है कि शरीर तो मात्र उपलक्षण है और शरीर द्वारा वास्तव में हृदय अभिप्रेत है, अर्थात् हृदय को नीचे की अरणि बनाना चाहिए और प्रणव को ऊपर की अरणि बनाना चाहिए। इस सारे प्रसंग का तात्पर्य है कि हृदय में प्रणव का निदिध्यासन किया जाना चाहिए। **नारायण** के अनुसार शरीर प्रणव का आधार है। **विज्ञानभगवान**[2] का कहना है कि अपने उस शरीर को निम्न अरणि बनाना चाहिए जो आत्मतत्त्व का तिरस्कार करनेवाला तथा अविद्यादि के कारण कार्यकारण की परम्परा को नकारने वाला है। उस शरीर को निम्न अरणि, समझना चाहिए जो आत्माभिव्यक्ति का मात्र एक स्थान है, ऐसा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का मत है। **शंकराचार्य** के अनुसार देह (शरीर) अरणि है।

प्रणवं चोत्तरारणिम्—ध्यान रूपी मन्थन में प्रणव को ऊपर की अरणि बनाना चाहिए, ऐसा **शंकरानन्द** का मत है। **नारायण**[3] मन्थन के इस प्रसंग को खींच कर तन्त्र की ओर ले जाते हैं और उनका कहना है कि षट्चक्र का भेदन करके ऊर्ध्व-गमन ही उत्तरारणि है। **विज्ञानभगवान** मानते हैं कि प्रणव ही वेदसार है और उसको सम्यग्ज्ञान के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** के अनुसार सोलह मात्राओं से युक्त प्रणव उत्तरारणि है। **शंकराचार्य** ने यहाँ पर मौन रहना ही उचित समझा है।

ध्याननिर्मथनाभ्यासात्—ध्यानरूपी मन्थन के अभ्यास द्वारा ही उस छिपे हुए देव को देखे। जहाँ तक ध्यान और अभ्यास का प्रश्न है पातञ्जल[4] योग सूत्रों में

---

१. स्वदेहं स्वशरीरं शरीरेणोपलक्षितं हृदयं अरणिं कृत्वा। पृ० ६७।

२. स्वदेहमरणिं कृत्वा स्वस्याऽऽत्मतत्त्वस्यातिरस्कारकाविद्यातत्कार्यकारणसंघात-लक्षणं देहम्। पृ० १६०।

३. उत्तरारणिं तस्य षट्चक्रभेदनेनोर्ध्वं नीतत्वात्। पृ० १५१।

४. (१) पातञ्जल योगसूत्र, २.२ तथा २.३ (ध्यान)।
(२) पातञ्जल योगसूत्र, १.१३ तथा १४ (अभ्यास)।

इसका विस्तार से विवेचन किया गया है। जैसे अरणियों में से अग्नि को प्रज्ज्वलित करने के लिए निरन्तर मन्थन करना पड़ता है उसी प्रकार शरीर में स्थित आत्मा को जानने के लिए ध्यान एवं निदिध्यासन का अभ्यास करना आवश्यक है। यहाँ यह प्रश्न पैदा होता है कि वार बार अभ्यास की ओर क्यों संकेत किया गया है। संसार में प्रायः यह देखा जाता है कि हम जिन क्रिया-कलापों का प्रतिदिन अभ्यास करते हैं हमें उनमें एक विशेष प्रकार की योग्यता प्राप्त हो जाती है और हम अभ्यास द्वारा अपने अभिप्रेत पदार्थ को प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं। परन्तु जहाँ तक आत्मज्ञान या आत्मानुभूति का प्रश्न है यह संभव है कि निरन्तर अभ्यास के पश्चात् भी इसका ज्ञान प्राप्त न हो क्योंकि यह प्रयत्न करने वाले की इच्छा पर निर्भर नहीं है। यहाँ पर स्थिति बिलकुल विपरीत है क्योंकि **कठोपनिषद्** (१.२.२३) में कहा गया है कि यह आत्मा न तो प्रवचन से प्राप्त होती है, न बुद्धि से और न बहुश्रुत होने से प्राप्त होती है। जिसको यह स्वयं चुनती है केवल उसी के द्वारा ही यह प्राप्त होती है और उसी को अपने शरीर को उद्घाटित करती है (**नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।**) इसलिए परमात्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए तो निरन्तर अभ्यास करना ही श्रेयस्कर है। निरन्तर अभ्यास के पश्चात् यह संभव है कि आत्मानुभूति हो सके। **शंकरानन्द** के अनुसार उत्तरारणि को कसकर पकड़ कर दबाना और निम्न अरणि पर निरन्तर घुमाना मन्थन है। ऐसे मन्थन का निरन्तर अभ्यास किया जाना चाहिए। **नारायण** के अनुसार ध्यान ही निर्मथन है और उसका पुनः पुनः करना ही अभ्यास है। **विज्ञानभगवान** के अनुसार निदिध्यासन ही निर्मथन है और उसके अभ्यास द्वारा देव अर्थात् द्योतनस्वभाव वाले तथा सुख, संवित् और आत्मतत्त्व को देखे। **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** मानते हैं कि ब्रह्म (स्वमात्र) का अनुसन्धान ही निर्मथन का अभ्यास है। **शंकराचार्य** के अनुसार ध्यान ही निर्मथन है, उस निर्मथन के अभ्यास से देव—ज्योति स्वरूप परमात्मा को छिपे हुए अग्नि के समान देखे।

उक्तस्यार्थस्य द्रढिम्ने दृष्टान्तान् बहून् दर्शयति—

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पि-
रापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ
सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥१५॥

शांकरभाष्यम्

तिलेष्विति। यन्त्रपीडनेन तैलं गृह्यते। दधनि मथनेन सर्पिरिव। आपः स्रोतःसु नदीषु भूखननेन। अरणीषु चाग्निर्मथनेन। एवमात्मात्मनि स्वात्मनि गृह्यतेऽसौ

मननेनात्मभूतदेहादिष्वन्नमयाद्यशेषोपाधिप्रविलापनेन निर्विशेषे पूर्णानन्दे स्वात्मन्येवावगम्यत इत्यर्थः।

केन तर्हि पुरुषेणात्मन्येव गृह्यते ? इत्यत आह—सत्येन यथाभूतहितार्थवचनेन भूतहितेन। "सत्यं भूतहितं प्रोक्तम्" इति स्मरणात्। तपसेन्द्रियमनसामैकाग्रचलक्षणेन। "मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्रचं परमं तपः" इति स्मरणात्। एनमात्मानं योऽनुपश्यति ॥१५॥

जैसे तिलों में तेल, दही में घी, स्रोतों में जल तथा अरणियों में अग्नि (स्थित है), उसी प्रकार जो इसे सत्य और तप द्वारा बार-बार देखता है उसे यह आत्मा आत्मा में ही ग्रहण होती है।

अभी-अभी उपनिषद्कार ने बतलाया है कि अग्नि काष्ठ में स्थित रहती है परन्तु उसका स्वरूप दिखाई नहीं देता और निर्मथन द्वारा उस अग्नि को देखा जा सकता है, उसी प्रकार आत्मा भी शरीर में विद्यमान रहती है और ध्यान रूपी निर्मथन से उसको भी देखा जा सकता है। जैसा पहले भी कहा जा चुका है कि उपनिषदों में कठिन बात को अतीव सरल शैली के माध्यम से समझाया गया है। एतदर्थ नाना प्रकार की उपमाएँ, रूपक तथा प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। यहाँ पर भी इसी बात को समझाने के लिए अनेक प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। इन सभी प्रतीकों की एक विशेषता है कि इन सभी में एक निगूढ़ तत्त्व है जिसको प्रयत्नपूर्वक ही देखा जा सकता है। सभी में कुछ-न-कुछ तत्त्व अन्तर्निहित है परन्तु सामान्यतया वह दिखाई नहीं देता। जिस प्रकार अग्नि को प्राप्त करने के लिए मन्थन की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार ये सभी कोई-न-कोई प्रयत्नसापेक्ष हैं। बिना प्रयत्न के इनके अन्तर्निहित तत्त्वों का प्राप्त होना तो दूर रहा उनको चाक्षुष नेत्रों से देखा भी नहीं जा सकता। आत्मा भी इसी प्रकार मनुष्य की अन्तरात्मा में निहित है।

जैसे तिलों में तेल विद्यमान रहता है और वह तेल यन्त्रनिष्पीड़न द्वारा ही अभिव्यक्त होता है। आत्मा भी उसी प्रकार सब में विद्यमान है और उसकी अभिव्यक्ति भी एक विशेष क्रमबद्ध तपस्या द्वारा ही होती है **विज्ञानभगवान** और **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का मत है कि तिलों में तेल का उदाहरण आत्माभिव्यक्ति का परिचायक है। दही में से निकलने वाला मक्खन सगुण ब्रह्म के समान है और अग्नि पर तपाए जाने के पश्चात् पुरुषार्थरूप में अभिव्यक्त होनेवाला सुगन्धियुक्त घृत निर्गुण ब्रह्म का परिचायक है। जो जल स्रोतों से या सूखी नदियों से निकाला जाता है वह जल ताप को शमन करने वाला है। आत्मतत्त्व की अभिव्यक्ति भी इसी प्रकार है। स्रोत से जल का निकलना विश्वभर के संताप उपशमन हेतु का परिचायक है। अरणियों से अग्नि की प्राप्ति होती है, अर्थात् अरणियाँ अपने आप को जलाकर अग्नि उत्पन्न करती हैं। अरणियों में स्थित अग्नि मंथन

द्वारा अभिव्यक्त होती है। आत्मा भी उसी प्रकार इस कार्यकारणसंघात रूपी संसार में अन्तर्निहित रहती है और वह श्रुति, आचार्य की कृपा, श्रवण, मनन, चिन्तन तथा निदिध्यासनादि उपायों के द्वारा अभिव्यक्त होती है, ऐसा **उपनिषद्-ब्रह्मयोगी** मानते हैं। सत्य यमादि साधनों का परिचायक है और तप बाह्य तथा अन्तःकरण के निरोध का परिचायक है। सत्य तथा तप से चित्त की शुद्धि होती है। चित्त शुद्धि से सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार सत्य तथा तप से जो इसको प्राप्त करने का प्रयत्न करता है उसी व्यक्ति के द्वारा यह आत्मा उसके अपने अन्तःकरण में उपलब्ध होती है।

कथमेनमनुपश्यति ? इत्यत आह—

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम्॥
तद्ब्रह्मोपनिषत्परम्॥१६॥

शांकरभाष्यम्—

सर्वव्यापिनमिति। सर्वं प्रकृत्यादिविशेषान्तं व्याप्यावस्थितं न देहेन्द्रियाद्यध्यात्ममात्रावस्थितमात्मानं क्षीरे सर्पिरिव सारत्वेन निरन्तरतयात्मत्वेन सर्वेष्वर्पितमात्मविद्यातपसोर्मूलं कारणम्। श्रूयते च—"एष ह्येव साधुकर्म कारयति।" (कौषी० उ० ३।८) "ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते" (गीता १०।१०) इति।

अथवात्मविद्या च तपश्च यस्यात्मलाभे मूलं हेतुरिति। तथा च श्रुतिः—"विद्ययामृतमश्नुते" (ई० उ० ११)।"तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व" (तै० उ० ३।२।१) इति च। ब्रह्मोपनिषत्परमुपनिषण्णमस्मिन्परं श्रेय इति। यः सत्यादिसाधनसंयुक्तः स एनं सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितमात्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परमनुपश्यति। सर्वगतं ब्रह्मात्मदर्शिनात्मन्येव गृह्यते नासत्यादियुक्तेन परिच्छिन्नब्रह्मान्नमयाद्यात्मना। श्रूयते च—"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। न एषु जिह्ममनृतं न माया च" (प्र० उ० १।१६) इति। द्विर्वचनमध्यायपरिसमाप्त्यर्थम्॥१६॥

दूध में घृत के समान ही आत्मा सर्वव्यापी है, यह आत्मविद्या और तप का मूल है। (उपनिषद् द्वारा प्रतिपादित) वह परम ब्रह्म है। (उपनिषद् द्वारा प्रतिपादित) वह परम ब्रह्म है।

सरलतम शैली के प्रतीकों से ब्रह्म एवं आत्मा-परमात्मा संबंधी तत्त्वों को समझाने की शृंखला में यह अन्तिम मन्त्र है। अभी तक विचार किया जा रहा था

कि तिल, दही, स्रोत तथा अरणिओं में एक तत्त्व विद्यमान है जो हमारे नेत्रों द्वारा साक्षात् प्रतीयमान नहीं होता। उस तत्त्व की प्राप्ति के लिए एक विशेष प्रकार की प्रक्रिया आवश्यक है। सभी में वह तत्त्व निगूढ़तम रूप में अन्तर्निहित है। सादृश्य के आधार पर बताया गया है कि आत्मा का ग्रहण भी उसी प्रकार आत्मा में ही किया जाता है, उसके लिए आवश्यकता है सत्य तथा तप की। पूर्वोक्त प्रतीकों में दूध नामक एक प्रतीक और जोड़ दिया गया। संभवतः ऋषि ने अपनी बात को और अधिक सरल ढंग से कहने का प्रयास किया है। सबसे पहले विचारणीय है कि सबसे अधिक सर्वव्यापी क्या है। झटत्येव हमारे मन में आकाश नामक एक महाभूत की कल्पना अवतरण होती है। आकाश सबसे अधिक सर्वव्यापी है ऐसा हम अपने बुद्धिसाक्ष्य से जानते हैं। पर आत्मा इससे भी अधिक सर्वव्यापी है, वह तो स्वयं प्रकाश और चिदानन्द स्वरूप है। परन्तु वह सर्वव्यापी आत्मा क्या दिखाई देती है? लौकिक उदाहरण में क्या दूध में घी कहीं दिखाई देता है? परन्तु न देने पर भी वह वस्तु जाति रूप में सदैव दूध में अन्तर्निहित रहती है। उसी प्रकार यह आत्मा भी सर्वत्र विद्यमान रहती है। वह तो वास्तव में न केवल विद्या तथा तप का ही मूल है अपितु वह सब ही पदार्थों का मूल है क्योंकि स्वयं श्वेताश्वतरोपनिषद् का ही प्रमाण है : **यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः** (१.३)। वह तो काल का भी कारण है। उस स्वयंप्रकाश तथा चिदानन्दस्वरूप आत्मा की श्रवण, मनन, चिन्तन एवं निदिध्यासन द्वारा उपासना करने से उसका साक्षात्कार होता है। वास्तव में यह साक्षात्कार ही विद्या है। अपने-अपने वर्ण तथा आश्रम के आचार के अनुकूल आत्म-ज्ञान का साधन ही तप है ऐसा **शंकरानन्द**[1] का विचार है। विद्या और तप तो मात्र उपलक्षण हैं। वह तो सारे संसार का उपादान कारण है और उसकी प्रतीति तो सम्यग् ज्ञान द्वारा ही संभव है। यहाँ पर अन्तिम चरण की पुनरुक्ति की गई है। संस्कृत के ग्रन्थों में ग्रन्थ या अध्याय के अन्त में प्रायः इस प्रकार की पुनरुक्तियाँ देखी गई हैं। प्रकृत पुनरुक्ति को लेकर ही कुछ विद्वानों[2] का मत है कि संभवतः **श्वेताश्वतरोपनिषद्** मूलरूप में एक ही अध्याय का रहा हो तथा कालान्तर में इसमें पाँच अध्याय और जोड़ दिए गए हों। इस बात का एक हल्का सा संकेत हमें इसके छठे अध्याय के अन्तिम चरण की पुनरुक्ति से भी होता है।

———

१. तप आत्मज्ञानसाधनं स्ववर्णाश्रमोचिताचाररूपम्। पृ० ९८।

२. रानाडे, रामचन्द्र दत्तात्रेय, उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ० २१ १९७१, जयपुर।

द्वितीयोऽध्यायः

ध्यानमुक्तं ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवदिति परमात्मदर्शनोपायत्वेन । इदानीं तदपेक्षितसाधनविधानार्थं द्वितीयोऽध्याय आरभ्यते । तत्र प्रथमं तत्सिद्धयर्थं सवितारमाशास्ते—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत ॥१॥

शांकरभाष्यम्—

युञ्जान इति । युञ्जानः प्रथमं मनः प्रथमं ध्यानारम्भे मनः परमात्मनि संयोजनीयं धिय इतरानपि प्राणान् । "प्राणा वै धियः" इति श्रुतेः । अथवा धियो बाह्यविषयज्ञानानि । किमर्थम् ? तत्त्वज्ञानाय सविता धियो बाह्यविषयज्ञानादग्नेर्ज्योतिः प्रकाशं निचाय्य दृष्ट्वा पृथिव्या अध्यस्मिञ्छरीर आभरदाहरत् ।

एतदुक्तं भवति—ज्ञाने प्रवृत्तस्य मम मनो बाह्यविषयज्ञानादुपसंहृत्य परमात्मन्येव संयोजयितुमनुग्राहकदेवतात्मनामग्न्यादीनां यत्सर्ववस्तुप्रकाशनसामर्थ्यं तत् सर्वमस्मद्वागादिषु संपादयेत् सविता यत्प्रसादादवाप्यते योग इत्यर्थः । अग्निशब्द इतरासामप्यनुग्राहकदेवतानामुपलक्षणार्थः ॥१॥

सूर्य ने पहले मन (और) बुद्धि को तत्त्वज्ञान में लगाते हुए अग्नि की ज्योति का अवलोकन कर (उसे) पृथिवी पर स्थापित किया ।

अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत—अग्नि की ज्योति का अवलोकन कर उसे पृथिवी पर स्थापित किया । पिछले अध्याय में **"स्वदेहमरणिं कृत्वा"** आदि मन्त्रों से यह प्रतिपादित किया गया था कि ओम् के द्वारा समाधि के माध्यम से आत्मा का साक्षात्कार किया जाना चाहिए । अतः इस अध्याय में योग द्वारा आत्मदर्शन का विधान किया गया है । सर्वप्रथम पाँच मन्त्रों में सूर्य देवता से प्रार्थना की गई है कि आप हमारे मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों को उनके तत्तत् विषय भोगों से हटा कर तत्त्वचिन्तन में लगायें । ये पहले पाँच मन्त्र **तैत्तिरीय संहिता** ४.१.१.१-५; **वाजसनेयी संहिता** ११-१-५ तथा **शतपथ ब्राह्मण** ६.३.१.१२-१५ से लिए गए हैं । वहाँ पर इन मन्त्रों का प्रयोग यज्ञ के सन्दर्भ में किया गया है । क्योंकि ये मन्त्र वहाँ पर यज्ञ के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुए हैं । स्वभावतः वहाँ इनका यज्ञपरक ही अर्थ हो सकता है परन्तु यहाँ पर ये सूर्य के प्रति मात्र प्रार्थनाएँ हैं । जहाँ तक इन मन्त्रों के यहाँ पर उद्‌धृत किए जाने का प्रश्न है इस पर मैक्समूलर[1] का कथन है कि क्योंकि इनमें केवल सूर्य का आह्वान ही किया है अतः इनका यहाँ पर विशेष रूप से योग

---

१. सेक्रिड बुक्स ऑफ् दि ईस्ट, वाल्यूम् १५, भाग २, पृ० २३८ ।

के संदर्भ में कोई विशेष प्रयोजन नहीं है। मैक्स मूलर[1] का विचार है कि **शंकराचार्य** ने इन मन्त्रों को योग के संदर्भ में इतना तोड़ा-मरोड़ा है कि वे लगभग बिल्कुल निरर्थक बन गए हैं। प्रकृत प्रसंग में कहा गया है कि अग्नि की ज्योति का अवलोकन करके उसे पृथिवी पर स्थापित किया या करे। यहाँ पर यह विचारणीय है कि क्या अग्नि तथा उसकी ज्योति पृथक् पृथक् हैं और उसके पृथिवी पर स्थापित करने से ऋषि का क्या तात्पर्य रहा होगा। इस प्रसंग को लेकर टीकाकारों में पर्याप्त मतभेद है। इस प्रसंग में **शंकरानन्द** का कथन है कि अग्नि स्वयंप्रकाश-स्वरूप ज्योति है। उसको मन से देखना चाहिए। सर्वप्रथम मन का योजन करना चाहिए क्योंकि अत्यधिक चञ्चल इन्द्रियों तथा प्राणों का मन के अंकुश के बिना निग्रह करना कठिन है। समाहित मन के द्वारा ज्योति का अवलोकन करके सूर्य देवता बुद्धि को तत्त्व में लगाए। स्थूल ब्रह्माण्ड तथा विराट् शब्द से अभिव्यक्त होने वाली पृथिवी और सूक्ष्म आत्म तत्त्व को अव्याकृत किया या भली भाँति पालन पोषण किया। ऐसा लगता है कि **शंकरानन्द अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत** को **अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य** तथा **पृथिव्या अध्याभरत** के रूप में दो वाक्यों में विभक्त कर इसकी व्याख्या करते हैं। **नारायण** मानते हैं कि यहाँ मन हिरण्यगर्भ का द्योतक है। **तत्त्वभाव** को वे **तस्य भावः** मानकर व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार **धियः** प्राणों का बोधक है। **नारायण**[2] के अनुसार अग्नि की ज्योति आत्मा का प्रकाश है और मन की मनन शक्ति तथा इन्द्रिय शक्ति ही आत्मीय तेज है। उसको सारी प्रजा पर स्थापित करे। समष्टि मन ही व्यष्टि रूप में प्रजा में स्थापित होता है। **विज्ञानभगवान**[3] तथा **उपनिषद् ब्रह्मयोगी** इस मन्त्र की इस प्रकार व्याख्या करते हैं। सूर्य देवता मन को तत्त्वचिन्तन के लिए परमात्मा में लगाता है। वह सूर्य देवता बुद्धि, मन तथा उसके विक्षेप की निमित्तभूता इन्द्रियों को आसुरी वृत्तियों से रोककर सात्त्विक वृत्ति में लगाता है। अग्नि की ज्योति उपलक्षण है। अग्नि सब ज्योतियों का भी ज्योति

---

१. सेक्रिड बुक्स ऑफ् दि ईस्ट, वाल्यूम् १५, भाग २, पृ० २३८।

२. अग्नेरात्मनो ज्योतिः प्रकाशात्मकं निचाय्य दृष्ट्वा मनसो मननशक्तिरिन्द्रियशक्तिश्चाऽऽत्मीयमेव तेज इत्यर्थः। तन्मनःपृथिव्यै विस्तीर्णप्रजाया अध्याभरदध्याहरति। पृ० १५२।

३. मनोविक्षेपहेतुभूतज्ञानेन्द्रियाण्यासुरवृत्तिभ्यो वियोज्य सात्त्विकवृत्तिभिः संयोजयन्नग्नेर्ज्योतिरग्नेरित्युपलक्षणम्। अग्न्यादिसर्वज्योतिषां ज्योतिः। तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरिति श्रुत्यन्तरे च प्रसिद्धं निचाय्य निश्चित्य पृथिव्या अध्याभरत्। पृथिव्या इत्युपलक्षणं पृथिव्यादिपञ्चभूतात्मककार्यकारणसंघातावधि तत्संघाते तत्रापि बुद्धावाभरदाहरत्। तत्पदार्थभूतं ब्रह्मज्योतिः कार्यकारणसंघाते प्रत्यक्त्वेनाभिव्यनक्तीति यावत्। पृ० १९२।

है। देवताओं ने उसी ज्योति का अवलोकन करके पृथिवी पर स्थापित किया। पृथिवी का प्रयोग भी उपलक्षण है। पृथिवी पञ्चमहाभूत तथा कारणकार्यसंघात का द्योतक है। उस संघात में बुद्धि तत्त्व में उस ज्योति को स्थापित करे। उस कार्य-कारणसंघात में प्रत्येक व्यक्ति में वही ब्रह्मज्योति विद्यमान है। **शंकराचार्य** का कहना है कि सविता देवता अग्नि आदि इन्द्रियाभिमानी देवताओं के विषयप्रकाशन—सामर्थ्य का अवलोकन कर उसे पृथिवी से ऊपर इस शरीर (शरीर -रूप इन्द्रियों) में स्थापित करे। किसलिए? —तत्त्व अर्थात् तत्त्वज्ञान के लिए। यहाँ प्राण ही बुद्धि है।

अभी हमने टीकाकारों द्वारा किए गए अर्थों पर विचार किया। परन्तु इन सब पर विचार करने के बाद भी कोई बात स्पष्ट रूप से सामने नहीं आती। प्रश्न है कि अग्नि की ज्योति से ऋषि का क्या तात्पर्य है और उसको किस प्रकार पृथिवी पर स्थापित किया जाए। इस बात को हम **केनोपनिषद्** के कुछ मन्त्रों से समझ सकते हैं। **केनोपनिषद्** के वे मन्त्र निम्नलिखित हैं:

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनो यद् वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥
न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैत-दनुशिष्यात्।
अन्यदेव तद् विदितादधि अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे॥

यद् वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ (केनोपनिषद् १.२-८)

उपर्युक्त मन्त्रों में एक ऐसे तत्त्व की ओर संकेत किया गया है जिसके द्वारा हमारी इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होती हैं। हमारी सारी इन्द्रियाँ पार्थिव हैं। प्रकृत मन्त्र में "**अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य**" संभवतः प्रतीकात्मक रूप में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ अग्नि की ज्योति का अवलोकन करने से ऋषि का तात्पर्य है कि अग्नि एवं ज्योति पृथक् नहीं है। श्रुति में अग्नि को ज्योतियों की भी ज्योति कहा गया

है। पृथिवी शब्द का प्रयोग भी प्रतीकात्मक रूप में हुआ है। इसके साथ-साथ नेत्र, श्रवण, मन, प्राण तथा वाणी आदि सभी पार्थिव इन्द्रियाँ हैं। ज्योति का अवलोकन करने से संभवतः ऋषि का संकेत उस तत्त्व की ओर है जिससे हमारी इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होती हैं। उस तत्त्व को सारे ब्रह्माण्ड, स्थूल तथा सूक्ष्म तथा इन्द्रियों के ऊपर अर्थात् उनके अधिष्ठातृ देवताओं से भी ऊपर स्थापित करे। इस प्रकार इस प्रसंग में अग्नि, ज्योति तथा पृथिवी ये तीन शब्द प्रतीकात्मक रूप में प्रयुक्त हुए हैं। पाँचों टीकाकारों में से केवल **विज्ञानभगवान**[1] ने ही इस अर्थ का हल्का सा संकेत अपने विवरण नामक भाष्य में किया है।

जैसा पहले ही बतलाया जा चुका है कि द्वितीय अध्याय के प्रथम पाँच मन्त्र **तैत्तिरीय संहिता, वाजसनेयिसंहिता** तथा **शतपथ ब्राह्मण** से लिए गए हैं अतः यहाँ पर तत्तत् प्रकरण में लिए गए अर्थ पर विचार करना प्रासंगिक होगा। **तैत्तिरीय संहिता**[2] (४.१.१.१) के अनुसार इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होगा। सूर्य देवता (प्रेरक और परमेश्वर) सर्व प्रथम मन को अग्नि-चयन में लगाता है। **अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य** से तात्पर्य है कि चीयमान अग्नि तथा उससे सफल होने वाले कर्मों के स धनभूत तत्त्व को पृथिवी के ऊपर स्थापित करे।

वाजसनेयी संहिता (११.१) के **उवट भाष्य** तथा **महीधर भाष्य** द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि इस मन्त्र का प्रयोग अग्नि चयन के समय किया जाता था। **उवट भाष्य**[3] में बतलाया गया है कि प्रजापति ने अग्नि संबंधी आठ अध्यायों का दर्शन किया। इसके पश्चात् वहाँ पर आगे वर्णन मिलता है कि प्रजापति ने पहली चिति को देखा और प्रजापति ही उसके ऋषि हैं। देवताओं ने दूसरी चिति को देखा और वे ही उसके ऋषि हैं। इन्द्राग्नी तथा विश्वकर्मा ने तीसरी चिति को देखा और वे ही उसके ऋषि हैं। ऋषियों ने चौथी चिति को देखा और वे उसके ऋषि हैं। परमेष्ठी ने पाँचवीं चिति को देखा और परमेष्ठी ही उसके ऋषि हैं। अग्नि के आरम्भ में सविता पहले मन का नियोजन करता हुआ और उसके बाद बुद्धि का विस्तार करता है अर्थात् मन से पर्यालोचन करके बुद्धि में अवधारण करता है। **उवट भाष्य** में **तत्वाय** को 'तनु **विस्तारे**' धातु से संबद्ध किया गया है और **तत्वाय** का अर्थ विस्तार करके किया गया है। **उवट भाष्य** में अग्नि संबंधी ज्योति को ही अग्नि की ज्योति माना गया है। **निचाय्य** से तात्पर्य है प्राप्त करके, अर्थात् पाँच पशुओं में प्रविष्ट हुए को प्राप्त करके उसके पश्चात् पशुरूप पृथिवी पर स्थापित किया अर्थात् ईटों के माध्यम से अग्नि चयन किया।

---

१. विवरण पृ० १६२।
२. तैत्तिरीय संहिता, उट भाष्य, ० १६४३, आवपूनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावली पूना, १६४८।
३. वाजसनेयी संहिता, उवट भाष्य, पृ० १८३, बंबई, १६२६

उवट भाष्य के समान ही **महीधर भाष्य** भी पाँच चितियों का वर्णन करता है। **महीधर भाष्य**[1] के अनुसार इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार से किया जा सकता है : सबका प्रेरक सविता प्रजापति है। चीयमान अग्नि संबंधी तेज को पाँच पशुओं में प्राप्त करके या सफल कर्मों के साधन का निश्चय करके पशुरूप पृथिवी पर स्थापित किया। ईंटों को बनाकर अग्नि चयन किया। श्रुति में सविता को प्रजापति का वाचक बतलाया गया है। सबसे पहले अग्नि के आरम्भ में मन का योजन करते हुए ईंटों से संबंधित ज्ञान का विस्तार करके अर्थात् मन से पर्यालोचन करके बुद्धि में धारण किया।

शतपथ ब्राह्मण[2] (६.३. १.१२) में भी इस मन्त्र का प्रयोग यज्ञ के संदर्भ में किया गया है।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
सुवर्गेयाय शक्त्या ॥२॥

शांकरभाष्यम्

युक्तेनेति। यदा तत्त्वाय मनो योजयन्ननुग्राहकदेवताशक्त्याधानेन देहेन्द्रियदाढर्च्यं करोति तदा युक्तेन सवित्रा परमात्मनि संयोजितेन मनसा वयं तस्य देवस्य सवितुः सवेऽनुज्ञायां सत्यां सुवर्गेयाय स्वर्गप्राप्तिहेतुभूताय ध्यानकर्मणे यथासामर्थ्यं प्रयतामहे। परमात्मवचनोऽत्र स्वर्गशब्दः। तत्प्रकरणात्तस्यैव सुखरूपत्वात्तदंशत्वाच्चेतरस्य सुखस्य। तथा च श्रुतिः—"एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" (बृ० उ० ४।३।३२) इति ॥२॥

सूर्य देव की आज्ञा से एकाग्र बुद्धि वाले मन से हम अपनी शक्ति के अनुकूल स्वर्ग के लिए साधन भूत (कर्म का प्रयत्न करें)।

सुवर्गेयाय—**वाजसनेयी संहिता** (११.२) में इसके स्थान पर **स्वर्गयाय** पाठ उपलब्ध होता है। **शंकरानन्द** इसके स्थान पर **स्वर्गेयाय** पाठ स्वीकार करते हैं। **शंकरानन्द** के अनुसार जिसके लिए स्वर्ग में प्रार्थना की जाती है वह ही **स्वर्गेयाय है**। अविद्या आदि से निवृत्ति तथा मोक्ष ही वह तत्त्व है जिसको स्वर्ग में भी माँगा जाता है। **नारायण** के अनुसार **स्वर्गेयाय** से उन कर्मों से तात्पर्य है जिनके द्वारा शरीर सामर्थ्य के अनुसार स्वर्ग निमित्त कर्म किए जाते हैं। सात्त्विक प्रवृत्तियों के कारण अन्तःकरण के शुद्ध होने पर अपवर्ग की सिद्धि के लिए परमात्मा ने प्राणियों को शरीर प्रदान किया है अतः स्वर्ग को प्राप्त करने वाले कर्मों को करने का यथाशक्ति प्रयास करना चाहिए। **विज्ञानभगवान** मानते हैं कि निरतिशयानन्द की अभिव्यक्ति के हेतुभूत श्रवण, मनन, चिन्तन तथा निदिध्यासनादि उपायों को हमें अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार करना चाहिए। इसी प्रकार **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** भी यही मानते

---

१. वाजसनेयी संहिता, महीधर भाष्य, पृ० १८३, बंबई, १९२९।

२. शतपथ ब्राह्मण, सायण भाष्य, पृ० ७७, बंबई, १९४०।

हैं कि उस निर्विशेषानन्द की प्राप्ति के किए श्रवरण, मनन, चिन्तन तथा निदिध्यासन आदि कर्मों का यथाशक्ति करना ही **सुवर्गेयाय** है। **शंकराचार्य** का भी यही मत है कि हम लोग स्वर्गप्राप्ति के हेतुभूत ध्यानकर्म के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करेंगे। **तैत्तिरीय संहिता** (४.१.१.२) के **सायरण भाष्य** में कहा गया है कि सूर्य देवता हमारी इन्द्रियों को प्रेरित करता है। इसलिए हम सूर्य देवता की प्रेरणा से विषयों से अपने आप को हटाकर नियन्त्रित मन से स्वर्ग लोक को प्राप्त करने का यथाशक्ति प्रयत्न करें। जहाँ तक **वाजसनेयिसंहिता** (११.२) के **उवट भाष्य** तथा **महीधर भाष्य** का प्रश्न है वे भी इस मन्त्र का अर्थ इसी प्रकार करते हैं। **शतपथ ब्राह्मण** (६.३.१.१३) में बतलाया गया है कि अयुक्त मन से कोई भी कार्य नहीं किया जा सकता।

युक्त्वायेति पुनरपि सोऽप्येवं करोत्विति प्रार्थना—

युक्त्वाय मनसा देवान्सुवर्यतो धिया दिवम् ।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥३॥

शांकरभाष्यम्—

युक्त्वाय योजयित्वा देवान् मनआदीनि करणानि तेषां विशेषणं सुवः स्वर्गं सुखं पूर्णानन्दब्रह्म, यत इति द्वितीयाबहुवचनं पूर्णानन्दब्रह्म गच्छतो न शब्दादिविषयान् ।

पुनरपि विशेषणान्तरं धिया सम्यग्दर्शनेन दिवं द्योतनस्वभावं चैतन्यैकरसं बृहन्महद्ब्रह्म ज्योतिः प्रकाशं करिष्यतः पूर्णानन्दब्रह्माविष्करिष्यतः। अत्र द्वितीयाबहुवचनम्। सविता प्रसुवाति तान्करणानि। यथा करणादिविषयेभ्यो निवृत्तान्यात्माभिमुखान्यात्मप्रकाशमेव कुर्युस्तथानुजानातु सवितेत्यर्थः ॥३॥

सूर्य देवता, पूर्णानन्दरूप ब्रह्म की ओर जाते हुए सम्यग्दर्शन द्वारा महान् ज्योति का प्रकाशन करते हुए परमात्मा में नियोजित करके उनको आज्ञा प्रदान करे।

सुवर्यतः—स्वर्ग की ओर जाने वाले। प्रकृत मन्त्र में इन्द्रियों को देवाः कहा गया है और वे अपने-अपने विषयों की ओर जाती हैं। **शंकरानन्द** के अनुसार वैषयिक सुख ही स्वर्ग है और इन्द्रियाँ उसकी ओर भागती हैं। **शंकरानन्द** का कहना है कि कहीं-कहीं पर स्वः भी पाठ मिलता है। उस स्थिति में उसको पृथक् करके अर्थ होगा कि जो अपने सुख की ओर जाती हैं। **नारायण** भी यही अर्थ मानते हैं। इन्द्रियाँ द्युनामक लोक की ओर जाती हैं। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद् ब्रह्मयोगी** मानते हैं कि इन्द्रियाँ निरतिशय आनन्द रूप की ओर जाती हैं। **शंकरानन्द** का कहना है कि सुवः स्वर्ग का वाचक है और इन्द्रियाँ सुख अर्थात् पूर्णा-

नन्द स्वरूप ब्रह्म की ओर जाती हैं। **वाजसनेयी संहिता** (११.३) में **सुवर्यतः** के स्थान पर **स्वर्यतः** पाठ उपलब्ध होता है।

बृहज्ज्योतिः करिष्यतः—महान् ज्योति को प्रकाशित करती हुई। **शंकरानन्द** का कहना है कि हम सूर्य देवता की शक्ति से ही मोक्षोपयोगी कर्म करने में समर्थ होते हैं और हमारी इन्द्रियाँ सुख के लिए दौड़ती हैं और तत्तत् अनुभवों से विषय प्रपञ्च का ग्रहण करती हैं। यह सब सूर्य के प्रभाव से घटित होता है और सूर्य ही उनका उत्पादक है। **नारायण** का विचार है कि हम अपने कर्मों द्वारा सूर्य ज्योति की वृद्धि करते हैं। वेदों में सूर्य का आदित्य नाम भी उपलब्ध होता है और अग्नि भी उसी का रूप है। अग्नि के द्वारा ही कर्मों की निष्पत्ति होती है। सभी ऐसे कर्मों का प्रेरक सूर्य ही है। **विज्ञानभगवान** का कथन है कि प्रकाश अलौकिक और महान् ज्योति है और उस महान् ज्योति का बुद्धि द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है। **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का भी यही मत है कि उस अद्वितीय ज्योति चित्प्रकाश का बुद्धि द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है। **शंकराचार्य** का सुझाव है कि यह पद **देवान्** का विशेषण है; द्योतन स्वभाव चैतन्यैकरस बृहत्-महत् अर्थात् ब्रह्म ज्योति का प्रकाशन करेंगी, पूर्णानन्द ब्रह्म का प्रादुर्भाव (अनुभव) करेंगी। सामान्यतया इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों की ओर जाती हैं परन्तु सूर्य देवता की आज्ञा से इन्द्रियाँ सम्यग्दर्शन द्वारा उस महान् ज्योति का अनुभव करेंगी जो पूर्णानन्द स्वरूप है।

यह मन्त्र **तैत्तिरीय संहिता** (४.१.१.३) में भी आता है। वहाँ इस मन्त्र का यज्ञपरक अर्थ किया गया है। जहाँ तक **सुवर्यतः** पद का प्रश्न है, **तैत्तिरीय संहिता** में यही अर्थ लिया गया है जो टीकाकारों ने किया है। **तैत्तिरीय संहिता** में **बृहज्ज्योतिः करिष्यतः** को यज्ञ के साथ जोड़ा गया है अर्थात् चीयमान अग्नि को बुद्धि से प्राप्त किया जाए और तत्तत् विषयक इष्टिकाओं का ज्ञान भी अपेक्षित है। **वाजसनेयी संहिता**[1] (११.३) के **उवट भाष्य** तथा **महीधर भाष्य** के अनुसार इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है: सूर्य देवता स्वर्गगामी इन्द्रियों का नियमन करके और आदित्य संबंधी महती ज्योति का आत्मा से एकीकरण करते हुए उन

---

१. बृहत् महत् ज्योतिः आदित्यलक्षणमात्मत्वेन करिष्यतः संस्कुर्वतः। कीदृशः सविता? सविता प्रेरयिता। अन्येन कर्मणा स्वर्गं गच्छतो देवानग्निकर्मणा सविता प्रेरयिता सविता प्रजापतिः तान् देवानिन्द्रियविशेषान्युक्त्वा विषयेभ्यो नियम्य प्रसुवाति प्रकर्षेणाग्निकर्मणि प्रेरयति। कीदृशान्? स्वर्यतः स्वर्गप्राप्त्यै उद्यतान्। तथा बृहत् प्रौढं ज्योतिः चीयमानस्याग्नेस्तेजः धिया दिवं करिष्यतः तत्तदिष्टकाविषयया प्रज्ञया द्योतमानं कर्तुमुद्यतान्। वाजसनेयी संहिता, महीधर भाष्यः, पृ० १८४, बंबई, १९२९।

इन्द्रियों को विषयों से रोककर विशेष रूप से अग्नि कर्म में प्रेरित करता है। महती चीयमान अग्नि के तेज को बुद्धि के द्वारा प्राप्त किया जाए तथा उसके तत्तत् इष्टिका विषयक ज्ञान को प्राप्त किया जाना चाहिए। **शतपथ ब्राह्मण**[1] के अनुसार इस मन्त्र में मन ही सूर्य है और प्राण देवता हैं। सूर्य ही महान् ज्योति है।

तस्यैवमनुजानतो महती परिष्टुतिः कर्तव्येत्याह—

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो
विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक
इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥४॥

शांकरभाष्यम्—

युञ्जत इति। युञ्जते योजयन्ति ये विप्रा मन उत युञ्जते धिय इतराण्यपि करणानि। धीहेतुत्वात्करणेषु धीशब्दप्रयोगः। तथा च श्रुत्यन्तरम्—"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह"(क० उ० २।३।१०) इति। विप्रस्य विशेषेण व्याप्तस्य बृहतो महतो विपश्चितः सर्वज्ञस्य देवस्य सवितुर्मही महती परिष्टुतिः कर्तव्या। कैर्विप्रैः।

पुनरपि तमेव विशिनष्टि—वि होत्रा दधे होत्राः क्रिया यो विदधे वयुनावित्प्रज्ञावित्सर्वज्ञानात्साक्षिभूत एकोऽद्वितीयः। ये विप्रा मनआदिकरणानि विषयेभ्य उपसंहृत्यात्मन्येव योजयन्ति तैर्विप्रस्य बृहतो विपश्चितो महती परिष्टुतिः कर्तव्या होत्रा विदधे वयुनाविदेकः सविता ॥४॥

ब्राह्मण लोग अपने मन एवं इन्द्रियों को (उस) महान् (और) सर्वज्ञ (परमात्मा) में लगाते हैं। प्रज्ञावान ने यज्ञादि क्रियाओं का विधान किया है। उस सूर्य देव की महती स्तुति (करनी चाहिए)।

विपश्चितः—सर्वज्ञ। **शंकरानन्द** के अनुसार स्वयंप्रकाशमान तथा चिदेकरस ही **विपश्चित** है। **नारायण** मानते हैं कि विपश्चित सर्वदर्शी है। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** विपश्चित का संबंध ज्ञान के स्वभाव से जोड़ते है। उनका कहना है कि ब्राह्मण लोग ज्ञान के लिए अपने मन एवं बुद्धि को परमात्मा में लगाते हैं। **शंकराचार्य** विपश्चित का अर्थ सर्वज्ञ करते हैं।

वयुनावित्— प्रज्ञावित्। **शंकरानन्द** **वयुनावित्** का अर्थ अभिप्राय को जानने वाला करते हैं। **नारायण** इस पर केवल व्याकरणात्मक टिप्पणी करते हैं कि **वयुनवित्** के स्थान पर वयुनावित् में दीर्घ आकार का प्रयोग छान्दस है। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद् ब्रह्मयोगी** भी इसको **वयुनवित्** ही मानते हैं। उनका कहना है

१. शतपथ ब्राह्मण, सायण भाष्य, पृ० ७७, बंबई, १९४०।

कि यह बुद्धि का वाचक है क्योंकि बुद्धि ही सभी कर्मों की साक्षी होती है। **शंकराचार्य** इसका अर्थ प्रज्ञावित् अर्थात् सब कुछ जानने के कारण साक्षी स्वरूप करते हैं।

इस मन्त्र का अर्थ **तैत्तिरीय संहिता**[1] (४.१.१.४) तथा **वाजसनेयी संहिता**[2] (११.४) में यज्ञ की दृष्टि से इस प्रकार किया गया है : अग्नि चयन से समृद्ध और यज्ञप्रयोगविद् यजमान अन्य ब्राह्मणों को दक्षिणा, अन्न एवं दानादि से पूर्ण करता है; अतः वे ब्राह्मण (जो यज्ञ कर्म में आलस्य नहीं करते हैं) अपने मन को अन्य विषयों से हटाकर समाहित करते हैं और यज्ञसंबंधी ईंटों के विषय में कार्य सम्पादन करते हैं। ऋत्विज यज्ञादि क्रियाओं का सम्पादन करते हैं। उस सर्वज्ञ सूर्य देवता को महती स्तुति करनी चाहिए। **शतपथ ब्राह्मण**[3] में **सायण** इसकी व्याख्या करते समय **वयुनवित्** के स्थान पर **वयुनमविन्दत्** पाठ स्वीकार करके अर्थ करते हैं।

किञ्च—

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभि-
र्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः ।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥५॥

शांकरभाष्यम्—

युजे वामिति । युजे वां समादधे वां युवयोः करणानुग्राहकयोः संबन्धि प्रकाश्यत्वेन तत्प्रकाशितं ब्रह्मेत्यर्थः । अथवा वामिति बहुवचनार्थे युष्माकं करणभूतं ब्रह्म पूर्व्यं पूर्वं चिरन्तनं समादधे । नमोभिर्नमस्कारैश्चित्तप्रणिधानादिभिः ।

एष एवं समादधानस्य मम श्लोकः कीर्तितव्य एतु विविधमेतु पथ्येव सूरेः पथि सन्मार्गे । अथवा पथ्या कीर्तिरित्येतद्वाक्यं प्रार्थनारूपं शृण्वन्तु विश्वेऽमृतस्य ब्रह्मणः पुत्राः सूरात्मनो हिरण्यगर्भस्य । के ते ? ये धामानि दिव्यानि दिवि भवान्यातस्थुरधितिष्ठन्ति ॥५॥

मैं अपने नमस्कार द्वारा अपने मन को आपके पुरातन ब्रह्म में लगाता हूँ। (मेरा यह) नमस्कार सन्मार्ग में प्रवृत्त विद्वान् के समान विस्तार को प्राप्त हो। दिव्य धामों में विद्यमान रहने वाले अमृत के पुत्र इसे सुनें।

वाम्—इस पद को लेकर टीकाकारों में पर्याप्त मतभेद है। उनमें से कुछ तो इसे प्राण तथा अन्न से जोड़ते हैं और कुछ (विशेष रूप से **वाजसनेयी संहिता** के भाष्यकार **उवट** तथा **महीधर**) **वाम्** का संबंध यजमान तथा यजमान की पत्नी के

---

१. तैत्तिरीय संहिता, पृ० १६४३ ४४, पूना, १९४८।
२. वाजसनेयी संहिता, पृ० १८४ बंबई, १९२९।
३. शतपथ ब्राह्मण, सायण भाष्य, बंबई, १९४०।

साथ जोड़ते हैं। **शंकरानन्द** इसका अर्थ युवयोः (आप में) करते हैं परन्तु और अधिक व्याख्या नहीं करते। **नारायण** इसका संबंध प्राण तथा अन्न से जोड़ते हैं तथा इसका संबंध बुद्धि और मन से भी स्थापित करते हैं। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** इसका संबंध वाणी तथा मन से जोड़ते हैं। **शंकराचार्य** इसके लिए दो सुझाव देते हैं। पहले के अनुसार **वाम्** इन्द्रिय तथा उनके अधिष्ठातृ देवता का द्योतक है। दूसरे के अनुसार इसका अर्थ बहुवचन में किया जा सकता है अर्थात् 'तुम्हारे' में। प्रकृत प्रसंग को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि संभवतः **वाम्** का संकेत वाणी तथा मन की ओर हैं क्योंकि पहले चार मन्त्रों में इस बात पर अधिक बल दिया गया है कि सूर्य देवता (यौगिक अभ्यास के लिए) हमारे मन तथा इन्द्रियों को तत्त्वचिन्तन में लगाए।

ब्रह्मपूर्व्यम्—सनातन ब्रह्म। **शंकराचार्य** इसका संबंध **युवाम्** से स्थापित करते हुए इसका अर्थ 'चिदानन्दरस ब्रह्म' करते हैं। **नारायण** इसको प्राण रूपी अन्न मानते हैं और वे इसका संबंध पहले सूर्यादि द्वारा किए गए यौगिक कर्मों के साथ भी जोड़ते हैं। **विज्ञानभगवान** के अनुसार अनादि और अनन्त ही सनातन ब्रह्म है। **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** मानते हैं कि उस सनातन ब्रह्म के साथ ऐक्यभाव स्थापित किया जाना चाहिए। **शंकराचार्य** के अनुसार चिरन्तन ब्रह्म ही पूर्व्यम् है।

पथ्येव सूरेः—इन पदों को लेकर भी टीकाकारों में मतभेद है। **शंकरानन्द** का कहना है कि **पथ्येव** सन्मार्ग का द्योतक है। जैसे विद्वान् लोग अपने-अपने वर्णाश्रम के अनुकूल कर्मों के अनुष्ठान द्वारा ब्रह्म की प्रशंसा करते हैं उसी प्रकार पण्डित लोग भी अपने नमस्कार द्वारा ब्रह्म की प्रशंसा करते हैं। **नारायण** मानते हैं कि **सूरेः** का तात्पर्य है कर्मविद्। **पथ्य** से तात्पर्य है 'भोज्य पदार्थ' जिसको रोगी अपनी रुग्ण अवस्था में ग्रहण करता है। **नारायण** का कहना है कि जैसे हरीतकी स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद होती है उसी प्रकार नमस्कार भी स्वर्ग का साधक होता है। **नारायण** इसकी व्याख्या इस प्रकार से करते हैं कि मैं योगवेत्ता योग मार्ग में प्रवृत्त हूँ, और योगमार्ग में स्थित होने पर मेरी कीर्ति का विस्तार हो। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** अर्थ करते हैं कि जैसे विद्वान् लोग सन्मार्ग में प्रवृत्त होते हैं। **शंकराचार्य** भी इसका यही अर्थ करते हैं परन्तु इसके साथ-साथ एक सुझाव देते हैं कि **पथ्या** का अर्थ कीर्ति करना चाहिए, अर्थात् विद्वान् की कीर्ति की भाँति मेरा श्लोक (नमस्कार) विस्तार को प्राप्त हो।

इस मन्त्र की व्याख्या करते समय **नारायण** ने कहा है कि योगी दो प्रकार के होते हैं: **युञ्जान** और **युक्त**। योग में अधकचरा, भेददृष्टि रखने वाला और योग का अभ्यास करने वाला **युञ्जान** कहा जाता है। परिपक्व बुद्धि, बाहर की ओर न देखने वाला, अपने में निष्ठ रहने वाला निष्पन्न योगी (युक्त) कहलाता है। **नारायण**

ने कहा है कि जो व्यक्ति इन पाँच मन्त्रों का जप करता है वह योग सिद्धि को प्राप्त करता है। ये पाँच मन्त्र योग सिद्धि के लिए आवश्यक हैं। इन पाँच मन्त्रों से सूर्य की स्तुति करके सूर्य की कृपा से योगी सूर्यमण्डल का भी भेदन कर देता है, ऐसा **नारायण**[1] का विचार है। यहाँ पर एक प्रश्न पैदा होता है कि उपनिषदीय विद्या को ज्ञान परक माना गया है तो यहाँ पर इस कर्मपरक व्याख्यान (अर्थात् योग) का क्या उद्देश्य है। इस पर **नारायण**[2] का मत है कि इस प्रकार के यौगिक कर्मों द्वारा सत्त्व की शुद्धि होती है और कर्म का भी ज्ञान में ही उपयोग होता है। इसी संबंध में वे आगे कहते हैं कि जब "**युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः**" आदि (द्वितीय अध्याय के पहले पाँच मन्त्रों) की आसन और प्राणायाम की दृष्टि से योगपरक व्याख्या की जाती है तो कर्म तथा ज्ञान का संबंध स्पष्ट ही है जैसा पहले भी कहा जा चुका है कि **नारायण** अपनी टीका में कहीं-कहीं तान्त्रिक अर्थ करते हैं; यहाँ वे इन प्रथम पाँच मन्त्रों से तान्त्रिक अर्थ निकालते हैं। प्रथम मन्त्र (**युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः। अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत**) की इस प्रकार व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। सूर्य देवता ने अग्नि के आधार चक्र में स्थित त्रिकोणस्थ ज्योति के तेज का अवलोकन कर, अर्थात् वायु के प्रयोग द्वारा (वायु के अवरोध द्वारा) पैरों और घुटनों से लेकर उत्तरोत्तर पंच महाभूतों को स्थापित किया. अर्थात् ऊपर की ओर ले गया। वायु के द्वारा अग्नि को प्रदीप्त करके कुण्डलिनी के षट्चक्र भेद द्वारा पंचमहाभूतों का अवरोध करे[3]। **नारायण**[4] ने बतलाया है कि सूर्य से ही सबसे पहले योग का प्रारंभ हुआ था :

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः। इति।

(सबसे पहले मैंने इस अविनाशी योग का उपदेश विवस्वत को दिया, विवस्वत ने मनु को दिया, मनु ने इक्ष्वाकु को दिया, इस प्रकार परम्परा से प्राप्त हुए ज्ञान को राजर्षियों ने जाना)।

जैसा पहले ही बतलाया जा चुका है कि यह मन्त्र **ऋग्वेद** (१०.१३.१), **तैत्तिरीय संहिता** (४.१ १.५), **वाजसनेयी संहिता** (११.५), **अथर्ववेद** (१८.३.३९)

---

१. दीपिका, पृ० १५६।

२. इदं कर्मपरं व्याख्यानम् सत्त्वशुद्धिद्वारा कर्मणो ज्ञान उपयोग इति पूर्वापरसंगतिः। पृ० १५५।

३. दीपिका पृ० १५५।

४, दीपिका पृ० १५६।

तथा **शतपथ ब्राह्मण** (६.३.१.१३) में भी आया है। **तैत्तिरीय संहिता**[1] में **वाम्** का संबंध यजमान तथा यजमान की पत्नी के साथ जोड़ा गया है। **ब्रह्म पूर्व्यं** से तात्पर्य है प्राचीन महर्षियों द्वारा अनुष्ठित अग्निचयन नामक कर्म। उस अग्निचयन की कीर्ति का आकाश और भूमि में विस्तार हो, जैसे अन्तरिक्ष में सूर्य की किरणों का प्रसार होता है। प्रजापति के दिव्यधाम में निवास करने वाले सभी इसको सुनें। **वाजसनेयी संहिता** के **उवट भाष्य** तथा **महीधर भाष्य** के अनुसार इस मन्त्र की इस प्रकार व्याख्या की जा सकती है: **वाम्** यजमान तथा उसकी पत्नी का द्योतक है। मैं तुम्हारे (यजमान तथा यजमान की पत्नी के लिए) अन्न एवं घृत से युक्त आहुति को अग्निचयन में लगाता हूँ: अथवा तुम्हारे लिए ब्राह्मण जाति को अन्न में लगाता हूँ। यजमान की यह स्तुति दोनों लोकों में विचरण करने वाली हो, जैसे यज्ञमार्ग में प्रवृत्त आहुति दोनों लोकों में प्रवृत्त होती है। दिव्य भवनों में विद्यमान रहने वाले अमृत के सारे देवतारूपी पुत्र इस मेरे श्लोक रूपी नमस्कार को सुनें।[2] **शतपथ ब्राह्मण**[3] भी इस मन्त्र की इसी प्रकार व्याख्या करता है।

युञ्जानः प्रथमं मन इत्यादिना सवित्रादिप्रार्थना प्रतिपादिता। यस्तु पुनः प्रार्थनामकृत्वा तैरननुज्ञातः सन्योगे प्रवर्तते स भोगहेतौ कर्मण्येव प्रवर्तत इत्याह—

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः ॥६॥

शांकरभाष्यम्—

अग्निर्यत्रेति। अग्निर्यत्राभिमथ्यत आधानादौ। वायुर्यत्राधिरुध्यते प्रवर्ग्यादौ सवित्रा प्रेरितः शब्दमभिव्यक्तं करोति। सोमो यत्र दशापवित्रात्पूयमानोऽतिरिच्यते तत्र क्रतौ संजायते मनः।

---

१. तैत्तिरीय संहिता पृ० १६४४, पूना, १९४८।

२. पत्नीयजमानौ वामिति पदेनोच्यते। हे पत्नीयजमानौ वां युवयोरर्थे नमोभिरन्नैः इदानीं हुतैर्घृतैः सहितं पूर्व्यं पुरातनैर्महर्षिभिरनुष्ठितं ब्रह्म परिवृढमग्निचयनाख्यं कर्माहं युजे युनज्मि संपादयामि।...यद्वा ब्रह्मशब्देन प्राणाः सप्त ऋषयो ब्राह्मणाश्चोच्यन्ते। वामर्थे पूर्व्यं पुरातनं ब्रह्म ब्राह्मणजातिं नमोभिरन्नैः युजे योजयामि। अन्नैर्विप्रान् तर्पयामि इत्यर्थः। सूरे पण्डितस्य यजमानस्य श्लोकः कीर्तिर्व्येतु विविधं गच्छतु लोकद्वयं व्याप्नोतु। ... यज्ञभागप्रवृता आहूतिर्यथा लोकद्वयं व्याप्नोति एवं यजमानस्य श्लोक उभयलोकसंचारी भवत्विति भावः —वाजसनेयी संहिता, महीधर भाष्य पृ० १८५, बंबई, १९२९।

३. शतपथ ब्राह्मण, सायण भाष्य, पृ० ७८-७९, बंबई, १९४०।

अग्निर्यत्राभिमथ्यत इत्यत्रापरा व्याख्या—अग्निः परमात्मा, अविद्यातत्कार्यस्य दाहकत्वात् । उक्तं च—"····अहमज्ञानजं तमः । नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता" (गीता १०।११) इति। यत्र यस्मिन्पुरुषे मथ्यते स्वदेहमरणिं कृत्वेत्यादिना पूर्वोक्तध्याननिर्मथनेन वायुर्यत्राधिरुध्यते शब्दमव्यक्तं करोति रेचकादिकरणात् । सोमो यत्रातिरिच्यतेऽनेकजन्मसेवया तत्र तस्मिन्यज्ञदानतपःप्राणायामसमाधिविशुद्धान्तःकरणे संजायते परिपूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्माकारं मनः समुत्पद्यते, नान्यत्राशुद्धान्तःकरणे ।

जहाँ अग्नि का मन्थन किया जाता है, जहाँ वायु का अवरोध होता है, जहाँ सोमरस की अधिकता होती है, मन की वहाँ पर प्रवृत्ति होती है ।

अग्निर्यत्राभिमथ्यते—जैसा पहले बतलाया जा चुका है कि इस अध्याय में प्रथम पाँच मन्त्रों का प्रयोग योग की भूमिका के लिए किया गया है । इसके पश्चात् प्रकृत मन्त्र में यह स्पष्ट किया गया है कि जहाँ-जहाँ पर यज्ञ-यागादि कर्मों का विधान किया जाता है, मनुष्य का मन वहाँ पर स्वभावतः चला जाता है । वास्तव में इस पूरे प्रसंग का उद्देश्य यह है कि हम सबसे पहले अपने आपको यज्ञ-यागादि क्रियाओं में लगाएँ, तदुपरान्त योग के अभ्यास द्वारा समाधि को प्राप्त करें और समाधि के माध्यम से पूर्णानन्द की प्राप्ति करें । जहाँ पर अग्न्याधान में अग्नि का मन्थन किया जाता है मनुष्य का मन वहाँ पर लगता है । इस पहले पद में स्पष्टतः यज्ञ में किए जाने वाले अग्नि-मन्थन की ओर संकेत किया गया है । परन्तु टीकाकारों ने इसके भिन्न-भिन्न अर्थ किए हैं । **शंकरानन्द** इसका **(यत्र)** अर्थ आधार करते हैं । **नारायण** का कहना है कि अग्नि पुरुष का तेज है । उस तेज का गर्भाशय में मन्थन किया जाता है अर्थात् वह तेज वात, पित्त तथा कफ के साथ मिश्रित होता है । **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का विचार है कि इस अग्नि-मन्थन का संबंध मूलाधार में अग्नि-मण्डल के त्रिकोण में मथी जाने वाली अग्नि से है । वहाँ उस अग्नि मण्डल में अग्नि का मन्थन मूल बीज के साथ किया जाता है । **शंकराचार्य** इसका संबंध अग्न्याधान में किए जाने वाले अग्निमन्थन के साथ जोड़ते हैं । इन सभी टीकाकारों के अर्थों पर विचार करने के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि **शंकराचार्य** को छोड़कर सभी टीकाकार इसका अर्थ या तो योग के संदर्भ में करते हैं या इसका संबंध तान्त्रिक प्रक्रियाओं के साथ जोड़ते हैं । केवल **शंकराचार्य** ही इसका संबंध सीधे-सीधे यज्ञ के साथ स्थापित करते हैं ।

वायुर्यत्राधिरुध्यते—जहाँ पर वायु का अवरोध किया जाता है । इसको लेकर भी टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए हैं । **शंकरानन्द अधिरुध्यते** के स्थान पर **अभिरुध्यते** पाठ मानते हैं और उनका कहना है कि जिस स्थल पर प्रसिद्ध नभस्वान् (वायु) का अवरोध किया जाता है परन्तु वह स्थान आकाश नहीं है । **नारायण** का विचार है कि जहाँ पर वायु ऊपर की ओर अंकुरित होकर अनुकूल

बनता है। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का कहना है कि जहाँ पर मूलाधार में सुषुम्ना नामक नाड़ी में वायु का अवरोध किया जाता है। **शंकराचार्य** इसका अर्थ करते हैं कि जहाँ सविता से प्रेरित होकर वायु शब्द को अभिव्यक्त करता है।

सोमो यत्रातिरिच्यते—जहाँ पर सोम रस की अधिकता होती है। **शंकरानन्द**[1] का कहना है कि चन्द्रमा ही सोम है और वह अपने तेज द्वारा सबको अभिभूत करता है। **नारायण** इसका संबंध स्त्री के गर्भाधान के साथ जोड़ते हैं। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** इसकी दो व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं (१) अपनी कलाओं में विद्यमान रहने वाला चन्द्रमा ही सोम है और उसका बारह मास में क्षय होता है; (२) जहाँ सुषुम्ना नामक नाड़ी में मूलाधार में अमृत का स्रवण होता है। **शंकराचार्य** इसका संबंध यज्ञ से स्थापित करते हैं। उनका कहना है कि जहाँ दशापवित्र (सोम को छानने के लिए वस्त्र) से छाने गए सोमरस की अधिकता होती है उस यज्ञ कार्य में मन लग जाता है।

शंकराचार्य इस मन्त्र की एक और व्याख्या प्रस्तुत करते हैं : अग्नि परमात्मा को कहते हैं क्योंकि वह **अविद्या** और उसके कार्य को दग्ध करने वाला है। **श्रीमद्-भगवद्गीता** में भी कहा गया है"'**अहमज्ञानजं तमः नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता** (१०.११) (मैं अपने भक्तों के अन्तःकरण में स्थित होकर प्रकाशमय ज्ञानदीपक से उनके अज्ञानजनित अन्धकार को नष्ट करता हूँ)। उस परमात्माग्नि का '**स्वदेहमरणिं कृत्वा**'इत्यादि पूर्वमन्त्र में कहे गए ध्यान रूप निर्मन्थन द्वारा जिस पुरुष में मन्थन होता है तथा जहाँ वायु का अधिरोध होता है अर्थात् रेचकादि क्रियाओं के कारण जहाँ वायु अव्यक्त शब्द उत्पन्न करता है और जहाँ अनेक जन्मों तक अग्नि की सेवा करने से सोम की बहुलता होती है, उस यज्ञ, दान, तप, प्राणायाम एवं समाधि आदि से विशुद्ध अन्तः करण में ही पूर्णानन्द की उत्पत्ति होती है।

शंकराचार्य की इन दो व्याख्याओं तथा अन्य टीकाकारों के अर्थों पर चिन्तन करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृत मन्त्र में दो परिस्थितियों को दर्शाया गया है। पहली स्थिति का संबंध यज्ञ से है अर्थात् जहाँ-जहाँ पर अग्न्याधानादि कर्म किए जाते हैं और जहाँ-जहाँ यज्ञ-यागादि में सोम का प्रयोग किया जाता है मनुष्य का मन वहाँ-वहाँ लगता है। संभवतः यहाँ इन सभी बातों से ऋषि का आशय यज्ञ के बाह्य आडम्बर से है क्योंकि उपनिषत्कार की दृष्टि में ये सभी वस्तुएँ व्यर्थ हैं और जहाँ पर मात्र आत्मा-परमात्मा विषयक शुष्क चिन्तन चल रहा हो वहाँ पर मनुष्य का मन स्वभावतः नहीं लगता। यह स्थिति उस काल

१. सोमः चन्द्रमाः यत्र यस्मिन्स्थले अतिरिच्यते यदीयतेजसा सोम इत्युपलक्षणं ज्योतिर्जातमभिभूयते। पृ० १०१।

की द्योतक है जब समाज में यज्ञ-यागादि की बहुलता थी और आत्म-चिन्तन अपने आपको स्थिर करने की तलाश में था । दूसरी स्थिति का संबंध यौगिक तथा तान्त्रिक प्रक्रियाओं से है जहाँ पर मूलाधार, सुषुम्ना नामक नाड़ी तथा वायु के अवरोध का जिक्र किया गया है। यह स्थिति उस काल की द्योतक है जब समाज में यज्ञ-यागादि क्रिया-कलाप का ह्रास हो रहा था और यौगिक तथा तान्त्रिक प्रक्रियाओं का समाज में बोल-बाला था। **नारायण**, **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** की इस मन्त्र की व्याख्याओं से भी इस मत की पुष्टि होती है क्योंकि इन सभी में इस मन्त्र का अर्थ यौगिक तथा तान्त्रिक दृष्टि से किया गया है। प्रकृत मन्त्र में प्रयुक्त "**तत्र संजायते मनः**" को लेकर **नारायण** का कहना है कि यह उस संघात का द्योतक है जहाँ पर समष्टिगत ब्रह्मशक्ति का व्यष्टि रूप से आविर्भाव होता है। इसी अंश को लेकर **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का कहना है कि मूलाधार में सुषुम्ना नामक नाड़ी में ध्येयवस्तु (प्रणव) में मन लगता है। **शंकरानन्द**[1] ने यहाँ एक अन्य पाठ की ओर संकेत किया है। उनका कहना है कि यहाँ पर **पुनः** यह पाठ भी उपलब्ध होता है। यदि ऐसा पाठ हो (**तत्र संजायते पुनः**) तब **शंकरानन्द** का कहना है कि योगवान मन से जीता हुआ मनुष्य अपने आपको पुनः यह मानता है कि मैं ही ब्रह्म हूँ। इस प्रकार वह ब्रह्म के रूप में उत्पन्न होता है और उस जन्म में वह पुरुष ब्रह्म में मन लगाने वाला बनता है।

यस्मादननुज्ञातस्य तस्य भोगहेतौ कर्मण्येव प्रवृत्तिस्तस्मात्—

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम् ।
तत्र योनिं कृणवसे न हि ते पूर्तमक्षिपत् ॥७॥

शांकरभाष्यम्—

सवित्रा प्रसवेन सस्यप्रसवेनेति यावत् । जुषेत सेवेत ब्रह्म पूर्व्यं चिरन्तनम् । तस्मिन्ब्रह्मणि योनिं निष्ठां समाधिलक्षणां कृणवसे कुरुष्व । एवं कुर्वतो मम किं ततो भवति ? इत्यत आह—न हि त इति । न हि ते पूर्तं स्मार्तं कर्मेष्टं श्रौतं च कर्माक्षिपन्न पुनर्भोगहेतोर्बध्नाति, ज्ञानाग्निना सबीजस्य दग्धत्वात् । उक्तं च—"यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयत एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" (छा० उ० ५।२४।३) इति । "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा" (गीता० ४।३७) इति च ॥७॥

सूर्य देवता की आज्ञा द्वारा सनातन ब्रह्म का सेवन करना चाहिए। (तुम)

---

१. पुनरिति पाठे योगयुक्तमनाः पूर्वं जातोऽपि शरीरेण पुनः सोऽहमस्मीति ब्रह्मरूपेण संजायते तस्मिन्जन्मनि स पुमांस्तन्मनो वा । पृ० १०१ ।

वहाँ पर निष्ठा करो, (इससे) तुम्हारे पूर्त कर्म (तुम्हारे लिए) बन्धन वाले नहीं होंगे ।

सवित्रा प्रसवेन जुषेत—सूर्य की आज्ञा द्वारा सेवन करना चाहिए। इस पद को लेकर टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए हैं। **शंकरानन्द** मानते हैं कि सूर्य संसार का कारण है और वह विशेष रूप से अन्न उत्पन्न करता है। **नारायण** **जुषेत** के स्थान पर **युषेत** पाठ मानते हैं और उनका विचार है कि सूर्य देवता ही मन है तथा दसवें मास में ब्रह्म में उसको लगाना चाहिए। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का मत है कि बारह मास रूपी कलाओं में विद्यमान रहने वाला सूर्य ही सोम मण्डल से सुषुम्ना नामक नाड़ी में अमृत को उत्पन्न करता है और उसका सेवन किया जाना चाहिए। **शंकरानन्द** का कहना है कि सविता द्वारा प्रसूत अर्थात् जो अन्न उत्पन्न करने वाला है उस सविता द्वारा अनुज्ञात होकर चिरन्तन ब्रह्म का सेवन करना चाहिए।

तत्र योनिं कृणवसे—वहाँ पर समाधि लगाओ। **शंकरानन्द** का कहना है कि उस प्राचीन ब्रह्म में ध्यान लगाओ। उनके अनुसार योनि माया है जो सारे संसार की कारणभूता तथा जननी है। **नारायण** का सुझाव है कि यहाँ पर लिङ् के अर्थ में लेट् लकार का प्रयोग हुआ है। इसका तात्पर्य है कि वह सविता देवता या तो ब्राह्मण योनि में या क्षत्रिय योनि में या वैश्य योनि में या श्वान योनि में या सूकर योनि में या चाण्डाल योनि में उत्पत्ति करता है। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद् ब्रह्मयोगी** का कहना है कि वहाँ पर मूलाधार में अग्निमण्डल को ही ब्रह्म की उपस्थिति जानो। **शंकराचार्य** इसका सीधा-सीधा अर्थ करते हैं कि उस ब्रह्म में समाधि लगाओ। जैसा पहले भी संकेत किया जा चुका है कि **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** अनेक स्थलों पर तान्त्रिक तथा यौगिक अर्थ स्वीकार करते हैं। प्रकृत प्रसंग में उनका सुझाव है कि मूलाधार में जो अग्निमण्डल है वास्तव में समाधि की प्रक्रिया से वहाँ पर ब्रह्म की उपस्थिति हो जाती है।

पूर्तमक्षिपत्—पूर्त कर्मों से बन्धन नहीं होगा। प्राचीन काल में इष्ट तथा पूर्त कर्मों की एक लम्बी परम्परा थी क्योंकि **कठोपनिषद्** में (१.१.८) इन दोनों का अन्य कई बातों के साथ उल्लेख हुआ है। यज्ञ-यागादि से जिस फल की प्राप्ति होती है उसे इष्ट कहा जाता है और कुएँ, बावली, तालाब तथा धर्मशाला आदि सामाजिक कार्यों से जो फल मिलता है उसे पूर्त कहा जाता है[1]। पूर्त कर्मों से

---

१. (i) कूपारामादिकरणजन्यमदृष्टं पूर्तमित्युपलक्षणं शुभाशुभं कर्म निखिलमपि। पृ० १०२।

(ii) पूर्तं वाप्यादिकर्मफलं तच्च शुभाशुभयोरुपलक्षणं तच्छुभाशुभं कर्म। पृ० १५७।

यह प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में प्रायः लोग ऐसे कार्य अत्यधिक मात्रा में करवाते थे और उनसे उनको सामाजिक यश तथा प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी। संभवतः पूर्त कर्म से बन्धन का तात्पर्य तत्तत् स्थानों से संबद्ध पुरुषों द्वारा किये जाने वाले अवांछनीय कार्यों से है। अन्ततः इनका संबंध उन स्थानों के निर्माता के साथ जोड़ा जाता रहा होगा और इसलिए ही संभवतः यहाँ यह संकेत किया गया है कि इस प्रकार पूर्त कर्म बन्धन के कारण नहीं होते हैं। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** पूर्त शब्द का स्वीकृत अर्थ नहीं मानते हैं और उनका कहना है कि चन्द्रमा की कला के तिरोहित हो जाने पर सुषुम्ना नामक नाड़ी में बहने वाले अमृत से पूर्ण मूलाधार ही पूर्त है तथा मूलाधार में स्थित ब्रह्म कालक्षेप नहीं करता है अर्थात् उस प्रकार से जिसका ध्यान किया जाता है वह शीघ्र ही फल देता है।[1]

तत्र योनिं कृणवस इत्युक्तं कथं योनिकरणम्? इत्याशङ्क्य तत्प्रकारं दर्शयति—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥८॥

शांकरभाष्यम्—

त्रिरुन्नतमिति। त्रीण्युरोग्रीवाशिरांस्युन्नतानि यस्मिञ्शरीरे तत्त्रिरुन्नतं संस्थाप्यते समं शरीरम्। हृदीन्द्रियाणि मनश्चक्षुरादीनि मनसा संनिवेश्य संनियम्य ब्रह्म वोडुपस्तरणसाधनं तेन ब्रह्मोडुपेन। ब्रह्मशब्दं प्रणवं वर्णयन्ति। तेनोडुपस्थानीयेन प्रणवेन, काकाक्षिवदुभयत्र संबध्यते। तेनोपसंहृत्य तेन प्रतरेतातिक्रामेद्विद्वान्स्रोतांसि संसारसरितः स्वाभाविकाविद्याकामकर्मप्रवर्तितानि भयावहानि प्रेततिर्यगूर्ध्वप्राप्तिकराणि पुनरावृत्तिभाञ्जि ॥८॥

तीन (सिर, गरदन तथा वक्षःस्थल) को शरीर के साथ सीधा करके मन के द्वारा इन्द्रियों को हृदय में समावेश करके विद्वान् ओंकार रूपी नौका से सभी भयानक जलप्रवाहों को पार करे।

अभी तक हमने देखा कि सात मन्त्रों द्वारा सूर्य देवता से प्रार्थना की गई थी कि वह हमारे मन तथा इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर तत्त्वचिन्तन में लगाए। प्रकृत मन्त्र योग सिद्धि की प्राथमिक स्थिति का वर्णन करता है। सबसे

---

१. कलार्केण विलापितचन्द्रमण्डलात्सुषुम्नायां स्रवदमृतेन पूर्तं पूरितं फलितं मूलाधारस्थं ब्रह्म न ह्यक्षिपत्कालक्षेपं न करोति। एवं ध्यातं ब्रह्म शीघ्रं फलं प्रयच्छतीत्यर्थः। पृ० १९।

पहले साधक को किस मुद्रा में साधना के लिए बैठना चाहिए, उनका वर्णन यहाँ किया गया है। योगसाधना में साधक अपने सिर, गरदन तथा वक्षःस्थल को सीधा रखे। इसके विषय में टीकाकार **शंकरानन्द** का विचार है कि यह मुद्रा साधक के लिए इसलिए आवश्यक है कि वह अपनी तन्द्रा का त्याग कर सके अर्थात् इस मुद्रा में साधक को तन्द्रा रहित होकर बैठना चाहिए, न केवल तन्द्रारहित होकर बैठना ही चाहिए अपितु इन्द्रियों का प्रत्याहार भी करना चाहिए। सभी इन्द्रियों को बाहरी विषय-वस्तुओं से हटा कर उनको अपने मन में समाहित करना चाहिए क्योंकि वास्तव में मन ही इन्द्रियों का निग्रह करने में समर्थ है। जब मनुष्य का शरीर सुस्थित होता है तब इन्द्रियाँ स्वयमेव अपने-अपने व्यापारों से उपरत होती हैं। अतः इसके लिए आसन का प्रयोग करना चाहिए। प्राण-रूपी सर्प की स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति का प्राणायाम रूपी अंकुश से निग्रह करना चाहिए। यम, नियम, धारणा तथा समाधि से इन्द्रियों को जीत कर प्रत्याहार का अभ्यास किया जाना चाहिए। यम तथा नियम से संसार से वैराग्य उत्पन्न होता है और इस प्रकार विशुद्ध बुद्धि द्वारा कर्मेन्द्रियों को जीत कर तथा ज्ञानेन्द्रियों को भी उनके विषयों से हटाकर अपने हृदय में समाहित करे। इस बात को और अधिक पुष्ट करने के लिए उपनिषत्कार ने एक रूपक का प्रयोग किया है। विद्वान् को चाहिए कि वह ब्रह्मरूपी नौका के माध्यम से सभी भयानक स्रोतों को पार करे। जैसे स्रोत बाहर की ओर बहते हैं उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी बहिर्मुखी प्रवृत्ति वाली होती हैं (तुलना करें : **पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ कठोपनिषद्** २.१.१.)। प्रत्याहार द्वारा सभी इन्द्रियों का नियमन किया जाता है ; जैसे एक ग्वाला हठीले बैलों के गले में रस्सी बाँध कर उनको रोकता है, उसी प्रकार से इन्द्रिय रूपी अश्व निरुद्ध होने के पश्चात् भी मस्त बैलों के समान मन रूपी रस्से में आने के बावजूद भी बाहर की ओर भागता है।[1] यहाँ पर स्रोत शब्द का प्रयोग विक्षेप को व्यक्त करने के लिए किया गया है। **विक्षेप** तथा **आवरण** अविद्या की दो शक्तियाँ मानी गई हैं। ब्रह्म के साक्षात्कार होने से और धारणा, ध्यान तथा समाधि से अविद्या का नाश हो जाता है। **नारायण त्रिरुन्नतम्** की व्याख्या तीन बार से करते हैं अर्थात् प्रातःकाल, मध्याह्न तथा सायंकाल के समय दण्डाकार होकर हृदय रूपी कमल में चक्षुः, वाणी आदि इन्द्रियों को मन से सन्निविष्ट करके ब्रह्म रूपी नौका से विद्वान् आशा द्वारा निर्मित सभी वासनाओं को पार करे। **विज्ञानभगवान** के मत के अनुसार सुर, नर तथा

---

१. यद्यपि प्रत्याहारस्यापीदमेव कृत्यं तथाऽपि प्रत्याहारो गोपालवद् दुर्दान्तान् वृषभानिव बलादेवेन्द्रियाश्वान्हृदयवाटे मनोर्गलेन निरुणद्धि। तथा निरुद्धा अपीन्द्रियाश्वाः प्रमाथिनः इव वृषभा मनोर्गलमप्यादाय बहिर्गच्छन्ति। पृ० १०२-१०३।

तिर्यक् योनियाँ ही स्रोत हैं। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म शब्द का अर्थ प्रणव होना चाहिए। शंकराचार्य का विचार है कि काकाक्षिगोलकन्याय[1] से इसका (संनिवेश और तरण) दोनों के साथ संबंध है, अर्थात् प्रणव के द्वारा मन और इन्द्रियों को नियमित करके प्रणव से ही विद्वान् संसार सरिता के स्वाभाविक अविद्या, कामना और कर्मों द्वारा प्रवर्तित भयावह प्रेत तिर्यक् एवं ऊर्ध्व योनियों को प्राप्त कराने वाले पुनरावृत्ति के हेतुभूत स्रोतों को पार कर लेता है।

प्राणायामक्षपितमनोमलस्य चित्तं ब्रह्मणि स्थितं भवतीति प्राणायामो निर्दिश्यते। प्रथमं नाडीशोधनं कर्तव्यम्। ततः प्राणायामेऽधिकारः। दक्षिणनासिकापुटमङ्गुल्यावष्टभ्य वामेन वायुं पूरयेद्यथाशक्ति। ततोऽनन्तरमुत्सृज्यैवं दक्षिणेन पुटेन समुत्सृजेत्। सव्यमपि धारयेत्। पुनर्दक्षिणेन पूरयित्वा सव्येन समुत्सृजेद्यथाशक्ति। त्रिः पञ्चकृत्वो वा एवम् अभ्यस्यतः सवनचतुष्टयमपररात्रे मध्याह्ने पूर्वरात्रेऽर्धरात्रे च पक्षान्मासाद्विशुद्धिर्भवति। त्रिविधः प्राणायामो रेचकः पूरकः कुम्भक इति।

प्राणान्प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं
विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ॥९॥

शांकरभाष्यम्—

प्राणान्प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः "नात्यश्नतः" (गीता ६।१६) इति श्लोकोक्तप्रकारेण संयुक्ता चेष्टा यस्य स संयुक्तचेष्टः। क्षीणे शक्तिहान्या तनुत्वं गते मनसि नासिकायाः पुटाभ्यां शनैः शनैरुत्सृजेन्न मुखेन। वायुं प्रतिष्ठाप्य शनैर्नासिकयोत्सृजेदिति। उदात्ताश्वयुतं रथनियन्तारमिव मननेन मनो धारयेताप्रमत्तः प्रणिहितात्मा ॥९॥

(साधक) युक्त आहार-विहार (करता हुआ) प्राणों को अवरुद्ध करके, (जब) प्राण क्षीण हो जाए (अर्थात् प्राणों को और अधिक न रोका जा सके) (तो) उन्हें नासिका द्वारा बाहर निकाले। विद्वान् दुष्ट अश्व से युक्त रथ के समान सावधानी से मन का नियन्त्रण करे।

अभी पिछले मन्त्र में साधक के लिए मुद्रा का निर्देश किया गया कि उसको योग-साधना के लिए किस प्रकार की मुद्रा का प्रयोग करना चाहिए। मुद्रा-निर्देश

---

१. कौऐ के दोनों नेत्रगोलकों में एक ही आँख होती है, उसी से वह दोनों ओर देख लेता है। इसी प्रकार जहाँ एक वस्तु का दो वस्तुओं के साथ संबंध होता है उसे काकाक्षिगोलकन्याय कहा जाता है।

के पश्चात् इस मन्त्र में योग की विधि का प्रकार बतलाया गया है। सर्वप्रथम प्राणों का निरोध करना चाहिए क्योंकि प्राण-वायु नव-द्वारों के माध्यम से बाहर जाती है। प्राण-वायु का निरोध करते समय साधक का आहार विहार भी उचित होना चाहिए जैसा कि गीता (६.१७) में (**युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा**) बतलाया गया है। **शंकरानन्द संयुक्तचेष्टः** को **स युक्तचेष्टः** इस प्रकार पृथक् पृथक् दो पद मानकर इसकी व्याख्या करते हैं। **शंकरानन्द** का कहना है कि इस अवस्था में साधक को जीवन मात्र के लिए ही केवल उपयोगी क्रिया-कलाप को करना चाहिए। इस प्रकार का कार्य ही युक्तचेष्ट की कोटि में आ सकेगा। जब वायु के निकालने वाले सभी द्वार उपरत हो जाएँ और वायु दण्ड के समान व्यवस्थित हो जाए उस समय जब प्राण वायु को रोकना और अधिक संभव न हो सके तब उस समय नासिका पुटों के माध्यम से वायु को बाहर छोड़े। प्राण-वायु के साथ-साथ मन का भी सावधानी से निग्रह किया जाना चाहिए। इसके लिए उपनिषत्कार ने एक रूपक का प्रयोग किया है। जैसे सारथि दुष्ट अश्वों वाले रथ को मार्ग में सीधा-सीधा चलाता है, उसी प्रकार विद्वान् व्यक्ति को चाहिए कि वह भी अपने मन का सावधानी से अर्थात् काम, क्रोधादि मदों से रहित होकर निग्रह करे। इस विषय में **शंकरानन्द** का कहना है कि अश्व रूपी इन्द्रियों के जीतने पर भी उनका शत्रु के समान विश्वास न करे। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का कहना है कि जब इडा या पिंगला नामक नाड़ियों से जिस प्राण-वायु को और अधिक न रोका जा सके तब उसे नासिका पुटों के माध्यम से धीरे-धीरे बाहर छोड़ दे।

समे शुचौ शर्करावह्निवालुका-
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥१०॥

शांकरभाष्यम्—

सम इति। समे निम्नोन्नतरहिते देशे। शुचौ शुद्धे। शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते। शर्कराः क्षुद्रोपलाः, वालुकास्तच्चूर्णम्। तथा शब्दजलाश्रयादिभिः। शब्दः कलहादिध्वनिः। जलं सर्वप्राण्युपभोग्यम् मण्डप आश्रयः। मनोऽनुकूले मनोरमे चक्षुपीडने प्रतिवाद्यभिमुखे। छान्दसो विसर्गलोपः। गुहानिवाताश्रयणे गुहायामेकान्ते निवाते समाश्रित्य प्रयोजयेत्प्रयुञ्जीत चित्तं परमात्मनि ॥१०॥

समतल, पवित्र, कंकड़-पत्थर, अग्नि तथा वायु से रहित और शब्द तथा आराम-स्थल से शून्य, मन के अनुकूल, नेत्रों को पीड़ा न देने वाले (तथा) गुहा

आदि वायु से शून्य स्थान को (मन के निग्रह के लिए) प्रयोग करे।

इस मन्त्र में समाधि के स्थान का निर्देश किया गया है। योग-साधना के लिए अतीव उपयुक्त स्थान की आवश्यकता है। जहाँ तक इस मन्त्र के यहाँ दिए जाने का प्रश्न है, ऐसा लगता है कि इस योग संबंधी मन्त्रों की परम्परा में इसका स्थान सर्वप्रथम होना चाहिए था। वह संभव हो सकता है कि किसी समय में इसका स्थान पहले रहा हो और परवर्ती काल में इसको यहाँ रख दिया हो क्योंकि योग साधना के लिए स्थान का चयन अत्यावश्यक है। प्रकृत मन्त्र में उन सभी स्थानों के विषय में मनादी कर दी गई है जो योग-साधना के लिए उपयुक्त नहीं हैं। योग-साधना के लिए समतल तथा पवित्र स्थान की आवश्यकता है। वह स्थान ऐसा होना चाहिए जहाँ पर कंकड़-पत्थर तथा अग्नि के विस्फुलिंग न हों। इसके साथ-साथ उस स्थान पर कोलाहल भी नहीं होना चाहिए। उस स्थान पर कोई जलाशय आदि भी नहीं होना चाहिए और साथ-साथ कोई विश्राम-स्थल भी नहीं होना चाहिए। यह स्पष्ट ही है कि यदि इनमें से कोई भी स्थान होगा तो वह साधना के लिए उपयुक्त नहीं होगा। इस मन्त्र पर **शंकराचार्य** तथा **विज्ञानभगवान** का कहना है कि स्थानशब्द, जल और आश्रयादि से भी शून्य हो, यानी शब्द-कलह, समस्त प्राणियों के उपयोग में आने वाले जल (पनघट) और आश्रय, जनसाधारण के ठहरने के स्थान से रहित हो, मनोऽनुकूल—मनोरम हो, नेत्रों को पीड़ा पहुँचाने वाला अर्थात् जहाँ कोई विरोधी सामने न हो। ऐसे गुहादि एकान्त और वायुशून्य स्थान में बैठकर चित्त को प्रयुक्त करे अर्थात् परमात्मा में लगावे।

इदानीं योगमभ्यस्यतोऽभिव्यक्तिचिह्नानि वक्ष्यन्ते नीहार इत्यादिना—

नीहारधूमार्कानिलानलानां
खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि
ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥११॥

शांकरभाष्यम्—

नीहारस्तुषारः। तद्वत्प्राणैः समा चित्तवृत्तिः प्रवर्तते। ततो धूम इवाभाति। ततोऽर्कवत्ततो वायुरिवाभाति। ततो वह्निरिवात्युष्णो वायुः प्रकाशदहनः प्रवर्तते बाह्यवायुरिव संक्षुभितो बलवान्विजृम्भते। कदाचित्खद्योतखचितमिवान्तरिक्षमालक्ष्यते। विद्युदिव रोचिष्णुरालक्ष्यते कदाचित्स्फटिकाकृतिः। कदाचित्पूर्णशशिवत्। एतानि रूपाणि योगे क्रियमाणे ब्रह्मण्याविष्क्रियमाणे निमित्ते पुरःसराण्यग्रगामीणि। तदा परमयोगसिद्धिः ॥११॥

कुहरा, धुँआ, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, स्फटिकमणि (और) चन्द्रमा योग (के अभ्यास में) ये रूप हैं जो ब्रह्म की अभिव्यक्ति करने वाले होते हैं।

योग साधना के लिए स्थान का निर्देश करने के पश्चात् प्रकृत मन्त्र में उन तत्त्वों का वर्णन किया गया है जिनकी योगाभ्यास में सर्व प्रथम प्रतीति होती है। योग के अभ्यास में सबसे पहले कुहरे की अनुभूति होती है, इसके पश्चात् धुँआ दिखाई पड़ता है। यहाँ पर यह बात विचारणीय है कि उत्तरोत्तर जिन वस्तुओं का वर्णन किया गया है वे सभी पूर्व की अपेक्षा अधिक स्पष्ट प्रतीत होने वाली हैं; जैसे पहले कुहरा अधिक सघन होता है और धुँआ उससे कम सघन होता है। इनके पश्चात् एक देदीप्यमान पदार्थ की अनुभूति होती है और वह पदार्थ है सूर्य ; सूर्य के बाद वायु का रूप दिखाई पड़ता है; वायु के बाद फिर अग्नि तथा जुगनू प्रतीत होते हैं। इनके पश्चात् स्फटिक मणि तथा चन्द्रमा की प्रतीति होती है। इसके पश्चात् यह बतलाया गया है कि ब्रह्म की अभिव्यक्ति में ये प्रारंभिक रूप हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इनके अतिरिक्त अन्य पदार्थों की भी प्रतीति होगी क्योंकि ये तो केवल सबसे प्रथम अनुभूतियाँ ही हैं। लंकावतारसूत्र में भी ऐसा ही वर्णन आता है कि योग के अभ्यास में योगी सूर्य, चन्द्रमा तथा किसी कमल सदृश पदार्थ को देखता है। इस मन्त्र में यह बतलाया गया है कि इस प्रकार के बिम्ब वास्तव में साधक की मानसिक स्थिति की गतिविधियों के परिचायक नहीं हैं अपितु इनमें से अनेक का प्रतीकात्मक स्वरूप है। हमारे मन पर जो प्रभाव पड़ता है उसको व्यक्त करने के लिए हम भिन्न भिन्न प्रकार के बिम्बों का प्रयोग करते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि आध्यात्मिक जीवन के सत्य को शब्दों की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता और उनको अभिव्यक्त करने के लिए कभी-कभी प्रतीकों का प्रयोग भी करना पड़ता है।

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते
पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥१२॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—इन पञ्चमहाभूतमय योग गुणों की अनुभूति होने पर और योगाग्निमय शरीर की प्राप्ति होने पर न उसको रोग होता है, न वृद्धावस्था और न ही मृत्यु प्राप्त होती है।

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं
वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च ।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं
योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥१३॥

शाँकरभाष्यम्—

पृथ्वीति। पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे पृथिव्यादीनि भूतानि द्वन्द्वैकवद्भावेन निर्दि-

श्यन्ते तेषु । पञ्चसु भूतेषु समुत्थितेषु पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्त इत्यस्य व्याख्यानम् । कः पुनर्योगगुणः प्रवर्तते ? पृथिव्या गन्धवत्या गन्धो योगिनो भवति । तथाद्भ्यो रसः । एवमन्यत्र उक्तं च—

"ज्योतिष्मती स्पर्शवती तथा रसवती परा ।
गन्धवत्यपरा प्रोक्ता चतस्रस्तु प्रवृत्तयः ॥
आसां योगप्रवृत्तीनां यद्येकापि प्रवर्तते ।
प्रवृत्तयोगं तं प्राहुर्योगिनो योगचिन्तकाः ।"

न तस्य योगिनो रोगो न जरा न मृत्युर्वा प्रभवति । कस्य । प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् । योगाग्निसंप्लुष्टदोषकलापं शरीरं प्राप्तस्य । स्पष्टमन्यत् ॥१२-१३॥

शरीर का हल्कापन[1], नीरोगता, अलोलुपता, शरीरिक शोभा की वृद्धि, स्वर की मधुरता, शुभ गन्ध और मलमूत्र की न्यूनता—(इन सभी) को योग की प्रथम प्रवृत्ति कहा जाता है ।

प्रकृत दो मन्त्रों में सप्तविध योग का वर्णन किया गया है । इस संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार के योग का वर्णन यहाँ किया जा रहा है वह केवल शारीरिक लाभ की ओर ही संकेत करता है क्योंकि यहाँ पर उपनिषत्कार का उद्देश्य यौगिक प्रक्रियाओं का वर्णन करना नहीं है अपितु रुद्र-शिव संबंधी उपनिषदीय रहस्यों का उद्घाटन करना ही उसका वास्तविक उद्देश्य है । आधुनिक काल में तो योग का पर्याप्त प्रचार एवं प्रसार देखा जाता है । यहाँ पर योग का वर्णन गौण है तथा उपनिषदीय रहस्यों का उद्घाटन प्रमुख है । जिस व्यक्ति का शरीर योगाग्निमय हो जाता है न उसको किसी प्रकार का रोग होता है, न उसको वृद्धावस्था ही व्याप्त होती है और न ही वह मृत्यु को प्राप्त होता है । बारहवें मन्त्र में पञ्चात्मक योगगुण प्रवृत्ति का जिक्र किया गया है और इसके साथ-साथ पंचमहाभूतों के समुत्थान की बात भी कही गयी है । योग के संदर्भ में इन सब बातों का वास्तविक अर्थ क्या है यह अतीव महत्त्वपूर्ण तथा विचारणीय विषय है । पंचमहाभूतों के समुत्थान को लेकर पातञ्जल योगसूत्रों में पर्याप्त विचार हुआ है । शंकराचार्य ने योग-गुण प्रवृत्ति को इस प्रकार समझाया है । योगी को गन्धवती पृथ्वी के गुण-गन्ध का अनुभव होता है तथा उसको जल से रस की प्रवृत्ति होती है । इसी प्रकार अन्य भूतों के विषय में भी समझना चाहिए । इस संदर्भ में वे उद्धरण देते हैं :

ज्योतिष्मती स्पर्शवती तथा रसवती परा ।
गन्धवत्यपरा प्रोक्ता चतस्रस्तु प्रवृत्तयः ॥
आसां योगप्रवृत्तीनां यद्येकापि प्रवर्तते ।
प्रवृत्तयोगं तं प्राहुर्योगिनो योगचिन्तकाः ॥

१. शंकरानन्द **लघुत्वम्** के स्थान पर **रघुत्वम्** पाठ स्वीकार करते हैं : **लघुत्वं शरीरस्य** रलयोरैक्यात् ।

अर्थात् ज्योतिष्मती, स्पर्शवती और रसवती तथा इनसे भिन्न एक गन्धवती —ये योग की चार प्रवृत्तियाँ कही गयी हैं। इन योग प्रवृत्तियों में से यदि एक की भी प्रवृत्ति हो जाए तो योगिजन उस साधक को योग में प्रवृत्त हुआ बतलाते हैं।

उपर्युक्त संदर्भ से यह प्रकट हो जाता है कि जिस साधक का शरीर योगाग्निमय हो जाता है तब उसे पंचभूतों में से सभी के गुणों की प्रतीति होने लगती है। इसका पातञ्जल योगसूत्रों[1] में भी इस प्रकार वर्णन उपलब्ध होता है: नासाग्र पर चित्तधारणा करने से जो दिव्यगन्धसंविद् (ह्लादयुक्त ज्ञान) होता है, वह गन्ध प्रवृत्ति है। इसी प्रकार जिह्वाग्र में धारण करने से दिव्यरससंविद्, तालु में रूपसंविद्, जिह्वा के भीतर स्पर्शसंविद् और जिह्वामूल में शब्दसंविद् होती है। ये प्रवृत्तियाँ (प्रकृष्ट वृत्तियाँ) उत्पन्न होकर स्थिति में चित्त को दृढ़-बद्ध करती हैं और संशय का नाश करती हैं और समाधिप्रज्ञा की द्वारस्वरूप होती हैं।

प्रकृत मन्त्र में प्रयुक्त **पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते** को लेकर **नारायण**[2] ने इसकी तान्त्रिक तथा यौगिक व्याख्या प्रस्तुत की है: साधक को चाहिए कि वह पैरों से घुटनों तक लेकर पृथिवी मण्डल में **लंबीज** (बीजाक्षर मन्त्र) के द्वारा ब्रह्मा का ध्यान लगाकर धारणा पर विजय प्राप्त करे। घुटनों से गुदा तक जल में स्थित होकर **वंबीज** (बीजाक्षर) द्वारा विष्णु का ध्यान करके धारणा को जीते। गुदा से लेकर हृदय देश तक वह्नि मण्डल में स्थित होकर **रंजीव** (बीजाक्षर) रुद्र का ध्यान लगा कर तैजस् धारणा को जीते। हृदय से लेकर भौंहों तक वायु मण्डल में स्थित होकर **मंजीव** (बीजाक्षर) द्वारा ईश्वर का ध्यान लगाकर वायु को जीते तथा भौंहों के बीच से लेकर मूर्धान्त तक आकाश मण्डल में **हंबीज** (बीजाक्षर) द्वारा सदाशिव का ध्यान लगाकर आकाश को जीते। इसके साथ-साथ **नारायण** का कहना है कि इन पाँचों तत्त्वों के साथ तादात्म्य स्थापित करने से साधक सदाशिव से ऐक्यभाव स्थापित करता है। **विज्ञानभगवान**[3] तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** इस प्रसंग की भिन्न प्रकार से व्याख्या करते हैं। उनका कहना है कि पृथिवी नामक मण्डल को **निवृत्ति** नामक शक्ति से आत्मसाक्षात्कार द्वारा उसकी उपासना करे। इस प्रकार उसके वशीभूत हो जाने पर जलमण्डल **को प्रतिष्ठा** नामक शक्ति से अहंभाव की भावना से उसका वशीकरण करके तेजमण्डल को **विद्या** नामक शक्ति से अहंभाव से उसका वशीकरण करके उसके पश्चात् वायु मण्डल को **शान्ति** नामक शक्ति से उसका अभेदोपासना द्वारा

१. पातञ्जलयोगसूत्र १.३५ पर व्यास भाष्य (डा० रामशंकर भट्टाचार्य, पृ० ६६, दिल्ली, १९७४)।

२. नारायण, दीपिका, पृ० १५६।

३. विज्ञानभगवान, विवरण, पृ० १६६।

वशीकरण करके वियन्मण्डल को <u>शान्त्यतीत</u> नामक शक्ति से आत्मभाव द्वारा वशीकरण करे। इस प्रकार पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश के समुत्थान से अर्थात् ध्यान के माध्यम से—उनके द्वारा प्रयोग में आने वाले कार्यों का वशीकरण करने के पश्चात् साधक को चाहिए कि वह उन सभी को अपने अधीन करने का प्रयत्न करे। इन दोनों टीकाकारों के अनुसार इन पंच महाभूतों का यथेष्ट विनियोग ही पंचभूतात्मक योगगुण प्रवृत्ति है। जिस योगी के पास इस प्रकार की ध्यान नामक अग्नि है वास्तव में उसके शरीर को ही योगाग्निमय कहा जा सकता हैं, और इस प्रकार के ध्यान द्वारा वह पंचमहाभूतों को अपने-आपमें अधीनस्थ करके "मैं वही हूँ" ऐसा मानने से उसकी अभिप्रेत सिद्धि होती है।

इस योगसाधना के प्रसंग में मन्त्र संख्या १३, १४, १५ तथा १६ में क्रमशः **आरम्भ, घट, परिचय** तथा **निष्पत्ति** का वर्णन किया गया है।[1] योग में सर्वप्रथम शारीरिक उपलब्धि के साथ योग-प्रवृत्ति का प्रारम्भ होता है। दुःख से निवृत्ति होने के पश्चात् साधक दूसरी अवस्था को प्राप्त करता है। तृतीय अवस्था में भेददृष्टि का विनाश हो जाता है और चतुर्थ अवस्था में परमशक्ति से तादात्म्य स्थापित हो जाता है।

किञ्च—

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं
तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम्।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही
एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥१४॥

शांकरभाष्यम्—

यथैवेति। यथैव बिम्बं सौवर्णं राजतं वा मृदयोपलिप्तं मृदादिना मलिनीकृतं पूर्वं पश्चात्सुधान्तं सुधौतमित्यस्मिन्नर्थे सुधान्तमिति च्छान्दसम्। अग्न्यादिना विमलीकृतं तेजोमयं भ्राजते। तद्वा तदेवात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य दृष्ट्वैकोऽद्वितीयः कृतार्थो भवते वीतशोकः। परेषां पाठे तद्वत्सतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देहीति। तत्राप्ययमेवार्थः ॥१४॥

---

१. आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु योगावस्था भवन्ति ताः ॥
द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः।
दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तदा ॥
तृतीयायां ततो भूत्वा सिंहस्येव महाध्वनिः।
महाशून्यं तदा भाति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ॥
निष्पत्तौ वैणवः शब्दो वांशिकध्वनिवद्भवेद्।
एकीभूतं तदा चित्तं राजयोगाभिधानकम् ॥
—नारायण कृत दीपिका में उद्धृत पृ० १६०-१६१।

जैसे मिट्टी से सना हुआ बिम्ब (सोने, चाँदी या किसी देदीप्यमान पदार्थ का टुकड़ा) धुल जाने पर तेजोमय होकर चमकने लगता है, उसी प्रकार देहधारी जीव आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करके कृतार्थ होकर शोक रहित हो जाता है।

पिछले मन्त्रों में योग-साधना का वर्णन किया गया। प्रकृत मन्त्र में योग-साधना से उपलब्ध होने वाले फल की ओर संकेत किया गया है। जैसा पहले ही बतलाया जा चुका है कि योग-साधना के माध्यम से आत्मतत्त्व का साक्षात्कार किया जाता है परन्तु उस साक्षात्कार के लिए कुछ आवश्यक तत्त्व हैं जिनके बिना साक्षात्कार संभव नहीं है। जिस प्रकार किसी चाँदी, सोने या किसी देदीप्यमान पदार्थ में मिट्टी लगी होती है तो उसका वास्तविक रूप दिखलाई नहीं पड़ता है, उसी प्रकार अविद्या आदि के विनाश के पश्चात् जब साधक आत्मतत्त्व का दर्शन करता है तब वह कृतार्थ होकर शोक को भी पार कर लेता है। शंकरानन्द का इसके विषय में कहना है कि सूर्य पर न कभी मिट्टी थी, न इस समय है और न कभी उस पर मिट्टी का अवलेप होगा, उसी प्रकार आत्मा पर माया का अवलेप कभी भी नहीं होगा।

———

कथं ज्ञात्वा वीतशोको भवति ? इत्याह—

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१५॥

शांकरभाष्यम्—

यदेति। यदा यस्यामवस्थायामात्मतत्त्वेन स्वेनात्मना। किंविशिष्टेन? दीपोपमेन दीपस्थानीयेन प्रकाशस्वरूपेण ब्रह्मतत्त्वं प्रपश्येत्। तुशब्दोऽवधारणे। परमात्मानमात्मनैव जानीयादित्यर्थः। उक्तं च—"तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि" (बृ० उ० १।४।१०) इति। कीदृशम्! अन्यस्मादजायमानं ध्रुवमप्रच्युतस्वरूपं सर्वतत्त्वैरविद्यातत्कार्यैर्विशुद्धमसंस्पृष्टं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैरविद्यादिभिः ॥१५॥

जब साधक दीपक के समान प्रकाशमान आत्मतत्त्व का ब्रह्मतत्त्व से साक्षात्कार करता है, तब अजन्मा, ध्रुव तथा सभी तत्त्वों से विशुद्ध देव को जानकर सभी प्रकार के पाशों से मुक्त हो जाता है।

प्रकृत मन्त्र में यह स्पष्ट किया गया है कि योग-साधना द्वारा साधक किस प्रकार उस परमतत्त्व को भली भाँति देख सकता है। ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त करने का साधन आत्मतत्त्व ही है और जब आत्मतत्त्व स्वयं प्रकाशमान दीपक के समान भासित होने लगता है तब ब्रह्मतत्त्व को भी भली भाँति देखा जा सकता है। यहाँ शंकरानन्द का विचार है कि यहाँ जो उदाहरण दिया गया है उसमें सजातीयता है।

जैसे दीपक को प्रकाशित करने के लिए अन्य प्रकार के किसी प्रकाश की आवश्यकता नहीं हैं, उसी प्रकार आत्मतत्त्व भी स्वयं प्रकाशमान है। **शंकरानन्द** के अनुसार युक्त से अष्टांगयोग अभिप्रेत है। उस परमात्मा को जो स्वयं प्रकाशरूप तथा आनन्दरूप है "अहं **ब्रह्मास्मि**" के भाव से देखा जाना चाहिए। वह ब्रह्म अजन्मा तथा अपरिणामी भी है। वह सब प्रकार के भौतिक रूपों तथा अविद्यादि से रहित है। जैसा पहले भी बतलाया जा चुका है कि यह उपनिषद् उस रुद्र-शिवात्मक पर-ब्रह्म के ज्ञान पर अधिक बल देता है और जब उसको जान लिया जाता है तब सब प्रकार के बन्धनों से मुक्ति मिल जाती है। साथ-साथ यह भी संकेत कर दिया गया है कि उस परमात्मा को जानने के लिए मन, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ पर्याप्त नहीं हैं। उसको तो आत्मा के माध्यम से ही जाना जा सकता है। इन सब का कार्य क्षेत्र भिन्न है। उस परमात्मा को तो केवल आत्मतत्त्व द्वारा ही जाना जा सकता है। **शंकराचार्य** का कहना है कि उस देव को जानकर जीव अविद्यादि समस्त पाशों से मुक्त हो जाता है।

परमात्मानमात्मत्वेन विजानीयादित्युक्तं तदेव संभावयन्नाह—

एष ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः
पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः
प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥१६॥

शांकरभाष्यम्—

एष हेति। एष एव देवः प्रदिशः प्राच्याद्या दिश उपदिशश्च सर्वाः पूर्वो ह जातः सर्वस्माद्धिरण्यगर्भात्मना, स उ गर्भेऽन्तर्वर्तमानः, स एव जातः शिशुः, स जनिष्यमाणोऽपि, स एव सर्वांश्च जनान्प्रत्यङ् तिष्ठति, सर्वप्राणिगतानि मुखान्यस्येति सर्वतोमुखः ॥१६॥

यही देव सब दिशाओं और प्रदिशाओं में है, यही पहले उत्पन्न हुआ था, यही गर्भ में विद्यमान है और यही उत्पन्न होने वाला है। यही समस्त जीवों में प्रतिष्ठित है और सर्वतोमुख है।

प्रकृत मन्त्र में स्वयं प्रकाश परमात्मा की सर्वविद्यमानता पर बल दिया गया है। वह परमात्मा सब दिशाओं में विद्यमान है और वह सभी अवान्तर दिशाओं में भी विद्यमान है। **शंकरानन्द** का कहना है कि यह परमात्मा ही पंच महाभूतों के गर्भ में ब्राह्मण के रूप में विद्यमान है। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का मत है कि जिसने सबसे पहले हिरण्यगर्भ के रूप में आद्य शरीर धारण किया था वह ही गर्भ में, अर्थात् ब्रह्माण्ड के उदर में विराट् रूप में उत्पन्न होता है। जो पर-

मात्मा पहले हिरण्यगर्भ के रूप में सूक्ष्म कारण के रूप में विद्यमान था वही परमात्मा व्यष्टि जगत् में अनन्त रूप धारण करता हुआ अनन्त जीवात्माओं के रूप में उत्पन्न होता है। यही परमात्मा कार्यकारण की उपाधि से युक्त होकर उत्पन्न होता हुआ जीवात्माओं के अन्दर विद्यमान रहता है। **नारायण जनान्** के स्थान पर **जनाः** पाठ स्वीकार करते हैं और उनके अनुसार यह संबोधन है। वही परमात्मा समस्त जीवों के भीतर अन्तर्यामी रूप में स्थित है। वह सब ओर मुख वाला है। अर्थात् वह परमात्मा चेतन और अचेतन रूप में सर्वत्र स्थित है। **शंकराचार्य** का कहना है कि वह परमात्मा ही सबसे पहले हिरण्यगर्भ के रूप में उत्पन्न हुआ था, वही शिशुरूप में उत्पन्न हुआ है, वही उत्पन्न होने वाला है, वही समस्त जीवों में अन्तरात्मरूप में स्थित है, समस्त प्राणियों के मुख इसी के हैं, इसलिए वह सर्वतोमुख है।

इदानीं योगवत्साधनान्तराणि नमस्कारादीनि कर्तव्यत्वेन दर्शयितुमाह—

यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥१७॥

शांकरभाष्यम्—

यो देव इति। यो विश्वं भुवनं स्वेन विरचितं संसारमण्डलमाविवेश। य ओषधीषु शाल्यादिषु वनस्पतिष्वश्वत्थादिषु तस्मै विश्वात्मने भुवनमूलाय परमेश्वराय नमो नमः। द्विर्वचनमादरार्थमध्यायपरिसमाप्त्यर्थं च ॥१७॥

जो देव अग्नि में (है), जो देव जल में (है), जो समस्त लोकों में प्रविष्ट हो रहा है, जो ओषधि में (है), जो वनस्पतिओं में (है) उस देवता को नमस्कार है।

अभी तक सर्वव्यापी परमात्मा की प्राणियों में विद्यमानता प्रदर्शित की गई थी। प्रकृत मन्त्र में यह दिखलाया गया है कि वही परमात्मा देवताओं, अग्नि तथा जल में स्थित है। इन दोनों मन्त्रों के अनुसार वह परमात्मा सभी जड़ एवं चेतन पदार्थों में स्थित है। यही भावना **ईशोपनिषद्** में भी व्यक्त की गई है (**ईशावास्यमिदं सर्वं सत्किञ्च जगत्यां जगत्**)। परवर्ती काल में यह जो धारणा विकसित हुई कि कण-कण में ईश्वर विद्यमान है सम्भवतः उस भावना का मूल स्रोत **ईशोपनिषद्** का यह प्रथम मन्त्र ही है। वह स्वयंप्रकाश, चिन्मात्र परमात्मा शब्दादि पाँच तन्मात्राओं के माध्यम से कार्य रूप में विद्यमान है। वही स्वयंप्रकाश, एकरस, परमात्मा जल द्वारा उपलक्षित होने वाले पंचमहाभूतों के कारण पंच महाभूत वाले व्यष्टि ब्रह्माण्ड में विराट् रूप में प्रविष्ट हुआ है। **विज्ञानभगवान** के अनुसार इस मन्त्र में प्रयुक्त **भुवन** शब्द इन्द्रियों का द्योतक है। उस परमात्मा

की सत्ता के द्वारा ही सभी ओषधियों में फल पकते हैं और सभी वनस्पतियों में पुष्प लगते हैं। **विज्ञानभगवान**[1] का यहाँ इस प्रसंग में सुझाव है कि वह परमात्मा पहले इनका निर्माण करता है और इसके बाद फल के रूप में उनमें प्रवेश कर जाता है, ऐसा श्रुति का कथन है। इसके साथ-साथ उनका यह भी कहना है कि "**आविवेश**" शब्द की अनुवृत्ति सभी के साथ की जानी चाहिए। ऐसा परमात्मा जो ओषधियों तथा वनस्पतियों में है, उस परम देव को नमस्कार है। नमः शब्द की पुनरावृत्ति अध्याय की समाप्ति को सूचित करती है। इस प्रसंग में **शंकराचार्य** का मत है कि उस परमात्मा ने स्वयं रचे हुए संसार-मण्डल को व्याप्त कर रखा है और वह शालि आदि ओषधियों में तथा अश्वत्थादि वनस्पतियों में भी विद्यमान है।

---

१. आविवेशेत्यस्य पूर्वोत्तरेष्वनुवर्तनं द्रष्टव्यम्। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदित्यादि-श्रुत्यन्तरात्। पृ० १६६।

तृतीयोऽध्यायः

कथमद्वितीयस्य परमात्मन ईशित्रीशितव्यादिभावः ? इत्याशङ्क्याह—

य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः। य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१॥

शांकरभाष्यम्—

य एक इति। य एकः परमात्मा स जालवान् जालं माया दुरत्ययत्वात्। तथा चाह भगवान्—"मम माया दुरत्यया" (गीता७।१४) इति। तद्वांस्तदस्यास्तीति जालवान्मायावीत्यर्थः ईशत ईष्टे मायोपाधिः सन्। कैः ? ईशनीभिः स्वशक्तिभिः। तथा चोक्तम्—ईशत ईशनीभिः परमशक्तिभिरिति। कान् ? सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः। कदा ? उद्भवे विभूतियोगे सम्भवे प्रादुर्भावे च। य एतद्विदुरमृता अमरण-धर्माणो भवन्ति ॥१॥

जो अकेला मायावी (अपनी) शक्ति से शासन करता है; सभी लोकों पर (अपनी) शक्तियों से शासन करता है; जो उत्पत्ति के समय अकेला (है) और प्रादुर्भाव के समय (भी) अकेला (है) जो उसे जानते हैं वे अमर हो जाते हैं।

जालवान्—प्रकृत मन्त्र में **जाल** शब्द अतीव महत्त्वपूर्ण है। **जाल** एक प्रकार से सारे संसार का प्रतीक है। **जाल** से **जालवान्** शब्द निष्पन्न हुआ है। यहाँ **जालवान्** उस परमात्मा का द्योतक है जो इस संसार को उत्पन्न करता है, बनाए रखता है और अन्तिम स्थिति में उसका संहार भी करता है। **जाल** शब्द का प्रयोग आगे पाँचवे अध्याय के तीसरे मन्त्र में भी हुआ है (**एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन् क्षेत्रे संहरत्येष देवः। भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा**)। **जाल-वान् से यहाँ आशय** उस मायावी परमात्मा से है जो अपनी माया-रूपिणी शक्ति द्वारा सारे संसार का नियमन करता है। **शंकरानन्द** का कहना है कि उस मायावी परमेश्वर का अविद्या ही महेन्द्रजाल है, जैसे मकड़ी अपने जाल को फैलाती है वैसे वह परमात्मा भी अपने जाल को फैलाता है। **नारायण** भी **जाल** का अर्थ माया करते हैं और इसके गवाक्ष, रन्ध्र, छिद्र आदि नाना प्रकार के अर्थों की ओर संकेत करते हैं। इसके साथ-साथ **जाल** का अर्थ 'समूह' भी करते हैं और कहते हैं कि वह परमात्मा अपनी शक्ति द्वारा उसको एक गुना, तिगुना, पाँच गुना, सात गुना या नौ गुना बनाता है। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का कहना है कि जाल उस

परमेश्वर की शक्ति का नाम है जिसके द्वारा वह जीव रूपी मत्स्य को अपने दुर्भेद जाल में फँसाता है। **शंकराचार्य** भी **जाल** का अर्थ माया करते हैं और गीता के वचन को उद्धृत करते हैं : **"मम माया दुरत्यया"** (गीता ७.१४) और कहते हैं कि जो उस जाल से युक्त है वह (परमात्मा) **जालवान्** है। (**तत् अस्य अस्ति** इस व्युत्पत्ति के अनुसार '**जालवान्**' शब्द सिद्ध होता है)।

ईशनीभिः—परमात्मा अपनी मायारूपिणी शक्तियों द्वारा सारे लोकों का नियमन करता है। **शंकरानन्द** का विचार है कि यह कोई अन्य शक्ति नहीं अपितु परमात्मा की ईश्वर-शक्ति ही है और माया के साथ संपर्क जिसका होने पर **विक्षेप** तथा **आवरण** नामक उपाधियाँ जुड़ जाती हैं। **नारायण** का कहना है कि परमात्मा की दो शक्तियाँ हैं : **ज्ञानशक्ति** तथा **क्रियाशक्ति** परन्तु वास्तव में **परमाशक्ति** ही उसकी शक्ति है जिसमें ये दोनों समाहित हो जाती हैं। **नारायण** आगे अजा प्रकृति की ओर संकेत करते हैं और उनका कहना है कि कार्यभेद के कारण नानात्व दृष्टिगोचर होता है। उसके अकेले से ही सारे संसार की उत्पत्ति होती है। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का कहना है कि वह परमात्मा स्वयं अविकारी होता हुआ अपनी माया शक्ति से संसार का नियमन करता है। **शंकराचार्य ईशनीभिः** को परमात्मा की परमशक्ति मानते हैं।

उद्भवे सम्भवे च—उत्पत्ति तथा प्रादुर्भाव के समय। वह परमात्मा उत्पत्ति तथा प्रादुर्भाव के समय भी अकेला है। **शंकरानन्द**[1] उद्भव शब्द की भिन्न प्रकार से व्याख्या करते हैं। उनका कहना है कि अनेक प्रकार से ऊर्ध्वगमन ही उद्भव है और अपनी सत्ता के द्वारा विद्यमान रहना संभव है अर्थात् जब उसकी सत्ता नहीं है तब संहार हो जाता है। **नारायण** का कहना है कि वह परमात्मा ही संसार की विलय की अवस्था तथा वस्तु-उत्पत्ति का निमित्त तथा उपादान कारण है; अर्थात् **नारायण** के अनुसार उद्भव का अर्थ है विलय की अवस्था तथा संभव का अर्थ है वस्तूत्पत्ति। इसके अतिरिक्त वे एक अन्य अर्थ प्रस्तुत करते हैं : संसार की उत्पत्ति तथा लय की अवस्था में जो आधार रूप में विद्यमान रहता है। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** के अनुसार सब की उत्पत्ति का कारण ही उद्भव है और सबका कारण होना ही संभव है। **शंकराचार्य** उद्भव का अर्थ विभूति योग तथा संभव का अर्थ प्रादुर्भाव करते हैं।

उस परमात्मा को जो संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण है जो लोग जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं। जैसा पहले भी बतलाया जा चुका है कि यह उपनिषद् रुद्र शिवात्मक पर ब्रह्म को जानने पर अधिक बल देता है। संसार

---

१. उदूर्ध्वमनेकधा भवनमुद्भवस्तत्र संभवे च सम्यक्स्वात्मरूपेण भवनं सत्तामात्रेण वर्तमानत्वं संभवः संहार इत्यर्थः। पृ० १०८।

सागर को पार करने के लिए उस परम ब्रह्म का ज्ञान आवश्यक है। उसको जानने पर मनुष्य जन्म-मृत्यु के जाल से सदा के लिए छूट जाता है।

कस्मात्पुनर्जालवान् ? इत्याशङ्क्य आह—

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु-
र्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले
संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः॥२॥

शांकरभाष्यम्—

एको हीति। हिशब्दो यस्मादर्थे। यस्मादेक एव रुद्रः स्वतो न द्वितीयाय वस्त्वन्तराय तस्थुर्ब्रह्मविदः परमार्थदर्शिनः। उक्तं च—एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुरिति। य इमाँल्लोकानीशते नियमयतीशनीभिः। सर्वांश्च जनान्प्रत्यन्तरः प्रतिपुरुषमवस्थितः। रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवेत्यर्थः।

किञ्च, संचुकोच अन्तकाले प्रलयकाले। किं कृत्वा ? संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपा गोप्ता भूत्वा। एतदुक्तं भवति—अद्वितीयः परमात्मा, न चासौ कुम्भकारवदात्मानं केवलं मृत्पिण्डस्थानीयमुपादानकारणमुपादत्ते। किं तर्हि ? स्वशक्तिविक्षेपं कुर्वन् स्रष्टा नियन्ता वाभिधीयत इति। उत्तरो मन्त्रस्तस्यैव विराडात्मनावस्थानं तत्स्रष्टृत्वं प्रतिपादयति॥२॥

रुद्र एक ही (है), उसके लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं (है), वह (अपनी) शक्तियों द्वारा लोकों का शासन करता है। वह सभी जीवों के भीतर है और सभी लोकों की रचना करके उनका रक्षक होकर अन्त काल में उन्हें (अपने-आप में) संकुचित करता है।

यह मन्त्र रुद्र देवता को सर्वोपरि रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास करता है क्योंकि वैदिक देव-मण्डली में रुद्र का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान प्रतीत नहीं होता। **ऋग्वेद** में रुद्र के लिए केवल तीन सूक्त ही उपलब्ध होते हैं (१.११४; २.३३ तथा ७.४६)। इसके अतिरिक्त अन्य दवताओं के साथ इनका नाम लगभग ५० बार आता है। ऋग्वेद में अन्य देवताओं की अपेक्षा रुद्र का स्थान कम महत्त्वपूर्ण है। परन्तु **यजुर्वेद** तथा **अथर्ववेद** में रुद्र का स्थान अतीव महत्त्वपूर्ण है। **यजुर्वेद** में तो रुद्र की स्तुति में एक पूरा अध्याय ही दिया हुआ है। **अथर्ववेद** में भी रुद्र की स्तुति की गई है। कुछ लोगों का विचार है कि रुद्र आर्येतर जाति के आराध्य देव थे और इसीलिए प्राचीन देव-मण्डली में इनका इतना महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं बन पाया। परवर्ती काल में उपनिषदों के समय में रुद्र निश्चित ही एक प्रतिष्ठित देवता बन चुके

थे। उनको यह प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करवाने में **श्वेताश्वतरोपनिषद्** ने एक अच्छी खासी भूमिका निभाई है। इसी कारण यहाँ पर यह कहा गया है कि रुद्र ही एक मात्र देवता है और उनके अतिरिक्त अन्य किसी देवता की अपेक्षा नहीं है। रुद्र शब्द को लेकर नाना प्रकार की व्युत्पत्तियाँ उपलब्ध होती हैं : **रुद्दुःखं द्रावयति नाशयतीति रुद्रः** (शंकरानन्द); **सर्वं रोदयति संहरति प्रलयादाविति रुद्रः, रुजं संसार-दुःखं द्रावयतीति वा रुद्रः** (विज्ञानभगवान), **यः स्वातिरिक्तरुजं द्रावयतीति रुद्रः** (उपनिषद्ब्रह्मयोगी)। **शतपथ ब्राह्मण** (६.१.३.८) में रुद्र के विषय में एक सुन्दर वर्णन मिलता है कि प्रजापति ने जब सृष्टि करना आरम्भ किया तब एक कुमार का जन्म हुआ, जो पैदा होते ही अपने नामकरण के लिए रोने लगा। नामकरण बाद में किया गया परन्तु जन्म से ही रोदन-क्रिया से संबंध होने के कारण बालक का नाम रुद्र पड़ गया (**यदरोदीत् तस्मात् रुद्रः**)। **बृहदारण्यकोपनिषद्**[1] (३. ९. ४.) में मन को रुद्र कहा गया है। वहाँ पर इसको रुद्र कहने का तात्पर्य है कि जब इन्द्रियाँ तथा मन शरीर को छोड़कर बाहर जाते हैं तो मृतक के परिवार वालों को रुलाते हैं। **शंकरानन्द** यह मानते हैं कि रुद्र दुःखों का विनाशक है और उसके विना अविद्या का भी नाश नहीं हो सकता। **शंकरानन्द** का कहना है कि क्योंकि रुद्र विद्यमान है इसलिए अन्य किसी के लिए स्थान नहीं है। **नारायण** का मत है कि क्योंकि रुद्र अकेला ही विद्यमान है अतः अन्य किसी दूसरे के लिए अवकाश नहीं है। ब्रह्म तथा इन्द्रादि जो देवता हैं वे भी रुद्र के प्रभुत्व के कारण ही विद्यमान हैं। **नारायण** **जनान्** के स्थान पर **जनाः** (संबोधन) पाठ स्वीकार करते हैं। वही अन्तकाल में सभी प्राणियों का संहार करके अपने में आत्मसात् करता है। अपने में आत्मसात् करने के पश्चात् अपनी इच्छा शक्ति से सारे संसार का पुनर्निर्माण करता है। जैसे ग्वाला गायों की सुरक्षा करता है वैसे वह भी सभी लोकों का रक्षक है। वह रुद्र देवता ही सृष्टि, स्थिति तथा संहार करने वाला है। **विज्ञानभगवान** का विचार है कि रुद्र सबको रुलाता है, सबका संहार करता है या प्रलयादि में रुद्र संसार के दुःख को पिघलाता है; इसलिए ही रुद्र का कोई दूसरा भाव नहीं है। **विज्ञान भगवान** आगे कहते हैं कि रुद्र देवता अद्वितीय सुख का दाता है और उसकी सत्ता के स्फुरण मात्र से संसार रूपी प्रपञ्च के अनन्त प्राणियों की सत्ता विद्यमान रहती है। अतः वे सभी प्राणी मात्र रुद्र से संबंधित होने के कारण कार्यकारण-भाव रूप में स्थित होने के योग्य नहीं हैं। वह स्वयं रुद्र कारण है, अपने आप में अनन्त है और उससे कार्य रूप में परिणत होने वाले प्राणी मात्र अविद्या तथा मायादि उपाधियों से युक्त होने के कारण स्वयं रुद्र की कोटि में नहीं पहुँच पाते। अतः **विज्ञानभगवान** का कहना है कि **द्वितीयाय** अर्थात् दूसरे के लिए, यह संभवतः प्राणियों के लिए प्रयुक्त हुआ है, उस दूसरे के लिए न तो प्रमाणों की आवश्यकता

---

१. ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्ति अथ रोदयन्ति। तद् यद् रोदयन्ति, तस्माद् रुद्रा इति।

है और न न्याय की। रुद्र अपने आप में एक है और प्राणी दूसरा है अर्थात् उस रुद्र के समक्ष उस दूसरे का कोई अवकाश नहीं है। इस प्रकार रुद्र तथा मनुष्य अर्थात् प्राणी के अविद्यात्मक होने से द्वैत सिद्ध होने पर दूसरे के लिए अर्थात् अविद्यादि से युक्त प्राणी के लिए न तो प्रमाण की आवश्यकता है और न ही न्याय की आवश्यकता है। **विज्ञानभगवान** आगे कहते हैं कि ईश्वर को पद-पद पर अद्वितीय कहा गया है और इससे परमार्थतः अद्वैत भावना का ही प्रतिपादन होता है तथा अद्वैतभावना का पद-पद पर ज्ञान के प्रतिपादन से द्वैतभाव का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है। इसका तात्पर्य है कि परमार्थतः रुद्र तथा प्राणी पृथक-पृथक् नहीं हैं और वह रुद्र देवता ही अपनी माया-रूपिणी शक्तियों द्वारा सारे संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार करता है।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो
विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रै-
र्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥३॥

शांकरभाष्यम्—

विश्वतश्चक्षुरिति। सर्वप्राणिगतानि चक्षूंष्यस्येति विश्वतश्चक्षुः। अतः स्वेच्छयैव सर्वत्र चक्षू रूपादौ सामर्थ्यं विद्यत इति विश्वतश्चक्षुः। एवमुत्तरत्र योजनीयम्। सं बाहुभ्यां धमति संयोजयतीत्यर्थः, अनेकार्थत्वाद्धातूनाम्। पक्षिणश्च धमति द्विपदो मनुष्यादींश्च पतत्रैः। किं कुर्वन्? द्यावापृथिवी जनयन्देव एको विराजं सृष्टवानित्यर्थः ॥३॥

(वह) सब ओर नेत्रों वाला, सब ओर मुखों वाला, सब ओर भुजाओं वाला और सब ओर पैरों वाला है। वह अकेला ही आकाश और पृथिवी को उत्पन्न करता हुआ (मनुष्यों को) भुजाओं से तथा पक्षियों को पंखों से युक्त करता है।

परमात्मा का स्वरूप सर्वत्र विद्यमान है। इस तथ्य का प्रतिपादन करना ही इस मन्त्र का उद्देश्य है। उसके नेत्र सभी दिशाओं में विद्यमान हैं; उसकी भुजाएँ सभी दिशाओं में विद्यमान हैं तथा उसके चरण सब दिशाओं में विद्यमान हैं। उस परमात्मा की शक्ति से ही आकाश और भूमि की उत्पत्ति होती है। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि वह परमात्मा रुद्र-शिवात्मक ही है। मध्यकाल में धार्मिक जगत् में एक विशिष्ट प्रकार की प्रवृत्ति देखने में आती है कि प्रत्येक धार्मिक संप्रदाय के अनुयायियों का यह प्रयत्न होता था कि उनके इष्ट देव को सर्वोपरि रूप से प्रतिष्ठापित किया जाए। इतना ही नहीं, उसका परमात्मा या ब्रह्म के साथ तादात्म्य भी स्थापित किया जाता था। साथ-साथ यह भी सिद्ध किया जाता

था कि सारी सृष्टि की उत्पत्ति उसी से हुई है; सृष्टि की स्थिति तथा संहार का भी कारण वही है। वैष्णव, शैव तथा शाक्त संप्रदायों में यह प्रवृत्ति अधिकाधिक मात्रा में पाई जाती है। **श्वेताश्वतरोपनिषद्** भी एक प्रकार से उसी प्रवृत्ति की एक प्रतिनिधि रचना है। इस उपनिषद् में पहली बार रुद्र-शिव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है और उसको सर्वोपरि रूप से प्रतिष्ठापित भी किया गया है। वही परमात्मा पृथिवी और आकाश को उत्पन्न करता है। **शंकरानन्द द्यावाभूमि** की तुलना ब्रह्माण्ड के कटाहद्वय से करते हैं। प्रकृत मन्त्र के उत्तरार्द्ध भाग की व्याख्या टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है, **शंकरानन्द** इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं: परमात्मा सबसे पहले हाथों से संसार को उत्पन्न करके उत्पत्ति के समय उत्पाद्य-उत्पादक आदि रूप से अनेक प्रकार के शब्द उत्पन्न करता है। शब्द से तात्पर्य यहाँ शब्द को उत्पन्न करना है। परमेश्वर सबसे पहले शब्द को उत्पन्न करता है। यहाँ पर गुणगुणीभाव अभिप्रेत है अर्थात् वह परमात्मा सबसे पहले आकाश की उत्पत्ति करता है (**तस्मात् आत्मनः आकाशः संभूत आकाशात् वायुः**)। यहाँ हाथ कर्म का प्रतीक है। **बाहुभ्यां** द्वारा धर्माधर्म रूपी कर्म अभिप्रेत हैं जिनको भुजाओं द्वारा किया जाता है। **शंकरानन्द** के अनुसार **ध्मा** धातु का शब्द करना अर्थ स्वीकार करने पर इसका अभिप्राय होगा कि वह परमेश्वर दो भुजाओं से उनके द्वारा किए जाने वाले दो प्रकार के धर्माधर्म रूपी कर्मों से प्रलीन हुई सृष्टि के प्राणियों से बचे हुए धर्माधर्म कर्मों के अनुसार नई सृष्टि आकाशादि की उत्पत्ति से प्रारम्भ करता है। **ध्मा** धातु के दो अर्थ किए जाते हैं: **ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः**। **ध्मा** धातु का जब शब्द करना अर्थ किया गया तब इस प्रकार से व्याख्या हुई। जब **धमति** क्रिया का अर्थ अग्नि संयोग किया जाए उस समय भी सन्तापकारक होने के कारण सुख-दुःख की उत्पत्ति-स्थिति तथा संहार में उसके द्वारा सुख तथा दुःख की उत्पत्ति होती है। **शंकरानन्द संपतत्रैः** का संबंध पञ्चीकृत महाभूतों के साथ जोड़ते हैं। **नारायण** का यहाँ पर कहना है कि **पतत्र** शब्द वासनाओं का द्योतक है और वह परमात्मा विद्या तथा कर्म द्वारा दीप्त करता है, अर्थात् जीवनिष्ठ विद्या तथा कर्मादि के द्वारा ईश्वर जगत् को प्रवृत्त करता है। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का कहना है कि वह परमात्मा मनुष्य आदि को भुजाओं और पैरों से युक्त करता है। इसके साथ-साथ वह पक्षियों को पंखों से युक्त करता है। **शंकराचार्य** यहाँ धातुओं के अनेक अर्थ स्वीकार करते हुए वही अर्थ करते हैं जो **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** द्वारा स्वीकार किया गया है। **वाजसनेयी संहिता**[1] (१७.१९. **उवट** तथा **महीधर** भाष्य) में धमति

१. (i) धमतिर्गत्यर्थकः। संगमयति बाहुभ्यां संगच्छते वा। संपतत्रैः संगच्छते पतत्रैः पद्भिः। ऐश्वर्ययोगाद्वहवोऽपि पादाः संभवन्ति (उवट भाष्य)।
(ii) बाहुभ्यां बाहुस्थानीयाभ्यां धर्माधर्माभ्यां संधमति धमतिर्गत्यर्थः। यद्वा धर्माधर्माभ्यां भूतैश्च संधमति संगमयति जीवान् (महीधर भाष्य)।

को गत्यर्थक धातु का **ण्यन्त** रूप माना गया है : **संधमति**=**संगमयति**; अर्थात् दोनों भुजाओं से संयुक्त करता है। वहाँ पर **पतत्र** का अर्थ पतनशील किया गया है अर्थात् धर्म तथा अधर्म रूप निमित्त कारणों से तथा उपादान कारण रूप पाँच भूतों से संयुक्त करता है अर्थात् बिना किसी अन्य साधन से सृष्टि की रचना करता है अथवा धर्म अधर्म से तथा उपादान रूप पाँच भूतों से जीवों को संयुक्त करता है; ऐसी व्याख्या **वाजसनेयी संहिता** के **उवट** तथा **महीधर भाष्य** में भी की गई है। यह मन्त्र वैदिक साहित्य में कई अन्य स्थानों पर भी उपलब्ध होता है : **ऋग्वेद** १०. ८१.३, **अथर्ववेद** १३.२.२६, **वाजसनेयी संहिता** १७.१९; **तैत्तिरीय संहिता** ४.६.२४ और **तैत्तिरीयारण्यक** १०.१.३ ।

इदानीं तस्यैव सूत्रसृष्टि प्रतिपादयन्मन्त्रदृगभिप्रेतं प्रार्थयते—

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥४॥

शांकरभाष्यम्—

यो देवानामिति । यो देवानामिन्द्रादीनां प्रभवहेतुरुद्भवहेतुश्च । उद्भवो विभूतियोगः । विश्वस्याधिपो विश्वाधिपः पालयिता । महर्षिः—महांश्चावृषिश्चेति महर्षिः सर्वज्ञ इत्यर्थः । हितं रमणीयमत्युज्ज्वलं ज्ञानं गर्भोऽन्तःसारो यस्य तं जनयामास पूर्वं सर्गादौ । स नोऽस्मान् बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु । परमपदं प्राप्नुयामेति ॥४॥

सर्वज्ञ रुद्र देवताओं की उत्पत्ति तथा ऐश्वर्य का कारण (और) सारे संसार का स्वामी है। उसने पहले हिरण्यगर्भ को जन्म दिया वह हमें शुभ बुद्धि से संयुक्त करे।

रुद्र को देवताओं की उत्पत्ति तथा ऐश्वर्य का कारण बतलाया गया है। इस मन्त्र में दो शब्दों का प्रयोग किया गया है **प्रभव** तथा **उद्भव**। इससे पहले इसी अध्याय में पहले मन्त्र में **उद्भव** तथा **सम्भव** शब्दों का प्रयोग किया जा चुका है। **प्रभव** तथा **उद्भव** को लेकर टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किए हैं। **शंकरानन्द** इसका अर्थ उत्पत्ति करते हैं और इसकी व्युत्पत्ति **प्रकर्षेण भवनं प्रभवः** से करते हैं। उनके अनुसार ऊर्ध्वगमन या स्थिति ही उद्भव है। **नारायण** भी **प्रभव** का अर्थ उत्पत्ति-स्थान करते हैं तथा **उद्भव** को ऐश्वर्य का दाता या संहर्ता मानते हैं। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का कहना है कि वह स्वयंप्रकाश

परमात्मा अग्नि तथा आदित्यादि देवताओं की उत्पत्ति का कारण तो है ही परन्तु इसके साथ-साथ वह उनका लय-स्थान भी है अर्थात् अग्नि तथा आदित्यादि देवता अन्त में उस रुद्र देव में ही जाकर विलीन हो जाते हैं। **विज्ञानभगवान** के अनुसार **प्रभव** शब्द उत्पत्ति तथा विलय दोनों का ही द्योतक है। इसके अतिरिक्त **विज्ञानभगवान**[1] **उद्भव** का अर्थ भी उत्पत्ति-स्थान करते हैं और कहते हैं कि उपसर्गों के अनेक अर्थ होते हैं। **विज्ञानभगवान** कहते हैं कि वह परमात्मा सबसे उत्कृष्ट है या वह परमात्मा सभी द्योतन स्वभाव वाले प्रतिबिम्ब स्थानीय देवताओं का अपने अखण्ड स्वभाव होने के कारण बिम्बस्थानीय ईश्वर है और उनके प्रलय तथा उत्पत्ति का मात्र एक कारण है। **शंकराचार्य** भी प्रभव को उत्पत्ति मानते हैं और उद्भव को विभूतियोग मानते हैं। उसी रुद्र ने हिरण्यगर्भ को भी जन्म दिया है। ज्ञान, क्रिया तथा शक्ति से युक्त सूक्ष्मतम तथा चैतन्याधिष्ठित प्राथमिक कार्य ही हिरण्यगर्भ है ऐसा **शंकरानन्द** का विचार है। सारा ब्रह्माण्ड शरीर ही जिसके गर्भ में है वह ही हिरण्यगर्भ है यह **नारायण** का मत है। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** के अनुसार जो प्रारम्भ में करण है वास्तव में वही हिरण्यगर्भ है। हित (रमणीय) अर्थात् अत्यन्त उज्ज्वल ज्ञान जिसका अन्तसार है वही हिरण्यगर्भ है ऐसा **शंकराचार्य** मानते हैं। यहाँ विचारणीय है कि इस बात का आशय क्या है कि रुद्र ने हिरण्यगर्भ को भी जन्म दिया है। हिरण्यगर्भ की भावना ऋग्वेद में एक स्वतन्त्र सूक्त में व्यक्त की गई है। यहाँ उस भावना का भी हिरण्यगर्भ के इस अर्थ में अन्तर्भाव मानना चाहिए। संभवतः यहाँ ऋषि का आशय इस बात से है कि उस रुद्र देवता ने हिरण्यगर्भ जैसे सूक्ष्म तत्त्व को भी जन्म दिया है अर्थात् यह उसकी महानता का परिचायक है कि उस रुद्र देव ने हिरण्यगर्भ जैसे सूक्ष्म एवं गहन तत्त्व को भी उत्पन्न किया है। ऐसा वह रुद्र देव हमें शुभ बुद्धि से संयुक्त करे।

पुनरपि तस्य स्वरूपं दर्शयन्नभिप्रेतमर्थं प्रार्थयते मन्त्रद्वयेन—

या ते रुद्र शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी।
तया नस्तनुवाशन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥५॥

शांकरभाष्यम्—

या ते रुद्रेति। हे रुद्र तव या शिवा तनूरघोरा। उक्तं च "तस्यैते तनुवौ घोरान्या शिवान्या" इति। अथवा शिवा शुद्धाविद्यातत्कार्यविनिर्मुक्ता सच्चिदान-

---

१. उद्भवश्चोद्भवत्यस्मादित्युद्भव उत्पत्तिस्थानमिति यावत्। अनेकार्था ह्युपसर्गाः। पृ० २०१।

न्वाद्वयब्रह्मरूपा न तु घोरा शशिबिम्बमिवाह्लादिनी। अपापकाशिनी स्मृतिमात्राघनाशिनी पुण्याभिव्यक्तिकरी। तयात्मना नोऽस्मान्शन्तमया सुखतमया पूर्णानन्दरूपया हे गिरिशन्त गिरौ स्थित्वा शं सुखं तनोतीति। अभिचाकशीहि अभिपश्य निरीक्षस्व श्रेयसा नियोजयस्वेत्यर्थः ॥५॥

हे रुद्र देव ! आपका जो कल्याणकारी, भयानकता से शून्य और पुण्यप्रकाशन रूप (है) हे गिरिशन्त ! उस शान्त मूर्ति से आप हमें देखें।

रुद्र देव के विकास का इतिहास अपने आप में अतीव रहस्यपूर्ण है। कुछ लोगों की यह मान्यता है कि यह आर्येतर जाति के आराध्यदेव थे। आर्यों के भारत में आगमन से पूर्व एक आर्येतर जाति यहाँ निवास करती थी, उस जाति का एक आराध्य देव था जिसका नाम कुछ भी हो परन्तु कालान्तर में उस आर्येतर जाति के आराध्य देव (?) तथा आर्यों के रुद्र देवता के गुणों में एक अलौकिक साम्य पाया गया और परिणामतः उस आर्येतर जाति के आराध्य देव के सभी गुणों तथा धर्मों का आर्य जाति के रुद्र देवता में अन्तर्भाव हो गया। वैदिक रुद्र देवता अतीव उग्र थे यह उनके स्वरूप से स्पष्ट ही है। यहाँ रुद्र देव से प्रार्थना की गई है कि आप हमें अपनी सौम्य मूर्ति से ही देखें। आपकी मूर्ति अतीव कल्याणकारी है। आप पर्वत में निवास करते हैं और वहाँ रह कर सबका कल्याण करते हैं। **नारायण** का विचार है कि रुद्र संसार के सारे ताप का उपशमन करते हैं। रुद्र अपने स्वरूप द्वारा सभी प्रकार के पापों का दहन करते हैं। आप कैलास नामक पर्वत पर बैठकर सबका कल्याण करते हो। **शंकराचार्य** रुद्र की दो आकृतियों की ओर संकेत करते हैं जिनमें से एक घोरा है और दूसरी मंगलमयी। उनकी वह अघोरा आकृति चन्द्रमण्डल के समान आह्लादकारिणी है।

किञ्च—

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत् ॥६॥

शांकरभाष्यम्—

यामिषुमिति। यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्षि धारयस्यस्तवे जने क्षेप्तुं शिवां गिरित्र गिरिं त्रायत इति तां कुरु। मा हिंसीः पुरुषमस्मदीयं जगदपि कृत्स्नम्। साकारं ब्रह्म प्रदर्शयेत्यभिप्रेतमर्थं प्रार्थितवान् ॥६॥

हे गिरिशन्त ! आप (लोगों पर) फेंकने के लिए (अपने) हाथ में बाण धारण करते हो; हे गिरित्र ! उसे आप मंगलकारी करो, (किसी) पुरुष (या) जगत् की हिंसा मत करो।

पिछले मन्त्र में रुद्र से प्रार्थना की गई थी कि रुद्र लोगों को अपनी भयानक मुद्रा से न देखे। यहाँ पर भी उसी भावना को दोहराया गया है। यहाँ पर यह संकेत किया गया है कि रुद्र देवता लोगों पर बाण से प्रहार करते हैं। हे रुद्र देवता आप उसी बाण को हमारे लिए मंगलकारी बनाओ। आप किसी पुरुष की हिंसा न करो और नही जगत् की हिंसा करो। **विज्ञानभगवान**[1] का कहना है कि आप पर्वत में स्थित होकर सब की रक्षा करते हो। **"मा हिंसीः पुरुषं जगत्"**—इस पद का एक अन्य अर्थ भी किया गया है अर्थात् आप हमें सम्पूर्ण ब्रह्मज्ञान से वंचित न करें। **विज्ञानभगवान**[2] तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का कहना है कि पुरुष ही सम्यक् ज्ञान का मात्र एक साधन है और संसार ही सारे ज्ञान का कारण है। अतः आप इन दोनों की हिंसा न करें। इन दोनों का परस्पर संबंध भी है। पुरुष ही संसार को जानने में समर्थ है और यहाँ पर रुद्र देवता से यह प्रार्थना की गई है कि आप इस ब्रह्म के संपूर्ण ज्ञान के आविर्भाव के लिए हमें अयोग्य न बनाएँ। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का विचार है कि रुद्र देवता द्वारा लोगों को ब्रह्म ज्ञान के लिए अयोग्य सिद्ध करना ही पुरुष एवं जगत् की हिंसा करना है। **शंकराचार्य** का कहना है कि हमारे किसी पुरुष की और सारे जगत् की हिंसा मत करो। यहाँ रुद्र से इस आशय की प्रार्थना की गई है कि हमें सम्पूर्ण साकार ब्रह्म के दर्शन कराओ।

इदानीं तस्यैव कारणात्मनावस्थानं दर्शयञ्ज्ञानादमृतत्वमाह—

ततः परं ब्रह्मपरं बृहन्तं
यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितार-
मीशं तं ज्ञात्वामृता भवन्ति ॥७॥

शांकरभाष्यम्—

ततः परमिति। ततः पुरुषयुक्ताज्जगतः परं कारणत्वात्कार्यभूतस्य प्रपञ्चस्य व्यापकमित्यर्थः। अथवा ततो जगदात्मनो विराजः परम्। किं तद्ब्रह्मपरं

---

१. गिरौ स्थितः सन्सर्वं त्रायति रक्षतीति गिरित्रो हे गिरित्र तां सर्वसंहारसमर्थत्वेन प्रसिद्धां कुरु शिवां कुरु। पृ० २०२।

२. किं पुरुषं सम्यग्ज्ञानसाधनभूतकार्यकरणसंघातं जगत्सम्यग्ज्ञानकरणेतिकर्तव्यभूतवेदान्ताचार्यादिकं यावत्सम्यग्ज्ञानेन भवति निष्कलस्वरूपाविर्भावस्तावत्सम्यग्ज्ञानायोग्यत्वेन मा हिंसीरित्यर्थः। पृ० २०२-२०३।

बृहन्तं ब्रह्मणो हिरण्यगर्भात्परं बृहन्तं महद्व्यापित्वात् । यथानिकायं यथाशरीरं सर्वभूतेषु गूढमन्तरवस्थितं विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं सर्वमन्तः कृत्वा स्वात्मना सर्वं व्याप्यावस्थितमीशं परमेश्वरं ज्ञात्वामृता भवन्ति ॥७॥

वह (पूर्वोक्त जीवसमुदाय-रूप जगत्) से परे (तथा) हिरण्यगर्भ-रूप ब्रह्म से भी श्रेष्ठ (है), वह समस्त प्राणियों में उनके शरीर के अनुसार (गूढ रूप से) छिपा हुआ है (तथा) संसार का मात्र एक परिवेष्टा है; उसको जानकर (जीवगण) अमर हो जाते हैं।

इसी अध्याय के चतुर्थ मन्त्र में यह बतलाया गया है कि उस रुद्र-शिवात्मक परमात्मा ने हिरण्यगर्भ को जन्म दिया था। यहाँ पर उस परमात्मा को हिरण्यगर्भ से भी श्रेष्ठ बतलाया गया है। वही परमात्मा सभी प्राणियों में उनके शरीर में उनके शरीर के अनुपात में विद्यमान है अर्थात् वह परमात्मा चींटी तथा हाथी दोनों में विद्यमान है। जहाँ तक **ततः परम्** का संबंध है, इस पर टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए हैं। **शंकरानन्द** का कहना है कि **ततः परम्** का संबंध हिरण्यगर्भ से है। वह परमात्मा हिरण्यगर्भ से भी श्रेष्ठ है। **शंकरानन्द**[1] कहते हैं कि उस ब्रह्म का अतिशयात्मक ढंग से वर्णन इसलिए किया गया है कि वह देश, काल, वस्तु आदि धर्मों से रहित है। **नारायण** इस प्रसंग को योग के साथ जोड़ते हुए कहते हैं कि जो योग में उपासना के माध्यम से सिद्ध है ऐसे पर-ब्रह्म (ईश्वर) को जानकर लोग अमर हो जाते हैं। **नारायण**[2] प्रश्न करते हैं कि उस ब्रह्म का ब्रह्मत्व कहाँ से है? उसका ब्रह्मत्व **बृहन्तम्** से सिद्ध होता है। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का कहना है कि वह ब्रह्म निर्गुण, परम उत्कृष्ट, सुखरूप, कूटस्थ, नित्य तथा अद्वितीय है। **शंकरानन्द** कहते हैं कि जैसे अग्नि सीधी एवं टेढ़ी—सभी प्रकार की लकड़ियों में विद्यमान है उसी प्रकार से यह आत्मा हाथी और चींटी में समान रूप से अन्तर्निहित है। ऐसा वह परमात्मा सारे संसार में समान रूप से व्याप्त है। जैसा पहले भी बतलाया जा चुका है ऐसे परमात्मा को जानकर लोग अमर हो जाते हैं। इस उपनिषद् की अपनी एक विशेषता यह है कि यह उस परम पुरुष-रूप रुद्र-शिवात्मक परमात्मा के ज्ञान पर विशेष बल देता है। वैसे सामान्यतया सभी उपनिषद् ज्ञान-परक माने गए हैं। परन्तु यह उपनिषद् एक विशिष्ट देव के ज्ञान पर अधिक बल देता है।

---

१. अतिशयेनाधिकं देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यमित्यर्थः। पृ० ११०।

२. ब्रह्मत्वं कुत इत्यत उक्तं बृहन्तमिति। बृहि वृद्धौ शता। पृ० १६३।

इदानीमुक्तमर्थं द्रढयितुं मन्त्रदृगनुभवं दर्शयित्वा पूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मपरिज्ञानादेव परमपुरुषार्थप्राप्तिर्नान्येनेति दर्शयति—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्त-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥८॥

शांकरभाष्यम्—

वेदाहमेतमिति । वेद जाने तमेतं परमात्मानम् । अथैतं प्रत्यगात्मानं साक्षिणं पुरुषं पूर्णं महान्तं सर्वात्मत्वात् । आदित्यवर्णं प्रकाशरूपं तमसोऽज्ञानात् परस्तात्तमेव विदित्वाति मृत्युमेति मृत्युमत्येति । कस्मात् ? अस्मान्नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय परमपदप्राप्तये ॥८॥

मैं इस महान् से भी महान् पुरुष को जानता हूँ (जो) प्रकाशस्वरूप (तथा) अज्ञान से परे (है) । इसको जानकर मनुष्य मृत्यु का उल्लघंन कर जाता है, इसके अतिरिक्त (परम पद प्राप्ति) के लिए दूसरा मार्ग नहीं है ।

मन्त्रद्रष्टा का कथन है कि मैं उस महानतम पुरुष को जानता हूँ । उसका वर्ण आदित्य के वर्ण के समान है अर्थात् वह आदित्य के समान भास्वर है । वह परमात्मा स्वयंप्रकाश है अर्थात् उसको प्रकाशित करने के लिए अन्य किसी भी प्रकार की वस्तु की अपेक्षा नहीं है । वह परमात्मा अविद्या से भी परे है । **शंकरानन्द** तमस् को अविद्या के साथ जोड़ते हैं जब कि **नारायण** इसका संबंध माया के साथ स्थापित करते हैं । **विज्ञानभगवान, उपनिषद्ब्रह्मयोगी** तथा **शंकराचार्य** तमस् का अर्थ अज्ञान करते हैं । यहाँ पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि किस कारण से हमें आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि सुख की प्राप्ति तथा दुःख के परिहार के लिए हजारों प्रकार के उपाय विद्यमान हैं । उपनिषत्कार का कहना है कि मनुष्य आत्मा का साक्षात्कार करके ही मृत्यु का संतरण कर सकता है । जब तक मनुष्य अविद्या की दो शक्तियों—**आवरण** तथा **विक्षेप**—को नहीं पार करता तब तक उसका कल्याण नहीं होगा क्योंकि ये दोनों ही दुःख-वृक्ष के बीजरूपा हैं और अन्ततः ये ही मृत्यु का कारण बनती हैं । जहाँ तक जानने योग्य पदार्थों का प्रश्न है तब तो ब्रह्म को ही जानना चाहिए क्योंकि उसके जानने पर सब कुछ विदित हो जाता है । ब्रह्म ज्ञान का मार्ग अत्यधिक सुख देने वाला है और सभी प्रकार के अनर्थों की निवृत्ति करने वाला मार्ग है । ब्रह्म ज्ञान के अतिरिक्त परमपद-प्राप्ति के लिए और कोई अन्य मार्ग नहीं है । जहाँ तक शास्त्र तथा लोक परम्परा का प्रश्न है वहाँ पर तीर्थ-स्नान तथा महादानादि को परमपद-प्राप्ति का एक अवान्तर कारण माना गया है, ऐसा **नारायण** तथा **विज्ञानभगवान** का मत है ।

उपनिषद्ब्रह्मयोगी का विचार है कि परमपद-प्राप्ति के लिए सम्यक् ज्ञान के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है।

ब्रह्मसूत्र के टीकाकारों ने इस मन्त्र का प्रयोग अपने-अपने मत को पुष्ट करने के लिए किया है। **रामानुजाचार्य** (१.१.१) का कहना है कि ब्रह्म का सविशेष ज्ञान तथा आत्मा का ज्ञान ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं। श्रुति का कथन है कि निर्विशेष ब्रह्म-ज्ञान के द्वारा ही अविद्या की निवृत्ति होती है परन्तु यह बात सही नहीं है। इसके विरोध में श्रुति के ऐसे अनेक वाक्य हैं जो पुरुष-रूप परमात्मा की ओर संकेत करते हैं ; जैसे **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ; तमेव विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय** (तैत्तिरीयारण्यक, ३.१३.१) आदि आदि। **वल्लभाचार्य** (१.३.१५) का भी यही मत है कि ब्रह्म का ज्ञान तथा आत्मा का मोक्ष—ये दोनों पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं। ब्रह्म ज्ञान से आत्मा का मोक्ष संभव नहीं है। ब्रह्म का ज्ञान तथा आत्मा का ज्ञान दोनों समान हैं।

कस्मात्पुनस्तमेव विदित्वाति मृत्युमेति ? इत्युच्यते—

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चि-
द्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक-
स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥९॥

शांकरभाष्यम्—

यस्मादिति। यस्मात्परं पुरुषात्परमुत्कृष्टमपरमन्यन्नास्ति, यस्मान्नाणीयोऽणुतरं न ज्यायो महत्तरं वास्ति। वृक्ष इव स्तब्धो निश्चलो दिवि द्योतनात्मनि स्वे महिम्नि तिष्ठत्येकोऽद्वितीयः परमात्मा तेनाद्वितीयेन परमात्मनेदं सर्वं पूर्णं नैरन्तर्येण व्याप्तं पुरुषेण पूर्णेन ॥९॥

जिससे उत्कृष्ट और कोई नहीं है (और) जिससे छोटा तथा बड़ा भी कोई नहीं है, वह अकेला ही वृक्ष की भाँति निश्चल भाव से अपनी द्योतनात्मक महिमा में स्थित है, उस पुरुष ने ही सारे संसार को व्याप्त कर रखा है।

प्रकृत मन्त्र परमात्मा की महिमा का वर्णन करता है। वह परमात्मा सर्वोत्कृष्ट है और इसके साथ-साथ न तो कोई उससे छोटा है और न कोई उससे बड़ा है। उपनिषत्कार ने जानबूझकर इन दो प्रकार के प्रतिमानों का प्रयोग किया है। साधारण मनुष्य जब किसी वस्तु की कल्पना करता है तो उसके मन में दो ही बातें आती हैं; या तो वह उसके महानतम रूप पर विचार करता है या उसके लघुतम रूप की कल्पना करता है। उपनिषदों में इन दोनों प्रकार के प्रतिमानों का निराकरण कर दिया गया है : **अणोरणीयान् महतो महीयान्**। हम बड़ी से बड़ी वस्तु की कल्पना करें परन्तु वह परमात्मा

उससे भी बड़ा है और वह परमात्मा अणु से भी छोटा है। वह परमात्मा एक निश्चल वृक्ष के समान अपनी द्योतनात्मक महिमा में स्थित है। इस मन्त्र में प्रयुक्त **दिवि** शब्द को लेकर टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए हैं। **शंकरानन्द** इसका अर्थ द्योतनात्मक तथा स्वयंप्रकाश करते हैं। **नारायण** इसका अर्थ स्वर्ग करते हैं। **विज्ञानभगवान** का कहना है कि वह परमात्मा अपने अखण्ड आनन्द के कारण द्योतन स्वभाव तथा अद्वितीय है और क्रीड़ा स्वभाव में पूर्णानन्द के रूप में "**अहं ब्रह्मास्मीति**" आदि वाक्य द्वारा प्रमाता में विद्यमान रहता है। इसके अतिरिक्त उनके अनुसार **दिवि** शब्द उस परमात्मा की स्वयंप्रकाश एवं चिदेकरसमयी महिमा को भी व्यक्त करता है। **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** तथा **शंकराचार्य** दिवि का अर्थ महिमा करते हैं। यह सारा संसार उसी परमात्मा से व्याप्त है। इस प्रकार की भावना अन्य उपनिषदों में भी पाई जाती है (**ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥ ईशोपनिषद् १.**)।

इदानीं ब्रह्मणः पूर्वोक्तकार्यकारणतां दर्शयञ्ज्ञानिनाममृतत्वमितरेषां च संसारित्वं दर्शयति—

ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्। य एतद्विदुर-
मृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥१०॥

शांकरभाष्यम्—

तत इति। तत इदं शब्दवाच्याज्जगत उत्तरं कारणं ततोऽत्युत्तरं कार्यकारणविनिर्मुक्तं ब्रह्मैव इत्यर्थः। तदरूपं रूपादिरहितम्, अनामयमाध्यात्मिकादितापत्रयरहितत्वात्। य एतद्विदुरमृतत्वेन अहमस्मीत्यमृता अमरणधर्माणस्ते भवन्ति। अथेतरे ये न विदुस्ते दुःखमेवापियन्ति ॥१०॥

उससे जो श्रेष्ठतर है वह अरूप तथा अनामय है। जो उसे जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं तथा दूसरे लोग दुःख को ही प्राप्त होते हैं।

कार्य रूप संसार करण रूप परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। परन्तु एक अन्य तत्त्व भी है जो इससे भी श्रेष्ठ है। वह तत्त्व किसी भी प्रकार के नाम एवं रूप से परे है। इस मन्त्र में प्रयुक्त **ततः** शब्द को लेकर टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए हैं। **शंकरानन्द** के अनुसार यह शब्द हिरण्यगर्भ का द्योतक है। वह परमात्मा हिरण्यगर्भ से भी श्रेष्ठ है। सृष्टि-प्रक्रिया में सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ की कल्पना की गई है। इस उपनिषद् में यह बतलाया गया है कि उस परमात्मा ने हिरण्यगर्भ को भी उत्पन्न होते हुए देखा था या उसने हिरण्यगर्भ को जन्म दिया है। अतः वह परमात्मा उस हिरण्यगर्भ से भी श्रेष्ठ है। **नारायण ततः** का संबंध मूर्त ब्रह्म से

स्थापित करते हैं। **विज्ञानभगवान**[1] इस संदर्भ में कहते हैं कि ततः वास्तव में ईश्वरैकत्वज्ञान का बोधक है और उस परमात्मा के ज्ञान मात्र से ही कैवल्य की सिद्धि होती है परन्तु परमात्मा का एक ऐसा अन्य रूप भी है जो इससे भी श्रेष्ठ है। **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का भी यही मत है कि ब्रह्म मात्र से ज्ञान से ही कैवल्य की सिद्धि होती है और उससे अण्य कोई श्रेष्ठ साधन नहीं है। मात्र ब्रह्म ज्ञान ही कैवल्य की सिद्धि का कारण है। **शंकराचार्य** इस सारे प्रसंग को कारणकार्य से जोड़ते हुए कहते हैं कि उससे अर्थात् इदं शब्द वाच्य जगत् से उत्कृष्टतर कार्यकारण-भावशून्य ब्रह्म ही है। **शंकराचार्य** के अनुसार इस स्थिति को इस प्रकार समझा जा सकता है :

कारणकार्य से श्रेष्ठ अर्थात् ईश्वररूप में स्थित कोई परमतत्त्व

|

कारण (परमात्मा)

|

कार्य (संसार)

इस प्रकार का परमात्मा नाम एवं रूप से परे है और इसके साथ-साथ वह तीन प्रकार के दुःखों से भी रहित है। संसार में मनुष्य के जरा, जन्म तथा मृत्यु आदि दुःख हैं। वह परमात्मा उन सबसे परे है। **शंकरानन्द अनामयं** को पूर्ण कह कर इसकी व्याख्या करते हैं। इस उपनिषद् की अपनी परम्परा के अनुसार उसका ज्ञान ही अमृतत्व का कारण है। जो इस तथ्य को जान पाते हैं वे तो अमर हो जाते हैं परन्तु अन्य लोग तो केवल दुःख को ही प्राप्त होते हैं। व्यवहार ज्ञान में सभी समान होने के उपरान्त भी अविद्वान् लोग अपने अहंभाव के कारण दुःख को प्राप्त होते हैं और दूसरे विद्वान् लोग उस अहंभाव से शून्य होकर अमृतत्व की प्राप्ति करते हैं ऐसा **शंकरानन्द** का विचार है। जो लोग उस परमात्मा के संबंध में एकत्व ज्ञान का आश्रय न लेकर अन्य किसी साधन का आश्रय लेते हैं वे लोग केवल दुःख को ही प्राप्त होते हैं।

इदानीं तस्यैव सर्वात्मत्वं दर्शयति—

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात्सर्वगतः शिवः ॥११॥

शांकरभाष्यम्—

सर्वाननेति। सर्वाण्याननानि शिरांसि ग्रीवाश्चास्येति सर्वाननशिरोग्रीवः। सर्वेषां भूतानां गुहायां बुद्धौ शेत इति सर्वभूतगुहाशयः। सर्वव्यापी स भगवानैश्व-

१. यस्मादीश्वरैकत्वज्ञानादेव कैवल्यसिद्धिस्ततस्तस्मादुत्तरतम्। पृ० २०४।

र्यादिसमष्टिः । उक्तं च—

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥"

(वि० पु० ६।५।७४)

भगवति यस्मादेवं तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥११॥

वह भगवान सब ओर मुख, सिर और ग्रीवा वाला है ; समस्त प्राणियों के हृदय रूपी गुफा में स्थित है (और) सर्वव्यापी है; इसलिए वह शिव सब जगह पहुँचा हुआ है ।

प्रकृत मन्त्र में उस परमात्मा की सर्वव्यापकता को दर्शाया गया है । उस परमात्मा को सभी स्थानों पर देखा जा सकता है । संसार में जितने भी मुख, सिर तथा ग्रीवाएँ हैं वे सभी उसी परमात्मा की हैं । जहाँ तक उसके शरीर का प्रश्न है वह सभी प्राणियों की हृदयरूपी गुफा में विद्यमान है । इस भाव को इस उपनिषद् में प्रकारान्तर से भी व्यक्त किया गया है : **अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः । हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥** (श्वेताश्वतरोपनिषद् ३.१३); **एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः । हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।** (श्वेताश्वतरोपनिषद् ४.१७) । वह परमात्मा सभी के अर्थात् स्थावर तथा जंगम पदार्थों के गुहा (बुद्धि) में शयन करता है । वह परमात्मा चेतन तथा अचेतन को व्याप्त करता है । इसलिए ही उसको सर्वव्यापी कहा गया है । यहाँ पर प्रयुक्त भगवान शब्द वास्तव में समग्र ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, धर्म, यश तथा श्री का द्योतक है ।[1] क्योंकि वह सर्वव्यापी भगवान है इसलिए ही वह सर्वगत भी है । वह परमात्मा शिव अर्थात् मंगल स्वरूप भी है । क्योंकि वह परमात्मा छः (ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, धर्म, यश तथा श्री) प्रकार के गुणों के कारण स्वयंप्रकाश, आनन्दरूप तथा मंगलकारी है ।

---

१. (i) समग्रज्ञानवैराग्यैश्वर्यधर्मयशःश्रियो भगशब्दवाच्यास्तद्वान्भगवान् । पृ० ११३ ।

(ii) सर्वव्यापी स भगवान्समग्रैश्वर्ययशःश्रीज्ञानवैराग्याख्या भगा अस्येति भगवान् । पृ० २०५ ।

(iii) स हि भगवान् निरङ्कुशषड्गुणैश्वर्यसंपन्नत्वात् । पृ० १६८ ।

किञ्च—

महान्प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः ॥१२॥

शांकरभाष्यम्—

महानिति । महान्प्रभुः समर्थो वै निश्चयेन जगदुदयस्थितिसंहारे सत्त्वस्यान्तःकरणस्यैष प्रवर्तकः प्रेरयिता । कमर्थमुद्दिश्य ? सुनिर्मलामिमां स्वरूपावस्थालक्षणां प्राप्तिं परमपदप्राप्तिम् । ईशान ईशिता । ज्योतिः परिशुद्धो विज्ञानप्रकाशः । अव्ययोऽविनाशी ॥१२॥

निश्चय ही यह महान्, परमसमर्थ पुरुष अविनाशी, ज्योतिस्वरूप, सब का शासक तथा निर्मल बुद्धि को प्राप्त करने के लिए (अन्तःकरण) को प्रेरित करने वाला है।

परम सामर्थ्यवान परमात्मा हम सब को निर्मल बुद्धि को प्राप्त करने के लिए प्रेरित करता है। इसके साथ-साथ वह हमारे अन्तःकरण का भी प्रेरक है। **शंकरानन्द** के मत के अनुसार **सत्त्व** हमारे अन्तःकरण का द्योतक है तथा ज्ञान, क्रिया शक्ति का भी द्योतक है। **शंकरानन्द** इस प्रकार के ज्ञान, क्रिया तथा शक्ति को हिरण्यगर्भ के साथ जोड़ते हैं। **नारायण** मानते हैं कि **सत्त्व** वास्तव में सत्त्व गुण का वाचक है। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का विचार है कि वह परमात्मा हमारे अन्तःकरण के मल को दूर करता है और परमात्मा से ऐक्य-ज्ञान का प्रवर्तक है। वह परमात्मा देश कालादि की सीमा से परे है और प्रभु है अर्थात् जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार का एकमात्र कारण है। वह परमात्मा हमारे शरीर में शयन करता है तथा अपने भक्तों के लिए उनकी आराधना तथा यज्ञ-यागादि के साधन जुटा कर उनकी बुद्धि को निर्मल कार्य करने के लिए प्रेरित करता है। वह परमात्मा अविद्यादि से रहित तथा मोक्षरूप वाली बुद्धि को प्राप्त करने के लिए हमारे अन्तःकरण को प्रेरित करता है। वह प्रकाश स्वरूप तथा अविनाशी है।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१३॥

शांकरभाष्यम् —

अङ्गुष्ठमात्र इति । अङ्गुष्ठमात्रोऽभिव्यक्तिस्थानहृदयसुषिरपरिमाणापेक्षया पुरुषः पूर्णत्वात्पुरि शयनाद्वा । अन्तरात्मा सर्वस्यान्तरात्मभूतः स्थितः । सदा जनानां हृदये संनिविष्टो हृदयस्थेन मनसाभिगुप्तः । मन्वीशो ज्ञानेशः । य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१३॥

अङ्गुष्ठमात्र परिमाण वाला, अन्तर्यामी परम पुरुष हमेशा ही मनुष्यों के हृदय में स्थित रहता है; वह ज्ञानाधिपति तथा हृदयस्थित मन के द्वारा सुरक्षित है। जो उसको जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं।

परमात्मा सभी प्राणियों के हृदय में विद्यमान रहता है। उपनिषदीय परम्परा में उसका संकेत एक अँगूठे के माध्यम से किया गया है। वह परमात्मा अँगूठे के परिमाण स्वरूप सभी मनुष्यों के हृदय में स्थित रहता है। यह माना जाता है कि मनुष्य का हृदय अँगूठे जितने परिमाण का होता है अतः सभी मनुष्यों के हृदय में उनके अँगूठे के परिमाण वाला वह परमात्मा सदा ही निवास करता है। उसको पुरुष भी कहा जाता है क्योंकि वह इस शरीर में शयन करता है : **पुरि शेत इति पुरुषः**। **विज्ञानभगवान पुरुष** शब्द की एक अन्य व्युत्पत्ति भी देते हैं; **पुरुषः पूर्णत्वात्पुरि शयनाच्च पुरुषः**। वह परमात्मा उन लोगों के हृदय में सदा ही निवास करता है; जन्म लेना जिनकी उपाधि मानी गई है। वह परमात्मा इस शरीर के सूक्ष्म हृदय देश में निवास करता है क्योंकि यह वह देश ही है जहाँ पर उस परमात्मा के स्वरूप तथा स्फुरण के आनन्द की अनुभूति होती है, अतः वह हमेशा ही हृदय में विद्यमान रहता है। इस प्रसंग में **शंकरानन्द** एक प्रश्न करते हैं : मनुष्य का हृदय तो एक मांसपिण्ड मात्र है। उसके द्वारा उस परमात्मा को कैसे सुरक्षित रखा जा सकता है ? हृदय के ऊपर मन का नियन्त्रण होता है, अतः मन के द्वारा ही हृदय पर भी नियमन किया जाता है और इसी प्रकरण में चित् शक्ति का कार्यक्षेत्र प्रारम्भ होता है। अन्तःकरण के संकल्प एवं विकल्प नामक दो व्यापारों की निश्चयात्मक स्थिति द्वारा ही हृदय का कार्य चलता है। **नारायण, विज्ञानभगवान**[1] तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** भी इसी प्रकार का मत व्यक्त करते हैं। **शंकराचार्य मन्वीश** का अर्थ ज्ञानाध्यक्ष करते हैं। **विज्ञानभगवान** इस अर्थ के अतिरिक्त एक अन्य मत भी प्रस्तुत करते हैं : **हृञ् हरणे** ('हृ' धातु हरणार्थक है) ऐसी स्मृति होने के कारण जो हरण करे उसका नाम **हृत** है ; उसके द्वारा अर्थात् **'नेति' नेति** द्वारा, सभी प्रकार के पदार्थों का निषेध करके, **मनीषा** अर्थात् आत्मा

१. हृदा हृदयस्थबुद्ध्या मनीषा मन इष्ट इत्यसावेव मनीट् तया मनीषा हृदा मनसा संकल्पात्मकेनाभिक्लृप्तोऽभिप्रकाशितः। मनसा संकल्पितो बुद्ध्या निश्चित इति मनसा बुद्ध्याऽभिप्रकाशितः। पृ० २०६।
(सभी टीकाकार इस प्रकरण में **मन्वीश** के स्थान पर **मनीषा** पाठ स्वीकार करते हैं)।

तथा अनात्मा के विषय में विचार करके, और इस प्रकार के मन द्वारा जिसमें **नेति नेति** तथा **आत्मानात्मविवेक** बुद्धि द्वारा सम्यक् ज्ञान से वह परमात्मा सुरक्षित किया जा सकता है। जैसा पहले ही संकेत किया जा चुका है कि यह उपनिषद् उस परमात्मा के ज्ञान पर अधिक बल देता है; यहाँ पर भी उसी तथ्य को एक बार फिर दोहराया गया हैं। जो लोग इस बात को सम्यक् प्रकार से जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं।

पुरुषोऽन्तरात्मेत्युक्तं पुनरपि सर्वात्मानं दर्शयति—सर्वस्य तावन्मात्रत्वप्रदर्शनार्थम्। उक्तं च—"अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते" इति।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१४॥

शांकरभाष्यम्—

सहस्राण्यनन्तानि शीर्षाण्यस्येति सहस्रशीर्षा। पुरुषः पूर्णः। एवमुत्तरत्र योजनीयम्। स भूमिं भुवनं सर्वतोऽन्तर्बहिश्च वृत्वा व्याप्यात्यतिष्ठदतीत्य भुवनं समधितिष्ठति। दशाङ्गुलमनन्तमपारमित्यर्थः। अथवा नाभेरुपरि दशाङ्गुलं हृदयं तत्राधितिष्ठति ॥१४॥

वह पुरुष हजार सिरों वाला, हजार आँखों वाला (तथा) हजार पैरों वाला है। वह समस्त जगत् को सब ओर से घेर कर नाभि से दस अङ्गुल ऊपर (हृदय) में स्थित है।

वह परमात्मा अनन्त सिर, अनन्त नेत्र तथा अनन्त चरणों वाला है। वह परमात्मा परिपूर्ण है। परमात्मा का ही रूप सारे संसार में व्याप्त है। उसी का रूप स्थावर और जंगम में विद्यमान रहता है। इस तथ्य को प्रतीकात्मक ढंग से अभिव्यक्त किया गया है। परमात्मा सारी पृथिवी पर विद्यमान होने के उपरान्त उसके दस अङ्गुल ऊपर स्थित है। परमात्मा का यह पृथिवी के दस अङ्गुल ऊपर स्थित रहना ही उस प्रतीकात्मकता का परिचायक है। जब पहले ऋषि ने यह कह दिया कि वह परमात्मा सारी पृथिवी में ओत-प्रोत है तो यह कहने की क्या आवश्यकता है कि वह इस पृथिवी पर दस अङ्गुल ऊपर स्थित है। **शंकरानन्द** का कहना है कि दस अङ्गुल परिमित देश को पार करके अर्थात् हृदय में वह परमात्मा सारी पृथिवी में उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थों में तो विद्यमान रहता ही है, इसके अतिरिक्त भी वह विद्यमान रहता है। ईश्वर के छ्यानवें अङ्गुल वाले शरीर में यह सारा सचराचर जगत् जो दस अङ्गुल द्वारा अभिव्यवत है उस परमात्मा का एक अंश ही है।[1] **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का कहना है

---

१. षण्णवत्यङ्गुले शरीर ईश्वरस्येदं सचराचरं दशाङ्गुलमस्य एकदेशस्तदीय एकांश इत्यर्थः। पृ० ११३।

कि भूमि वास्तव में संसार के सारे भौतिक पदार्थों का प्रतीक है और वह परमात्मा उन सभी पदार्थों में व्याप्त है। दस अङ्गुल प्रतीक है पंचतन्मात्रायुक्त समष्टिरूप हिरण्यगर्भ तथा पंच महाभूत द्वारा अभिव्यक्त होने वाले विराट्रूप का। **अत्यतिष्ठत्** का आशय है कि वह परमात्मा अनन्त रूप में सत्य, सुख संवित् तथा एकरसवान् अपनी महिमा में विद्यमान रहता है। इसका तात्पर्य है कि सत्य, ज्ञान एवं आनन्द रूप परमात्मा की जो आनन्द अवस्था है उसको यहाँ अत्यतिष्ठत् द्वारा प्रकट किया गया है। **विज्ञानभगवान** के अनुसार माया प्रकृति (१) पंचमहाभूत (५) और अहंकार चतुष्टय (४) —ये सब मिलकर दस अंगुलियों का संकेत करते हैं।[1] **विज्ञानभगवान** का सुझाव है कि दस इन्द्रियाँ या दस दिशाएँ भी दस अंगुल द्वारा अभिव्यक्त होती हैं। **शंकराचार्य** इन सब अर्थों के अतिरिक्त एक अन्य अर्थ प्रस्तुत करते हैं : नाभि से ऊपर जो दस अंगुल परिमाण वाला हृदय है वह परमात्मा उसमें स्थित है।

———

ननु सर्वात्मत्वे सप्रपञ्चं ब्रह्म स्यात्तद्व्यतिरेकेणाभावादित्याह—

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥१५॥

शांकरभाष्यम्—

पुरुष एवेदमिति। पुरुष एवेदं सर्वं यदन्नेनातिरोहति यदिदं दृश्यते वर्तमानं यद्भूतं यच्च भव्यं भविष्यत्। किञ्च उतामृतत्वस्येशानोऽमरणधर्मत्वस्य कैवल्यस्येशानः। यच्चान्नेनातिरोहति यद्वर्तते तस्येशानः ॥१५॥

जो भूत है, जो भविष्य में होने वाला है और जो अन्न द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है वह सब पुरुष ही है (और) वह अमृतत्व का भी स्वामी है।

प्रकृत मन्त्र में पुरुष को काल के साथ संबद्ध किया गया है। पुरुष ही भूतकाल है, पुरुष ही वर्तमान है और पुरुष ही भविष्य काल है। टीकाकारों ने पुरुष का अर्थ परिपूर्ण किया है। वह स्वयं भी परिपूर्ण है और इसके साथ-साथ संसार को भी पूर्ण बनाता है। यद्यपि उस परमात्मा को संसार का कर्ता बतलाया गया है परन्तु फिर भी वह संसार को पूर्ण बनाता है; क्योंकि श्रुति में उस प्रकार के पुरुष को सर्वोत्तम माना गया है; **पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः।** इस मन्त्र में अमृतत्व तथा अन्न का प्रयोग प्रतीकात्मक रूप में हुआ है। परमात्मा अमृतत्व तथा अन्न दोनों का ही स्वामी है।

१. अथवा मायाप्रकृतिं भूतपञ्चकमहंकारचतुष्टयं चैतद्दशाङ्गुलं दशपर्वात्मकमतीत्य व्यवस्थितवान्। पृ० २०७।

परमात्मा अमृतत्व का प्रदाता है और अन्न के द्वारा प्राणियों की वृद्धि भी करता है। टीकाकारों ने इस प्रसंग की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की हैं। **विज्ञानभगवान** का कहना है कि भूतकाल स्वप्न है; वर्तमान काल प्रपञ्च है और भविष्यकाल अविद्या है। उनका आगे कहना है कि अमृतत्व के प्रतिभास मात्र से संसार से निवृत्ति अर्थात् मोक्ष मिलता है; और वह "अहं ब्रह्मास्मि" नामक महावाक्य ज्ञान के माध्यम से उपलब्ध होता है।[1] **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का कहना है कि यह दृश्यजात (अर्थात् संसार) जो खाता है वह सम्यग्ज्ञान स्वरूप अन्न ही खाता है और अन्न माया रूप ही है अर्थात् वह माया नामक अन्न द्वारा अपने वास्तविक वस्तु स्वरूप को छोड़ कर अद्वितीय तथा विपरीत स्वभाव को प्राप्त होता है; उस सारे क्रियाकलाप को अपनी सत्ता के माध्यम से निष्पादन करने के कारण से वह ईशान अर्थात् नियन्ता है। **विज्ञानभगवान**[2] तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** आगे कहते हैं कि जो पुरुषतत्त्व माया नामक अन्न द्वारा कार्य रूप में परिणत होता है वही अमृतत्व का भी स्वामी है। जैसा पहले ही संकेत किया जा चुका है कि अमृतत्व तथा अन्न—ये दोनों शब्द यहाँ प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। अमृतत्व प्रतीक है श्रेय का और अन्न प्रतीक है प्रेय का अर्थात् वह परमात्मस्वरूपभूत पुरुष श्रेय तथा प्रेय दोनों का ही स्वामी है।

———

पुनरपि निर्विशेषं प्रतिपादयितुं दर्शयति-

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१६॥

शांकरभाष्यम्—

सर्वत इति। सर्वतः पाणयः पादाश्चेति सर्वतःपाणिपादं तत्। सर्वतोऽक्षीणि शिरांसि मुखानि च यस्य तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिः श्रवणमस्येति श्रुतिमत्। लोके प्राणिनिकाये सर्वमावृत्य संव्याप्य तिष्ठति ॥१६॥

---

१. उताप्यमृतत्वस्य प्रतिभासमात्रसंसारतत्कारणनिवृत्तिलक्षणस्य मोक्षस्येशानः। महावाक्यजनिताहं ब्रह्मास्मीति सम्यग्ज्ञानफलारूढः। पृ० २०८।

२. (i) यद्दृश्यजातमन्नघटे बाध्यते सम्यग्ज्ञानेनेत्यन्नं माया तेन मायाख्येनान्नेनात्यतीत्य वस्तुस्वभावमतिलङ्घ्य द्वितीयवस्तुविपरीतरूपेण रोहति जायते। तस्यापि कार्यजातस्य सत्तास्फुरणप्रदत्वेनाधिष्ठानत्वादीशानो नियन्ता परमेश्वर एव। पृ० २०८।

(ii) उपनिषद्ब्रह्मयोगी पृ० २००।

वह परम पुरुष परमात्मा सब ओर हाथ पैर वाला, सब जगह आँख सिर और मुखवाला (तथा) सब जगह कानों वाला है। (वह परमात्मा ही) संसार में सबको व्याप्त करके स्थित रहता है।

जिस परमात्मा का पहले वर्णन किया गया है उस परमात्मा के हाथ, पाँव, सिर, मुख और कान सर्वत्र विद्यमान हैं। कहने का तात्पर्य है कि संसार में जितने भी हाथ, पाँव, आँखें, सिर मुख और कान हैं वे सभी उस परमात्मा के हैं। इसके अतिरिक्त वह परमात्मा सभी वस्तुओं में ओत-प्रोत है। उसको सभी वस्तुओं में देखा जा सकता है। संसार में जितनी भी अच्छी वस्तुएँ हैं परमात्मा उन सभी में समान रूप से व्याप्त है। इस प्रकार की भावना प्राय: उपनिषदों एवं परवर्ती साहित्य में पाई जाती है। गीता में एक स्थान पर कहा गया है कि संसार में जो कुछ भी ऐश्वर्यवान् तथा ऊर्जा से युक्त है वह सब कुछ परमात्मा का ही अंश है : **यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥** (गीता० १०.४१)।

उपाधिभूतपाणिपादादीन्द्रियाध्यारोपणाज्ज्ञेयस्य तद्वत्ताशङ्का मा भूदित्येवमर्थमुत्तरतो मन्त्रः

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्॥१७॥

शांकरभाष्यम्—

सर्वेन्द्रियेति। सर्वाणि च तानीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्तःकरणपर्यन्तानि सर्वेन्द्रियग्रहणेन गृह्यन्ते। अन्तःकरणबहिष्करणोपाधिभूतः सर्वेन्द्रियगुणैरध्यवसायसंकल्पश्रवणादिभिर्गुणवदाभासत इति सर्वेन्द्रियगुणाभासम्। सर्वेन्द्रियैर्व्यापृतमिव तज्ज्ञेयमित्यर्थः। "ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ० उ० ४।३।७) इति श्रुतेः। कस्मात्पुनः कारणात्तद्व्यापृतमिवेति गृह्यते ? इत्याह 'सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' सर्वकरणरहितमित्यर्थः। अतो न च करणव्यापारैर्व्यापृतं तज्ज्ञेयम्। सर्वस्य जगतः प्रभुमीशानम्। सर्वस्य शरणं परायणं बृहत्कारणं च॥१७॥

(उस परम पुरुष परमात्मा) में सभी इन्द्रियों के रहित होने पर भी समस्त इन्द्रियों का भास (होता है); (वह) सब का स्वामी (तथा) शासक (है) (और) सबका महान् आश्रय (है)।

परमात्मा सभी प्रकार की इन्द्रियों से रहित है परन्तु फिर भी उसमें सभी इन्द्रियों के गुणों का आभास होता है। इन्द्रियों से रहित होना अपने आप में उपलक्षण मात्र है। वह परमात्मा अविद्या आदि अन्य प्रकार के भावों से भी रहित है। कान नेत्र, वाग् और त्वचा आदि इन्द्रियों से रहित होता हुआ भी वह परमात्मा

इन इन्द्रियों के विषय श्रवण, रूप, वाणी तथा स्पर्श आदि गुणों से युक्त है। इन सभी गुणों का आभास उस परमात्मा में होता है।

विज्ञानभगवान का सुझाव है कि इन्द्रिय शब्द का प्रयोग यहाँ पर उपलक्षण के रूप में हुआ है। वह परमात्मा सभी का स्वामी तथा नियन्ता है। स्वामी तथा नियन्ता ये दोनों एक दूसरे में अन्योऽन्याभाव से संयुक्त हैं। वह परमात्मा सभी के लिए आपत्ति में मित्र के समान प्राप्य, रक्षक एवं हितकारी है।[1]

किञ्च

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥१८॥

शांकरभाष्यम्—

नवद्वार इति। नवद्वारे शिरसि सप्तद्वाराणि द्वे अवाची पुरे देही विज्ञानात्मा भूत्वा कार्यकरणोपाधिः सन्हंसः परमात्मा हन्त्यविद्यात्मकं कार्यमिति, लेलायते चलति बहिर्विषयग्रहणाय। वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥१८॥

सारे स्थावर और जंगम (जगत्) को अपने वश में रखने वाला (यह) हंस नौ दरवाजे वाले शरीर में देहाभिमानी होकर बाह्य (विषयों) को पकड़ने की चेष्टा करता है।

सर्वशक्तिमान परमात्मा अपने आप में परिपूर्ण होता हुआ नौ द्वार वाले इस शरीर में प्रवेश करता है। प्रवेश करने के वाद उसके नाम में किञ्चित् परिवर्तन भी हो जाता है। यह नाम का परिवर्तन मात्र दार्शनिक परिवर्तन है। परन्तु वास्तव में दोनों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। उस परमात्मा को यहाँ पर हंस कहा गया है क्योंकि वह बुद्धि नामक उपाधि से युक्त होकर चलता है।[2] परमात्मा को वशी इसलिए कहा गया है कि सब कुछ उसी के वश में रहता है।[3] दो आँख, दो कान, दो नासिका, एक मुख, एक गुदा और एक उपस्थ—इस प्रकार नौ दरवाजे वाले मनुष्य शरीर में वह परमात्मा निवास करता है। शरीर में निवास करते समय वह विज्ञान आत्मा (जीव) के नाम से अभिहित होता है। जीव शरीर में निवास करते समय स्वभावतः अपनी इन्द्रियों के माध्यम से

१. (i) सर्वस्य शरणं सर्वस्याऽऽपदि प्राप्यं रक्षकं वा सुहृन्मित्रवन्मित्रं सर्वावस्थायां हितकारकम्। पृ० २०९।
(ii) उपनिषद्ब्रह्मयोगी पृ० २०१।

२. बुद्ध्युपाधिः सन्हन्ति गच्छतीति हंसः (शंकरानन्द)। पृ० ११४।

३. अस्य वशे सर्वं वर्तत इति वशी (उपनिषद्ब्रह्मयोगी)। पृ० २०२।

बाह्य विषयों के प्रति आकृष्ट होकर उनको पकड़ने की चेष्टा करता है । ऐसा वह इसलिए करता है कि ब्रह्म ने उसकी इन्द्रियों को स्वभावतः बहिर्गामिनी बनाया है :

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू-
स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ (कठोपनिषद् २.१.१)

क्योंकि मनुष्य की इन्द्रियाँ स्वभावतः बहिर्गामिनी बनी हैं इसलिए वह बाहर की ओर ही देखता है; जो हंस रूपी परमात्मा उसकी हृदयरूपी गुफा में स्थित है वह उसको नहीं देख पाता । कोई बिरला ही व्यक्ति अमृतत्व की इच्छा करता हुआ नेत्रों को बाह्य विषयों से हटा कर अपने आप में स्थित आत्मा का दर्शन करता है । वह परमात्मा इस संसार में स्थावर तथा जंगम दोनों को अपने वश में करता है। देही (पुराभिमानी हंस) जाग्रत् अवस्था को परित्याग करके स्वप्न नामक उपाधि को प्राप्त होता है। कुछ क्षण बाद वह उसका भी परित्याग करके सुषुप्ति को प्राप्त होता है। फिर उसको छोड़ कर सम्यग्ज्ञान द्वारा तुर्यावस्था को प्राप्त होता है। परमात्मा अपनी माया द्वारा ज्ञान, क्रिया एवं शक्ति से युक्त सूक्ष्म शरीर का निर्माण करता है। उसके पश्चात् वह देहाभिमानी हो कर पुण्य-पाप करता हुआ और उनके पराधीन होता हुआ तथा भिन्न भिन्न-जन्मों में बाह्य विषयों को पकड़ने की चेष्टा करता हैं ।[1]

एवं तावत्सर्वात्मकं ब्रह्म प्रतिपादितम् । इदानीं निर्विकारानन्दस्वरूपेणानुदितानस्तमितज्ञानात्मनावस्थितं परमात्मानं दर्शयितुमाह—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥१९॥

शांकरभाष्यम्—

अपाणिपाद इति । नास्य पाणिपादावित्यपाणिपादः । जवनो दूरगामी । ग्रहीता पाण्यभावेऽपि सर्वग्राही । पश्यति सर्वमचक्षुरपि सन् । शृणोत्यकर्णोऽपि । स वेत्ति वेद्यं सर्वज्ञत्वादमनस्कोऽपि । न च तस्यास्ति वेत्ता "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" (बृ०

---

१. (i) देही पुराभिमानी सन्हंसो जाग्रदभिमानं हत्वा स्वप्नोपाध्यभिमानं गच्छति, तमपि हत्वा सुषुप्तिं गच्छति, तामपि सम्यग्ज्ञानेन हत्वा तुर्यं गच्छतीति (विज्ञानभगवान) पृ० २०६ ।
(ii) उपनिषद्ब्रह्मयोगी पृ० २०१-२०२ ।

उ० ३।७।२३) इति श्रुतेः । **तमाहुरग्र्यं प्रथमं सर्वकारणत्वात्पुरुषं पूर्णं महान्तम्** ॥१९॥

वह (परमात्मा) हाथ-पैर से रहित होकर भी वेगवान तथा (वस्तुओं) को ग्रहण करने वाला (है); आँखों के बिना देखता है (और) कानों के बिना भी सुनता है। वह जानने योग्य वस्तुओं को जानता है (परन्तु) उसका जानने वाला नहीं है; उसे आदि पुरुष (और) महान् कहा गया है।

यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि परमात्मा के सब इन्द्रियों से रहित होने पर भी उसमें सभी इन्द्रियों के गुणों का आभास पाया जाता है। (श्वेताश्वतर ३.१७)। इस मन्त्र में उसी तथ्य को दोहराया गया है। वह परमात्मा हाथों के न होने पर भी वस्तुओं को ग्रहण करने की शक्ति रखता है; चरणों के न होने पर भी वेगवान है; नेत्रों के बिना भी देखता है और कानों के बिना भी सुनने की क्षमता रखता है। सर्वशक्तिमान परमात्मा इस प्रकार के विरोधी लक्षणों से युक्त है। टीकाकारों[1] का सुझाव है कि यहाँ पर इन्द्रिय-निर्देश उपलक्षण मात्र है। वह परमात्मा स्वयं अखण्ड, स्वयंप्रकाश तथा एकचिद्रस सभी जानने योग्य वस्तुओं को जानता है परन्तु उसका कोई भी ज्ञाता नहीं है। यहाँ पर उसके विषय में विरोधी स्वभाव वाली बात कही गई है। ऋषियों ने उसको आदि पुरुष अर्थात् पूर्ण पुरुष तथा महान् कहा है। उसको सभी का अधिष्ठाता तथा कारण बतलाया है। वह सभी का प्रधान कारण है इसलिए उसको आदि पुरुष कहा गया है। शरीर में शयन करने के कारण या पूर्णता के कारण उसको पुरुष कहा गया है। क्योंकि वह सभी को अपने आप में आत्मसात् करता है इसलिए उसको महान् भी कहा गया है।

किञ्च—

अणोरणीयान्महतो महीया-
नात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥२०॥

शांकरभाष्यम्—

अणोरणीयानिति । अणोः सूक्ष्मादप्यणीयानणुतरः । **महतो महत्त्वपरिमाणान्महीयान्महत्तरः** । स चात्मास्य जन्तोर्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य प्राणिजातस्य गुहायां

---

१. (i) इतरकर्मेन्द्रियाणामप्युपलक्षणमेतत् (विज्ञानभगवान)। पृ० २१०।
(ii) शिष्टकर्मेन्द्रियाणामुपलक्षणमेतत् (उपनिषद्ब्रह्मयोगी)। पृ० २०२।

हृदये निहित आत्मभूतः स्थित इत्यर्थः । तमात्मानमक्रतुं विषयभोगसङ्कल्परहितमात्मनो महिमानं कर्मनिमित्तवृद्धिक्षयरहितमीशं पश्यत्ययमहमस्मीति साक्षाज्जानाति यः स वीतशोको भवति । केन तह्यसौ पश्यति ? धातुरीश्वरस्य प्रसादात् । प्रसन्ने हि परमेश्वरे तद्याथात्म्यज्ञानमुत्पद्यते , अथवेन्द्रियाणि धातवः शरीरस्य धारणात्तेषां प्रसादाद्विषयदोषदर्शनमालक्ष्यपनयनात् । अन्यथा दुर्विज्ञेय आत्मा कामिभिः प्राकृतपुरुषैः ॥२०॥

वह सूक्ष्म से सूक्ष्म (और) महान् से महान् परमात्मा इस जीव के हृदय रूपी गुफा में छिपा हुआ है । विधाता की कृपा से (जो मनुष्य) उस संकल्परहित परमात्मा (तथा) उसकी महिमा को देख लेता है वह (सब) प्रकार के दुःखों से रहित हो जाता है ।

वैदिक ऋषियों ने परमात्मा के रूप को समझाने के लिए इस मन्त्र में दो प्रकार की सीमाओं का निर्देश किया है । साथ-साथ यह भी ध्यान रखा गया है कि जो बात कही जाए वह साधारण मनुष्य की समझ में आ सके । अल्प बुद्धि वाला व्यक्ति जब किसी वस्तु की कल्पना करता है तो सामान्यतया उसके मन में दो प्रकार की सीमाएँ आती हैं : सबसे छोटी और सबसे बड़ी । जब वह सर्वप्रथम किसी वस्तु के विषय में विचार प्रारम्भ करता है तो वह उसके अवयव संबंधी सीमाओं पर विचार करता है । उसकी दार्शनिक रूपरेखा उसके मन में दूसरी बार आती है । संभवतः इसी दृष्टि से ऋषियों ने परमात्मा का वर्णन इस प्रकार से किया है जहाँ उसको छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा बतलाया है । परमात्मा का इस प्रकार का वर्णन करते समय उनके मन में शायद एक साधारण आदमी की कल्पना थी जो किसी भी प्रकार की दार्शनिक विचार धारा से अनभिज्ञ था और अपनी मन्द बुद्धि द्वारा केवल वस्तु के बाह्य आकार-प्रकार पर ही विचार कर सकता था । किसी वस्तु का वर्णन करते समय सामान्यतया या तो हम उसके लघुतम आकार का ध्यान करते हैं या उसके महानतम रूप पर विचार करते हैं । जब ऋषियों ने परमात्मा का वर्णन किया तो कहा कि वह परमात्मा अणु से भी छोटा है और महान् से भी महान् है । टीकाकार **विज्ञानभगवान** और **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का कहना है कि वह परमात्मा सूक्ष्म है और आकाश से भी महान् तथा अद्वितीय है । दोनों ही टीकाकार यहाँ **महत्** शब्द का अर्थ आकाश करते हैं ।[1] वह परमात्मा मनुष्य के स्थूल के हृदय में विद्यमान है । स्वयं मनुष्य मरणधर्मा है और उसमें परमात्मा को देखने की शक्ति नहीं है । जब विधाता की कृपा होती है तब ही वह परमात्मा का दर्शन कर सकता है । वैसे भी सामान्यतया

---

१. (i) महतो महीयान्महत आकाशादेरपि महत्तरोऽद्वितीयोऽणिमेत्यर्थः । पृ० २०१ ।

(ii) आकाशादेर्महतोऽपि महत्तमत्वात् । पृ० २०३ ।

उपनिषदों में यह कहा गया है कि मनुष्य के स्वयं चाहने पर आत्मा का दर्शन नहीं हो सकता। वही आदमी परमात्मा का दर्शन कर सकता है जिसको स्वयं आत्मा चुनती है। यह आत्मा न तो प्रवचन, न बुद्धि और न बहुश्रुत होने से प्राप्त होती है। **कठोपनिषद्** में स्पष्ट इसका निर्देश मिलता है कि बहुत से व्यक्ति इस आत्मा को सुन भी नहीं पाते; दूसरे अनेक व्यक्ति सुनने पर भी इसको जान नहीं पाते। इसका वक्ता महापुरुष एवं आश्चर्यमय है और जो इस प्रकार इसको ग्रहण करता है वही महान् है:

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥
(कठोपनिषद् १.२.२३)

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवः यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥
(कठोपनिषद् २.२.७)

यहाँ परमात्मा को **अक्रतुः** कहा गया है। टीकाकारों ने इसका अर्थ विषय-योगसंकल्प रहित किया है। जब विधाता का प्रसाद होगा तब ही मनुष्य उसका दर्शन कर सकता है। विधाता के लिए यहाँ धातुः शब्द का प्रयोग किया गया है। **शंकरानन्द** इसका अर्थ ईश्वर या ईश्वर का अन्तःकरण करते हैं। **नारायण** इसका अर्थ आत्मा या गुरु करते हैं। **विज्ञानभगवान,**[1] **नारायण** और **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** कहते हैं कि इन्द्रियाँ ही शरीर की धातुएँ हैं क्योंकि वे शरीर को धारण करती हैं और मन को उनके तत्तत् विषयों की ओर जाने से रोकती हैं। उनके प्रसाद अर्थात् विषयों में दोषदर्शन के द्वारा मलादि की निवृत्ति होने पर मन उसे देखता है: अन्यथा सकाम प्राकृत पुरुषों के लिए तो आत्मा दुर्विज्ञेय ही है। **उपनिषद्ब्रह्मयोगी शंकरानन्द** और **शंकराचार्य** के समान धातु का अर्थ ईश्वर करते हैं। जब मनुष्य परमेश्वर और उसकी महिमा को जान लेता है तब सदा के लिए सब प्रकार के दुःखों से रहित हो कर उस परम आनन्दस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है।

उक्तमर्थं द्रढयितुं मन्त्रदृगनुभवं दर्शयति—

वेदाहमेतमजरं पुराणं
सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य
ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम्॥२१॥

---

१. अथवेन्द्रियाणि धातवः शरीरस्य धारणात्तेषां प्रसादाविषयदोषदर्शनमलाद्य-पनयनात्। अन्यथा दुर्विज्ञेय आत्मा कामिभिः प्राकृतपुरुषैः।

शांकरभाष्यम्—

वेदाहमेतमिति । वेद जानेऽहमेतमजरं विपरिणामधर्मवर्जितं पुराणं पुरातनं सर्वात्मानं सर्वेषामात्मभूतं सर्वगतं विभुत्वादाकाशवद्व्यापकत्वात् । यस्य च जन्मनिरोधमुत्पत्त्यभावं प्रवदन्ति ब्रह्मवादिनो हि नित्यम् । स्पष्टोऽर्थः ॥२१॥

ब्रह्मवेत्ता लोग जिसके जन्म का अभाव बतलाते हैं और जिसको नित्य कहते हैं उस जरा से रहित, सर्वात्मा, सर्वगत, पुराण (पुरुष) को व्यापक होने के कारण से मैं जानता हूँ।

जिस ऋषि ने परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया है वह उसके विषय में इस प्रकार कह सकता है कि मैं उसको जानता हूँ। सामान्यतया जो व्यक्ति परमात्मा का दर्शन कर लेता है वह किसी से इस प्रकार कहता नहीं है। कोई बिरला ही व्यक्ति परमात्मा का दर्शन कर पाता है। यहाँ पर ऋषि कहता है कि मैं उसके व्यापक होने के कारण उस परमात्मा को जानता हूँ, जो जरा, जन्म मृत्यु आदि दुःखों से रहित है, जो सनातन और सर्वगत है। इस मन्त्र के उत्तरार्ध भाग को टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से समझाया है। **शंकरानन्द**[1] इसका इसप्रकार अर्थ करते हैं : जन्म और निरोध उत्पत्ति तथा विनाश ; मन्द बुद्धि वाले लोग इन्हें आत्मा का धर्म बतलाते हैं। परन्तु ब्रह्मवेत्ता लोग जिन्हें तत्त्व का साक्षात्कार हो गया है, आत्मा को नित्य बतलाते हैं। **नारायण**[2] का कहना है कि मूढ लोग अज्ञान दशा में उत्पत्ति तथा विनाश को आत्मा के धर्म मानते हैं। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** इस प्रकरण को ईश्वर के संदर्भ में जोड़कर कहते हैं कि तत्त्वदर्शी लोग कहते हैं कि संसार का जन्म तथा संसार का विनाश तो परमेश्वर का कर्म मात्र है। परन्तु वह स्वयं परमात्मा महाप्रलय प्रलयान्तर तथा सुषुप्तिकाल में नित्य रूप में विद्यमान रहती है। **शंकराचार्य** भी इस प्रकरण को परमात्मा से जोड़कर ही इसका अर्थ करते हैं।

———

१. जन्म च निरोधश्च जन्मनिरोधमुत्पत्तिविनाशावित्यर्थः। प्रवदन्ति प्रकर्षेण कथयन्ति मूढा इति शेषः, यस्य आत्मनः अयं पूर्वपक्षः। ब्रह्मवादिनः उत्पन्नतत्त्वसाक्षात्कारा हि प्रसिद्धाः प्रवदन्ति प्रकर्षेण कथयन्ति नित्यम्। पृ० ११५।

२. यद्वा यस्य जन्मोत्पत्तिं निरोधं मरणं च प्रवदन्ति प्रथमज्ञानदशायां वदन्ति मूढा इत्यर्थात्। पृ० १६५।

चतुर्थोऽध्यायः

गहनत्वादस्यार्थस्य भूयो भूयो वक्तव्य इति चतुर्थोऽध्याय आरभ्यते—

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगा-
द्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति ।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥१॥

शांकरभाष्यम्—

य एक इति । य एकोऽद्वितीयः परमात्मावर्णो जात्यादिरहितो निर्विशेष इत्यर्थः । बहुधा नानाशक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थोऽगृहीतप्रयोजनः स्वार्थनिरपेक्ष इत्यर्थः । दधाति विदधात्यादौ । वि चैति व्येति चान्ते प्रलयकाले । चशब्दान्मध्येऽपि यस्मिन्विश्वं स देवो द्योतनस्वभावो विज्ञानैकरस इत्यर्थः। स नोऽस्माञ्छुभया बुद्ध्या संयुनक्तु संयोजयतु ॥१॥

जो रंग (रूप आदि) से रहित, बिना किसी प्रयोजन के विविध शक्तियों के द्वारा सृष्टि के आरम्भ में अनेक रंगों को धारण करता है; (तथा) अन्त में जिसमें सारा विश्व लीन हो जाता है; वह (परमात्मा) हम लोगों को शुभबुद्धि से संयुक्त करे।

प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में यह बतलाया गया था कि **काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, योनि और पुरुष**—ये सभी सृष्टि की उत्पत्ति के कारण नहीं हैं। परन्तु **"देवात्मशक्ति"** नामक एक ऐसा तत्त्व है जिसको सृष्टि का कारण कहा जा सकता है। ऋषियों ने काफी परीक्षण के बाद इस तत्त्व को खोजा था; इसमें तीन तत्त्व एक साथ समन्वित हैं : **देव, आत्म और शक्ति**। वह देव अर्थात् परमात्मा अपनी शक्ति के योग से विचित्र वर्ण वाली सृष्टि का निर्माण करता है। वह स्वयं वर्णहीन है और सृष्टि प्रक्रिया में उसका अपना कोई प्रयोजन नहीं है या है तो कोई बहुत गहरा प्रयोजन है जो आपातत: हमें प्रतीत नहीं होता है। उस परमात्मा की लीला निराली है। वह सृष्टि का निर्माण करता है और अन्त में यह सृष्टि उस प्रकार उसी में लीन हो जाती है जैसे एक मकड़ी अपने जाले को बुनती है और अन्त में उसको अपने में ही समेट लेती है :

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्यते च
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ॥ (मुण्डकोपनिषद् १.१.७)

यहाँ परमात्मा को अवर्ण कहा गया है और वह नाना प्रकार के वर्णों की सृष्टि करता है। यह स्पष्ट ही है कि इसमें विरोधाभास प्रतीत होता है परन्तु यह कोई नयी बात नहीं है। इस उपनिषद् में पहले भी यह कहा जा चुका है कि वह परमात्मा सब प्रकार की इन्द्रियों से रहित है परन्तु उसमें सब प्रकार की इन्द्रियों के गुणों का आभास होता है। वास्तव में उस परमात्मा की अवर्णता का क्या आशय है? **शंकरानन्द** यहाँ पर **अपर्ण** के स्थान पर **वर्ण** पाठ मान कर इसकी व्याख्या करते हैं। **शंकरानन्द** का कहना है कि वह स्वयंप्रकाश, चिदानन्द तथा एकरस परमात्मा अपनी माया के कारण बिना किसी प्रयोजन से एक वर्ण से अनेक वर्णों का निर्माण करता है। अन्त में यह सारा संसार उसी परमात्मा में जाकर लीन हो जाता है। **शंकरानन्द**[1] सर्वप्रथम **वर्ण** का अर्थ पदार्थ करते हैं। परमात्मा एक पदार्थ से अनेक पदार्थों का निर्माण करता है। इसके पश्चात् **शंकरानन्द** **वर्ण** के विषय में चार अर्थ प्रस्तुत करते हैं:

(१) एक वर्ण ओंकार ही है और अनेकानेक शाखाओं, वेदांगों, उपांगों के कारण **ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद** तथा **अथर्ववेद** के रूप में नाना वर्ण बन जाते है। जैसे वृक्ष का तना एक होता है परन्तु उसके अनेक पत्ते होते हैं। उसी प्रकार से वह ओंकार ही आदित्य नामक देव है जो सबको प्रकाशित करने वाला है।

(२) एक **वर्ण अकार** ही है जिसके ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, अनुनासिक, अननुनासिक रूप में अनेक भेद पाए जाते हैं।

(३) शब्द तत्त्व ही वास्तव में एक वर्ण है जिसको कुण्डलिनी शक्ति के माध्यम से एक चक्र, दो चक्र या तीन चक्र द्वारा स्वरों तथा क आदि विभिन्न वर्णों से अपने प्रयोजन के लिए प्रयोग में लाया जाता है। वही तत्त्व चिदचिद्-भेदशून्य रूपी अपनी आत्मा में अर्थात् सब वर्णों की उत्पत्ति से पहले विविध रूप धारण करता है। वही प्रकाश स्वभाव वाला शब्द तत्त्व वर्णों में अन्तर्भूत होने के कारण शब्दों में विद्यमान रहता है। विमर्श रूप से विद्यमान।

(४) अष्टांगयोग में लगे हुए योगी को योग सिद्धि की प्रथम अवस्था में निर्विकल्प समाधि के समान एक ही रंग, कोहरे और धूएँ के रूप में श्वेतादि वर्ण के

---

१. वर्ण्यंत इति वर्णाः पदार्थः पृ० ११६।

रूप में दिखलाई पड़ता है और योग-सिद्धि में विघ्न के समाप्त होने पर वह भेदात्मक विश्व को समझने लगता है और वह वर्ण जिसके कारण वह विघ्न समाप्त हुआ था, अब द्योतनात्मक रूप में प्रकाशित होने लगता है। वही देव हमको शुभ बुद्धि के साथ युक्त करवाए।

नारायण भी **शंकरानन्द** के समान यह मानते हैं कि वास्तव में एक वर्ण ओंकार ही है और वही अनेक रूपों को धारण करता है। **नारायण**[1] यह मानते हैं कि शब्द शक्ति ईश्वर की इच्छा ही है। परमात्मा (देव) मनुष्य को एक ऐसा ज्ञान प्रदान करे जिससे वह स्वर्ग तथा अपवर्ग को प्राप्त कर सके।

विज्ञानभगवान[2] तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी अवर्ण** पाठ मानकर इसकी व्याख्या करते हैं। वे **अवर्ण** का अर्थ नामरूप से शून्य करते हैं। **विज्ञानभगवान**[3] का कहना है कि परमात्मा पहले वस्तुओं को नामरूप प्रदान करता है और पश्चात् उनको नामरूप से शून्य कर देता है अर्थात् उस परमात्मा का अपना कोई विशिष्ट प्रयोजन नहीं है। संहारकाल में सभी वस्तुएँ उसमें विलीन हो जाती हैं।

शंकराचार्य अवर्ण का अर्थ जाति आदि से रहित करते हैं। इस मन्त्र में निहितार्थ शब्द को लेकर भी टीकाकारों में पर्याप्त भेद पाया जाता है। इसका अर्थ निष्प्रयोजन तथा सप्रयोजन दोनों ही प्रकार से किया गया है। **शंकराचार्य** स्वयं इसका बिना किसी प्रयोजन अर्थात् स्वार्थ की अपेक्षा न करके—ऐसा अर्थ करते हैं। मैक्स मूलर[4] भी इसका अर्थ निष्प्रयोजन करते हैं। राधाकृष्णन[5] और स्वामी निखिलानन्द[6] इसका अर्थ सोद्देश्य करते हैं।

यस्मात्स एव स्रष्टा तस्मिन्नेव लयस्तस्मात्स एव सर्वं न ततो विभक्तमस्तीत्याह मन्त्रत्रयेण—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः ॥२॥

---

१. शब्दशक्तिरपीश्वरेच्छारूपैव। पृ० १६६।

२. अवर्णो वर्ण्यतेऽनेनेति वर्णो नाम तेन शून्यः। वर्ण्यत इति वर्णं रूपं तेन शून्यो नामरूपशून्य इत्यर्थः। पृ० २१२।

३. पूर्वं स्वेक्षणेन नामरूपव्याकरणं कृत्वा पश्चाद्वहिर्व्याकरोतीत्यर्थः। पृ० २१२

४. सेक्रिड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, पृ० २४६, वाल्यूम् १५, भाग २।

५. दि प्रिंसिपल उपनिषद्स्, पृ० ७३१।

६. दि उपनिषद्स्, सेकिण्ड सिलेक्सन। पृ० १०४।

शांकरभाष्यम्—

तदेवेति । तदेवात्मतत्त्वमग्निः । तदादित्यः । एवशब्दः सर्वत्र संबध्यते-तदेव शुक्रमिति दर्शनात् । शेषमृजु । तदेव शुक्रं शुद्धमन्यदपि दीप्तिमन्नक्षत्रादि । तद्ब्रह्म हिरण्यगर्भात्मा तदापः स प्रजापतिर्विराडात्मा ॥२॥

वही अग्नि, वही सूर्य, वही वायु, वही चन्द्रमा, वही शुक्र, वही ब्रह्म, वही जल (तथा) वही प्रजापति है ।

प्रकृत मन्त्र में परमात्मा की विश्वरूपता को दर्शाया गया है । मध्य-युगीन साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि प्रत्येक सम्प्रदाय के अनुयायियों का प्रयत्न होता था कि उनके इष्ट देव को सभी देवताओं के ऊपर स्थापित किया जाए और उसका संबंध सभी दार्शनिक विचारधाराओं के साथ जोड़ दिया जाए ।

यहाँ पर परमात्मा को अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, ब्रह्म, जल और प्रजापति कहा गया है । वह परमात्मा अपनी माया से सोपाधिक सृष्टि का निर्माण करके और उनमें अग्नि आदि के रूप में प्रविष्ट होकर सर्वत्र स्थित रहता है । **विज्ञानभगवान**[1] तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का कहना है कि यहाँ पर अग्नि वाक्समष्टि है अर्थात् सभी प्राणियों की वाणी ही अग्नि रूप में स्थित है; आदित्य चक्षुसमष्टि है अर्थात् आदित्य सभी का चक्षु है ; वायु प्राणसमष्टि है अर्थात् वायु सभी का प्राण है; चन्द्रमा मनसमष्टि है अर्थात् चन्द्रमा सभी का मन है; **विज्ञान-भगवान** शुक्र के स्थान पर **शुक्ल** पाठ मानते हैं; शुक्ल स्थूलसमष्टि है; ब्रह्म हिरण्य-गर्भ अर्थात् सभी का अन्तःकरण है; आपः जिह्वेन्द्रियसमष्टि है । इस प्रकार अग्नि आदि का समष्टि रूप में ग्रहण उपलक्षण मात्र है ।

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥३॥

शांकरभाष्यम्—

स्पष्टो मन्त्रार्थः ॥३॥

तू स्त्री (है); तू पुरुष (है); तू कुमार अथवा कुमारी है; तू वृद्ध होकर लाठी से चलता है (तथा) तू ही जन्म लेकर अनेक रूप धारण करता है ।

यहाँ पर भी परमात्मा को चेतन सृष्टि में सभी के साथ जोड़ दिया गया है । सभी में उस परमेश्वर का रूप दिखाई पड़ता है । स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी और वृद्ध—सभी उस परमात्मा में विद्यमान हैं । वह परमात्मा अपनी माया शक्ति से

---

१. विवरण, पृ० २१३ ।

नाना प्रकार के सोपाधिक जीवों का निर्माण करता है, जैसे महाकाश घटाकाश में विद्यमान रहता है और जैसे चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल में प्रतिभासित होता है। स्त्री तथा पुरुष आदि के भेद स्वरूप में परमात्मा ही स्थित है। हे परमात्मा ! आप ही अपनी माया शक्ति से नाना रूप धारण करके जन्म ग्रहण करते दिखलाई पड़ते हैं।

नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्ष-
स्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे
यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥४॥

शांकरभाष्यम्—

नील इति। त्वमेवेति सर्वत्र संबध्यते। त्वमेव नीलः पतङ्गो भ्रमरः, पतनाद्गच्छतीति पतङ्गः। हरितो लोहिताक्षः शुकादिनिकृष्टाः प्राणिनस्त्वमेवेत्यर्थः। तडिद्गर्भो मेघ ऋतवः समुद्राः। यस्मात्त्वमेव सर्वस्यात्मभूतस्तस्मादनादिस्त्वमेव त्वमेवाद्यन्तशून्यः, विभुत्वेन व्यापकत्वेन यतो जातानि भुवनानि विश्वानि ॥४॥

(तू ही) नीलवर्ण पतङ्ग, हरे रंग वाला (तथा) लाल नेत्रों वाला (पक्षी) मेघ, ऋतु (और) समुद्र है। तू अनादि है और व्यापक रूप से स्थित है (और) तुम से ही सारे लोक उत्पन्न हुए हैं।

जैसा पहले ही बतलाया जा चुका है, उस सर्वशक्तिमान परमेश्वर का रूप सर्वत्र दिखाई देता है। पिछले मन्त्र में यह संकेत किया गया था कि परमात्मा स्त्री, पुरुष, बाल और वृद्ध सभी में विद्यमान है। उसी परमात्मा का रूप नीलवर्ण वाले पतंगे में, हरे रंगवाले तथा लाल नेत्रों वाले पक्षी में विद्यमान है। बादलों में भी उसी का रूप दिखाई देता है। छः ऋतुओं में भी उसी परमात्मा का रूप विद्यमान है और उसी प्रकार सात समुद्रों में भी उसी परमात्मा का रूप देखा जा सकता है। परमात्मा जिस प्रकार चेतन सृष्टि में स्थित है वह उसी प्रकार जड़ सृष्टि में भी विद्यमान है। परमात्मा अनादि और अनन्त है और व्यापक रूप से सर्वत्र स्थित है। सारे लोक और सारे प्राणी उसी परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं। यही भाव **तैत्तिरीयोपनिषद्** ३.१. में भी व्यक्त किया गया है : **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति'''यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति।**

इदानीं तेजोऽबन्नलक्षणां प्रकृतिं छान्दोग्योपनिषत्प्रसिद्धामजारूपकल्पनया दर्शयति—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥५॥

शांकरभाष्यम्—

अजामेकामिति । अजां प्रकृतिं लोहितशुक्लकृष्णां तेजोऽबन्नलक्षणां बह्वीः प्रजाः सृजमानामुत्पादयन्तीं ध्यानयोगानुगतदृष्टां देवात्मशक्तिं वा सरूपाः समानाकारा अजो ह्येको विज्ञानात्मानादिकामकर्मविनाशितः स्वयमात्मानं मन्यमानो जुषमाणः सेवमानोऽनुशेते भजते । अन्य आचार्योपदेशप्रकाशावसादिताविद्यान्धकारो जहाति त्यजति ॥५॥

अपने ही समान बहुत सी प्रजा उत्पन्न करने वाली लोहित, शुक्ल तथा कृष्ण वर्ण वाली अजा-प्रकृति को (एक) अजन्मा (जीव) आसक्त होता हुआ भोगता है (और) दूसरा (मुक्त पुरुष) भोगी हुई प्रकृति को छोड़ देता है ।

यहाँ पर बन्धन से युक्त तथा बन्धन से मुक्त पुरुष पर विचार किया गया है । इनमें से एक अजा प्रकृति का उपभोग करता है तथा दूसरा उसको भुक्तभोगा मानकर उसका परित्याग कर देता है । अजा प्रकृति लोहित, शुक्ल और कृष्ण गुणों से युक्त है । वह अपने अनुकूल प्रजा को उत्पन्न करती है । उसको अजा इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह मूलप्रकृति है और जन्मादि से रहित है । वह अजा प्रकृति जल का निर्माण करके और उस अवस्था को प्राप्त होकर शुक्ल वर्ण वाली कहलाती है । अन्न शब्द द्वारा अभिहित होने वाली पृथिवी का निर्माण करके उस अवस्था को प्राप्त करके वह कृष्ण या लोहित वर्ण वाली कहलाती है ऐसा **विज्ञानभगवान**[1] का विचार है । वह अपने अनुकूल प्रजा को उत्पन्न करती है क्योंकि वह ही कारण रूप में पहले न विद्यमान रहने वाले पदार्थों को जन्म देती है अर्थात् वह सभी पदार्थों की मूल प्रकृति है । **विज्ञानभगवान** यह मानते हैं कि सत्व, रजस् और तमस् ही वास्तव में लोहित, शुक्ल, तथा कृष्ण वर्ण हैं । वह अजा प्रकृति सत्व, रजस् तथा तमस् आदि गुणों से युक्त प्रजा को उत्पन्न करती है । वह अजा प्रकृति स्वयं अपने-आप में कालत्रय में भी अजन्मा है । पहले अध्याय में भी यह बतलाया जा चुका है कि अजा प्रकृति जीवात्मा (भोक्ता) को भोग्यार्थ की ओर ले जाती है **(अजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता । श्वेताश्वतरोपनिषद् १.९)** । जीवात्मा स्वभावतः संसार के

---

१. विवरण, पृ० २१४ ।

प्रति आकृष्ट होता है और प्रपञ्च रूप में स्थित यह अजा प्रकृति उसको संसार के प्रति आकृष्ट करने में एक महत्त्वपूर्ण सहायक तत्त्व सिद्ध होती है। वास्तव में दार्शनिक पद्धति में प्रपञ्च के लिए अजा शब्द का प्रयोग अपने आप में प्रतीकात्मक है। क्योंकि वह स्वयं अजा है अतः उससे उत्पन्न होने वाले जीवात्मा का नाम भी सादृश्य के कारण अज पड़ गया। वह अजन्मा जीव अनादि काल से चली आ रही अविद्या, काम तथा कर्म के पाशों में बँध कर प्रकृति में विद्यमान शब्दादि विषयों के प्रति आकृष्ट होता है अर्थात् प्रकृति के विषयों द्वारा अनुसेवित होता हुआ उनका उपभोग करता है। इसके विपरीत एक और अजन्मा (परमात्मा) भी है जिसको बन्धन से मुक्त पुरुष कहा जा सकता है। वह अजन्मा (परमात्मा) स्वयं अविकारी, असंग, सुखसंविन्मात्र रूप होता हुआ संसार के सभी धर्मों का अर्थात् अन्नमयादि पाँच कोशों का परित्याग करता हुआ जल में प्रविष्ट हुए चन्द्रमा के समान उसके धर्मों को अपने धर्म के रूप में स्वीकार करता हुआ अपने सम्यग्ज्ञान द्वारा अजा प्रकृति अर्थात् प्रपञ्च का परित्याग कर देता है।[1]

सांख्यवादी इस मन्त्र को अपने मत को पुष्ट करने के लिए श्रुति के रूप में उद्धृत करते हैं जब कि वेदान्तवादी इस बात का खण्डन करते हैं कि इस मन्त्र में प्रयुक्त अजा शब्द का सांख्य से कोई संबंध है। वेदान्तवादी अजा शब्द के माया तथा ज्योति आदि अर्थ करते हैं। सांख्यवादियों का यह भी विचार है कि इस मन्त्र में प्रयुक्त लोहित, शुक्ल तथा कृष्ण सत्त्व, रजस् तथा तमस् के द्योतक हैं।

ब्रह्मसूत्र के टीकाकारों द्वारा भी इस बात का खण्डन किया गया है कि इस मन्त्र में प्रयुक्त अजा शब्द का सांख्य से कोई संबंध है। **ब्रह्मसूत्र** (१.४.८) पर टीका करते हुए **शंकराचार्य** का कहना है कि **'चमसवदविशेषात्'**—इस प्रसंग में **चमस** का प्रयोग सामान्य रूप से यज्ञ में प्रयोग में आने वाले चमचे के लिए किया गया है; इसका कोई अन्य अर्थ नहीं है। इसी प्रकार यहाँ पर **अजा** शब्द बकरी के अर्थ में रूढ़ हो गया है, यह बात ठीक है परन्तु प्रकरण को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि यहाँ प्रकरण विद्या का है न कि बकरी का। वह अजा प्रकृति तीन गुणों से युक्त होकर अपने अनुकूल प्रजा को उत्पन्न करती है। उनमें से एक अज पुरुष अजा प्रकृति द्वारा सेवित होता हुआ अपनी अविद्या के कारण **'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं मूढ हूँ'** ऐसा अनुभव करता है। दूसरा अज पुरुष अपने विवेक उत्पन्न होने के कारण भुक्तभोगा अजा प्रकृति का परित्याग कर देता है। यहाँ पर **शंकराचार्य** (ब्रह्मसूत्र)[2] का कहना है कि सांख्यवादियों द्वारा इस मन्त्र का उद्धरण

---

१. (i) विवरण, पृ० २१४; (ii) उपनिषद्ब्रह्मयोगी। पृ० २०६।

२. नानेन मन्त्रेण श्रुतिमत्त्वं सांख्यवादस्य शक्यमाश्रयितुम्। न ह्ययं मन्त्रः स्वातन्त्र्येण कञ्चिदपि वादं समर्थयितुमुत्सहते (शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र १.४.८)।

देने से इसका श्रुतित्व सिद्ध नहीं हो जाता क्योंकि यह मन्त्र स्वतन्त्र रूप से किसी मत को स्थापित करने में समर्थ नहीं है। इसी प्रकार से **'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्व-बुध्नः'** (बृ० उ० २.२.३) यहाँ पर **"चमस"** का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से अभिप्रेत नहीं है। इसी तरह **अजा** का प्रयोग भी प्रधान के लिए यहाँ पर अभिप्रेत नहीं है।

अन्यत्र **शंकराचार्य**[1] ने **अजा** का अर्थ ज्योति किया है : **परमेश्वरादुत्पन्ना ज्योतिष्प्रमुखा तेजोऽबन्नलक्षणा चतुर्विधस्य भूतग्रामस्य प्रकृतिभूतेयमजा प्रतिपत्तव्या। भूतत्रयलक्षणैवेयमजा विज्ञेया न गुणत्रयलक्षणा** (शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र १.४.६)। इसके साथ-साथ शंकराचार्य यह भी मानते हैं कि अजा प्रकृति वास्तव में सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुणों से युक्त भी नहीं है।

रामानुजाचार्य तथा **वल्लभाचार्य** भी **अजा** का अर्थ **ज्योति** करते हैं। **रामानुजाचार्य**[2] कहते हैं कि वह **अजा** प्रकृति प्रलय के समय में ब्रह्म रूप में बिना किसी नाम के अर्थात् अव्यक्तादि नामों से व्यवहृत होती हुई सूक्ष्मरूप में स्थित रहती है। वही अजा प्रकृति सृष्टि के समय में सत्त्वादि गुणों से युक्त होकर व्यक्तादि शब्दों से व्यवहृत होती हुई तेज तथा अन्न के रूप में परिणत होकर लोहित, शुक्ल तथा कृष्ण रूप में विद्यमान रहती है। अतः कारण अवस्था में अजा है और कार्यावस्था में ज्योति है और इसमें कोई विरोध भी नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सांख्यवादी इस मन्त्र को अपने मत की पुष्टि में श्रुति के रूप में उद्धृत करते हैं जब कि **शंकराचार्य** तथा उनके अनुयायी टीकाकार यह कह कर इस मत का खण्डन करते हैं कि यह मन्त्र स्वतन्त्र रूप से किसी भी मत का प्रतिपादन नहीं करता अपितु यहाँ **अजा**[3] का प्रयोग केवल माया के अर्थ में किया गया है।

---

१. (i) ज्योतिरूपक्रमेव एषा अजा (शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र. १.४.६)।
(ii) अजाशब्देन ज्योतिरेवोच्यते (वल्लभाचार्य, ब्रह्मसूत्र १.४.६)।

२. सा हि प्रलयवेलायां ब्रह्मतापन्ना अविभक्तनामरूपा अव्यक्तादिशब्दवाच्या सूक्ष्मरूपेणावतिष्ठते। सृष्टिवेलायां तु उद्भूतसत्त्वादिगुणा विभक्तनामरूपा व्यक्तादिशब्दवाच्या तेजोऽबन्नरूपेण च परिणता लोहितशुक्लकृष्णाकारा चावतिष्ठते। अतः कारणावस्था अजा, कार्यावस्था च ज्योतिरूपक्रमेति न विरोधः।

—रामानुजाचार्य, ब्रह्मसूत्र १.४.१०।

३. मैक्समूलर का कहना है कि यह मानना गलत होगा कि यहाँ पर अजा तथा अज का प्रयोग बकरी तथा बकरे के अर्थ में हुआ है। परन्तु ऋषि ने इनका प्रयोग यहाँ पर लाक्षणिक रूप में किया है।
—सेक्रिड बुक्स आफ् दि ईस्ट, पृ० २५०, वाल्यूम १५, भाग २।

इदानीं सूत्रभूतौ परमार्थवस्त्ववधारणार्थमुपन्यस्येते—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥६॥

शांकरभाष्यम् —

द्वेति। द्वा द्वौ विज्ञानपरमात्मानौ। सुपर्णा सुपर्णौ शोभनपतनौ शोभनगमनौ सुपर्णौ पक्षिसामान्याद्वा सुपर्णौ सयुजौ सर्वदा संयुक्तौ। सखाया सखायौ समानाख्यानौ समानाभिव्यक्तिकारणौ। एवं भूतौ सन्तौ समानमेकं वृक्षं वृक्षमिवोच्छेदसामान्याद्वृक्षं शरीरं परिषस्वजाते परिष्वक्तवन्तौ समाश्रितवन्तावेतौ।

तयोरन्योऽविद्याकामवासनाश्रयलिङ्गोपाधिर्विज्ञानात्मा पिप्पलं कर्मफलं सुखदुःखलक्षणं स्वादु अनेकविचित्रवेदनास्वादरूपमत्ति उपभुङ्क्तेऽविवेकतः। अनश्नन्नन्यो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः परमेश्वरोऽभिचाकशीति सर्वमपि पश्यन्नास्ते ॥६॥

सदा साथ रहने वाले, दो सखा (रूपी) दो पक्षी एक ही वृक्ष (शरीर) पर आश्रित हैं। उन दोनों में से एक उस (पीपल वृक्ष के) स्वादु फलों को खाता है और दूसरा बिना खाए केवल देखता रहता है।

दो समान धर्मा पक्षी शरीर रूपी वृक्ष पर आश्रित हैं। गीता में भी जगत् की तुलना एक अश्वत्थ वृक्ष से की गई है और जीवात्मा तथा परमात्मा का वर्णन दो पक्षियों के रूप में किया गया है। सभी टीकाकार इस बात में एक मत हैं कि ये दो पक्षी विज्ञानात्मा (जीवात्मा) तथा परमात्मा ही हैं। जीवात्मा तथा परमात्मा घटाकाश तथा महाकाश के समान हैं। दोनों ही बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से एक दूसरे से संयुक्त हैं। सूर्य आकाश में विद्यमान रहता है और उसका प्रतिबिम्ब जल में प्रतिभासित होता है; सूर्य जल में प्रतिबिम्बित होने वाले अपने रूप से कदापि कलुषित नहीं होता है। आकाश में स्थित सूर्य अपने निर्मल प्रकाश द्वारा सारे संसार को प्रकाश प्रदान करता है; उसी प्रकार परमात्मा भी संसार के धर्मों से प्रभावित नहीं होता; यह तो जीवात्मा ही है जो वृक्ष रूपी फल को निरन्तर खाता रहता है। जीवात्मा फल का उपभोग करता है इसलिए ही उसको भोक्ता कहा गया है। परमात्मा सर्वज्ञ रूप में विद्यमान रहता है और जीवात्मा अल्पज्ञ नामक उपाधि से युक्त रहता है। जीव माया तथा अहंकार के कारण कर्म करता हुआ सुख-दुःखलक्षण वाले विविध विषय आस्वाद वाले स्वादु फल को खाता है। इसके विपरीत अविकारी परमात्मा स्वयं बिम्बस्थानीय होता हुआ जीवात्मा को कर्म-फल का आस्वादन करते हुए देखता है। वह सभी प्रकार के संसार के धर्मों से

शून्य, स्वयंप्रकाश तथा अखण्डज्ञप्तिमात्र रूप में स्थित रहता है। जिस प्रकार आकाश में स्थित सूर्य जल के धर्मों से शून्य रहता है और अपने प्रकाश द्वारा सब को प्रकाशित करता है उसी प्रकार वह परमात्मा सभी प्राणियों में विद्यमान रहता हुआ जीवोपाधि से युक्त होकर कर्म फल का उपभोग करता है।

तत्रैवं सति—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो-
ऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-
मस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥७॥

शांकरभाष्यम्—

समाने वृक्षे शरीरे पुरुषो भोक्ताविद्याकामकर्मफलरागादिगुरुभाराक्रान्तोऽलाबुरिव समुद्रजले निमग्नो निश्चयेन देहात्मभावमापन्नः 'अयमेवाहममुष्य पुत्रोऽस्य नप्ता कृशः स्थूलो गुणवान्निर्गुणः सुखी दुःखी' इत्येवंप्रत्ययो नान्योऽस्त्यस्मादिति जायते म्रियते संयुज्यते च संबन्धिबान्धवैः। अतोऽनीशया 'न कस्यचित्समर्थोऽहं पुत्रो मम नष्टो मृता मे भार्या किं मे जीवितेन' इत्येवं दीनभावोऽनीशा तया शोचति सन्तप्यते मुह्यमानोऽनेकैरनर्थप्रकारैरविवेकतया विचित्रतामापद्यमानः।

स एव प्रेततिर्यङ्मनुष्यादियोनिष्वापतन्दुःखमापन्नः कदाचिदनेकजन्मशुद्धधर्मसञ्चयननिमित्तं केनचित्परमकारुणिकेन दर्शितयोगमार्गोऽहिंसासत्यब्रह्मचर्यसर्वत्यागसमाहितात्मा सन् शमादिसम्पन्नो जुष्टं सेवितमनेकधोगमार्गैर्यदा यस्मिन्काले पश्यति ध्यायमानोऽन्यं वृक्षोपाधिलक्षणाद्विलक्षणमसंसारिणमशनायाद्यसंस्पृष्टं सर्वान्तरं परमात्मानमीशम् 'अयमहमस्मीत्यात्मा सर्वस्य समः सर्वभूतान्तरस्थो नेतरोऽविद्याजनितोपाधिपरिच्छिन्नो मायात्मा' इति विभूतिं महिमानमिति जगद्रूपमस्यैव महिमा परमेश्वरस्येति यदैवं पश्यति तदा वीतशोको भवति। सर्वस्माच्छोकसागराद्विमुच्यते कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः। अथवा जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्यैव प्रत्यगात्मनो महिमानम् इति तदा वीतशोको भवति ॥७॥

एक ही वृक्ष पर रहने वाला जीवात्मा (देहात्मभाव) में डूब कर असमर्थ होने के कारण मोहित होता हुआ शोक करता है। जब वह सेवित (तथा) अपने से भिन्न परमेश्वर को (और) उसकी महिमा को देखता है (तब) (वह) शोकरहित हो जाता है।

विज्ञानात्मा (जीव) तथा परमात्मा इस शरीर-रूपी वृक्ष पर निमग्न रहते हैं। इन दोनों में से जीवात्मा असमर्थ तथा परमात्मा समर्थ है। यह वृक्ष वास्तव में पुण्य तथा पाप के फलों को भोगने के लिए आयतन है। ऐसे शरीर पर जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों ही सखा-भाव से विद्यमान रहते हैं। चन्द्रमा आकाश में रहता है और उसका प्रतिबिम्ब जल में दिखलाई पड़ता है परन्तु चन्द्रमा जल के धर्मों से कदापि प्रभावित नहीं होता। उसी प्रकार परमात्मा भी इस शरीर में स्थित रहता है और शरीर के धर्मों से प्रभावित नहीं होता है। यह केवल जीवात्मा ही है जो यह अनुभव करता है कि मैं "सुखी हूँ; मैं दुःखी हूँ।" जीवात्मा के लिए मोह रूपी अविद्या के द्वारा सच्चिदानन्द परमात्मा का रूप उद्घाटित नहीं हो पाता। परमार्थतः जीवात्मा स्वयं संसार के सभी धर्मों से युक्त होता हुआ अपनी अविद्या के प्रभाव द्वारा मैं ही कर्ता हूँ; मैं ही भोक्ता हूँ, मैं ही सुखी हूँ तथा मैं ही दुःखी हूँ—इस प्रकार की भावना ही अनीश्वरता की भावना है और जीवात्मा इस प्रकार की भावना से संसार में निरन्तर मोहित होता रहता है। जब वह जीवात्मा सनकादि योगियों द्वारा सेवित परमात्मा और उसकी महिमा का दर्शन करता है तब वह संसार के सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जाता है। ईश्वर महाकाशीय आदित्य बिम्ब के समान है। जब घटाकाश स्थित आदित्य-बिम्ब उस महाकाशीय आदित्य-बिम्ब की महिमा को देखता है तब वह सर्वथा शोकरहित हो जाता है।

इदानीं तद्विदां कृतार्थतां दर्शयति—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति
य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥८॥

शांकरभाष्यम्—

ऋच इति। वेदत्रयवेद्येऽक्षरे परमे व्योमन्व्योम्न्याकाशकल्पे यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः आश्रितास्तिष्ठन्ति। यस्तं परमात्मानं न वेद किमृचा करिष्यति? य इत्तद्विदुस्त इमे समासते कृतार्थास्तिष्ठन्ति ॥८॥

जिसमें सभी देवगण अधिष्ठित हैं, उस अविनाशी परम व्योम में (तीनों) वेद स्थित हैं; जो (मनुष्य) उसको नहीं जानता वह वेदों से क्या कर लेगा? परन्तु जो उसे जानते हैं वे कृतकृत्य हो जाते हैं।

सभी दार्शनिक पद्धतियों में एक ऐसे तत्त्व की कल्पना की गई है जिसको सर्वोपरि कहा जा सकता है। संसार के सभी धर्म और दर्शन चिरन्तन काल से

उसकी खोज में लगे हुए हैं। जहाँ तक उसके नाम का प्रश्न है सभी धर्मों और दर्शनों में उसका कोई-न-कोई नाम निर्धारित भी किया गया है। भारतीय परम्परा में उसके अनेक नाम उपलब्ध होते हैं: ईश्वर, परमात्मा, पुरुष, ब्रह्म आदि। भिन्न-भिन्न दार्शनिक पद्धतियों में उस परम तत्त्व के लिए नाना प्रकार के नामों की परिकल्पना की गई है। इस उपनिषद् में भी उस तत्त्व की ओर संकेत किया गया है। यहाँ उसको रुद्र-शिवात्मक परम तत्त्व बतलाया गया है। जिस प्रकार अन्य उपनिषदों तथा वेदान्त में उस परम तत्त्व को ब्रह्म कहा गया है उसी प्रकार यहाँ उस ब्रह्म को तो स्वीकार किया गया है परन्तु इसके अतिरिक्त यहाँ उस ब्रह्म का वह परम तत्त्व वाला रूप रुद्र-शिव के साथ जोड़ दिया गया है; अर्थात् ब्रह्म का रुद्र-शिव का वैयक्तिक रूप का प्रतिपादन करना ही संभवतः इस उपनिषद् का परम लक्ष्य है। उपनिषत्कार का कहना है कि समस्त देवगण उसी परमात्मा में अधिष्ठित हैं, समस्त देवगण ही नहीं अपितु वेदत्रय भी उसी में प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार की भावना इस उपनिषद् में अन्यत्र भी व्यक्त की गई है: **यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः। हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु** ३.४ ; **यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम्। तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति,** ४.११; **यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनिश्च सर्वाः। ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्** ५.२। **विज्ञानभगवान**[1] का कहना है कि इस मन्त्र में प्रयुक्त **ऋचा** शब्द सभी वेदों का द्योतक है। परम व्योम उस परमात्मा की उत्कृष्टता का वाचक है। उपनिषत्कार का यहाँ मन्तव्य यह है कि यदि कोई व्यक्ति वेदत्रय का ज्ञान प्राप्त कर लेता है परन्तु उस परमात्मा को नहीं जान पाता है तो उसका सारा ज्ञान निरर्थक है; इस प्रकार के ज्ञान का क्या लाभ हो सकता है यदि उसके द्वारा परमात्मा को जाना न जा सके। संभवतः ऋषि का तात्पर्य है कि समस्त ज्ञान निरर्थक है, यदि वह परमात्मा का रूप दिखलाने में असमर्थ है। इसके विपरीत जो महान् पुरुष उस परमात्मा को जान पाते हैं वे वास्तव में कृतार्थ हो जाते हैं। **विज्ञानभगवान**[2] कहते हैं कि ऋग्वेदादि के अध्ययन से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा, वह तो पाठ मात्र का सार ग्रहण ही होगा। जो उस परमात्मा को जान लेते हैं ऋग्वेदादि में प्रतिपादित अनुष्ठानों का संपादन करके उनका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। ऋग्वेद में वर्णित अनुष्ठानों का संपादन करने से ब्रह्म से तादात्म्य भाव प्राप्त होता है। पूर्वोक्त प्रकार से अनुष्ठानों का संपादन करने से **"अहं ब्रह्मास्मि"** भाव

---

१. ऋच इति सर्ववेदोपलक्षणम्। पृ० २१७।

२. स किमृचा स्वाधीनैस्तैर्ऋगादिभिः किं प्रयोजनं करिष्यति न किमपि प्रयोजन करिष्यतीत्यर्थः। पाठमात्रसारत्वात्। पृ० २१७।

का भी साक्षात्कार होता है और इस प्रकार से निरतिशय आनन्द की प्राप्ति होती है।[1]

इदानीं तस्यैवाक्षरस्य मायोपाधिकं जगत्स्रष्टृत्वं तन्निमित्तत्वं च भेदेन दर्शयति—

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि
भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेत-
त्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥९॥

शांकरभाष्यम्—

छन्दांसीति। छन्दांसि ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गिरसाख्या वेदाः। देवयज्ञादयो यूपसंबन्धरहितविहितक्रियाश्च यज्ञाः। ज्योतिष्टोमादयः क्रतवः। व्रतानि चान्द्रायणादीनि। भूतमतीतम्। भव्यं भविष्यत्। यदिति तयोर्मध्यवर्ति वर्तमानं सूचयति। चशब्दः समुच्चयार्थः। यज्ञादिसाध्ये कर्मणि प्रपञ्चे भूतादौ च वेदा एव मानमित्येतत्। यच्छब्दः सर्वत्र संबध्यते। अस्मात्प्रकृतादक्षराद्ब्रह्मणः पूर्वोक्तं सर्वमुत्पद्यत इति संबन्धः।

अविकारिब्रह्मणः कथं प्रपञ्चोपादानत्वम्? इत्यत आह—मायीति कूटस्थस्यापि स्वशक्तिवशात्सर्वस्रष्टृत्वमुपपन्नमित्येतत्। विश्वं पूर्वोक्तप्रपञ्चं सृजत उत्पादयति। स्वमायया कल्पिते तस्मिन्भूतादिप्रपञ्चे माययैवान्य इव संनिरुद्धः संबद्धोऽविद्यावशगो भूत्वा संसारसमुद्रे भ्रमतीत्यर्थः ॥९॥

छन्द, यज्ञ, क्रतु, व्रत, भूत, वर्तमान तथा (जो कुछ) वेद वर्णन करते हैं वह मायावी (ईश्वर) इस अक्षर से उत्पन्न करता है और उस (प्रपञ्च) में दूसरा माया से बँधा हुआ है।

पिछले मन्त्र में यह बतलाया गया था कि सभी देवता गण उस परमात्मा में स्थित हैं। न केवल देवता गण ही अपितु संसार का सारा ज्ञान-विज्ञान उसी परमात्मा से निस्सृत होता है। छन्द, यज्ञ, क्रतु, तथा व्रत—ये सभी उस परमात्मा

---

१. (i) य ऋगाद्युपदिष्टकर्मोपासनान्यनुष्ठाय तैः शुद्धान्तःकरणाः साधनचतुष्टयसंपन्ना ऋगाद्युपदिष्टश्रवणाद्यनुष्ठायेदित्थं शास्त्रोपदिष्टप्रकारं तत्तच्छब्दवाच्यं परं ब्रह्माऽऽत्मत्वेन विदुरपरोक्षीकुर्युस्त इमे समासते ते पूर्वोक्तसाधनानुष्ठायिन इमेऽहं ब्रह्मास्मीत्यपरोक्षीकृतैकत्वाः सन्तः समासते।

(ii) उपनिषद्ब्रह्मयोगी, पृ० २०८।

से उत्पन्न हुए हैं। **ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद** तथा **सामवेद** छन्द की कोटि में आते हैं। दान से युक्त देवताओं की पूजा को यज्ञ कहा जाता है। ज्योतिष्टोमादि क्रतु कहलाते हैं अथवा ऐसे यज्ञ जिनमें यूप आदि का प्रयोग नहीं होता—उनसे संबंधित क्रियाओं को क्रतु कहा जाता है, ऐसा **विज्ञानभगवान**[1] का मत है; परन्तु **शंकराचार्य** कहते हैं कि जिनमें यूप का सम्बन्ध नहीं होता वे देवयज्ञादि विहित कर्म यज्ञ कहलाते हैं। **नारायण**[2] का सुझाव है कि जहाँ पर सोम का प्रयोग नहीं होता है उनको यज्ञ कहा जाता है और जहाँ पर सोम का प्रयोग होता है उनको क्रतु कहा जाता है। चान्द्रायण आदि को व्रत कहा जाता है। भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान और जिस बात का वर्णन वेद करते हैं—ये सभी उस परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं। **विज्ञानभगवान** कहते हैं कि यह जो वेद यज्ञादि साधन, क्रतु, व्रत, भूत, भविष्यत् का वर्णन किया गया है तथा जिसका वर्णन वेदों द्वारा किया जाता है—ये सभी प्रपञ्च के द्योतक हैं। यह सब कुछ अक्षर ब्रह्म से संपादित होता है।[3] कूटस्थ ब्रह्म जगत् का उपादान कारण कैसे हो सकता है? कूटस्थ ब्रह्म भी अपनी माया उपाधि के कारण अर्थात् माया शक्ति के कारण सबका स्रष्टा कहा जा सकता है। उस कार्यकारणात्मक प्रपञ्च में वह परमात्मा अपनी माया के कारण बँधा हुआ है। प्रकृत मन्त्र में प्रयुक्त **अन्य** शब्द का संकेत संभवतः जीवात्मा की ओर है तथा यहाँ पर **अन्य** का प्रयोग परमात्माके संदर्भ में तुलनात्मक रूप में हुआ है। ऋषि यह बतलाना चाहता है कि जिस प्रकार जीवात्मा संसार में अपनी अविद्या के कारण बँधा रहता है उसी प्रकार परमात्मा भी अपनी माया से संसार से जुड़ा रहता है। जहाँ तक इन दोनों के अन्तर का प्रश्न है तो यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि इनमें से एक जीवात्मा संसार में कर्मफल का उपभोग करता है तथा दूसरा फल का उपभोग नहीं करता अपितु जीवात्मा को फल का उपभोग करते हुए मात्र दर्शन करता है। जीवात्मा तथा परमात्मा में यही तात्त्विक अन्तर है।

———

पूर्वोक्तायाः प्रकृतेर्मायात्वं तदधिष्ठातृसच्चिदानन्दरूपब्रह्मणस्तदुपाधिवशान्मायित्वं च चिद्रूपस्य मायावशात्कल्पितावयवभूतैः कार्यकरणसंघातैः सर्वं भूरादीदं

---

१. विवरण, पृ० २१८।

२. यज्ञाः पाकसंस्था असोमकाः क्रतवः ससोमकाः। पृ० १६७।

३. अस्मात्प्रकृतादक्षराख्याद् ब्रह्मण एतत्पूर्वोक्तं सर्वं समुत्पद्यत इत्यध्याहृत्य योजयितव्यम्। पृ० २१८।

परिदृश्यमानं जगद्व्याप्तं चेत्याह—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥१०॥

शांकरभाष्यम्—

माया त्विति । जगत्प्रकृतित्वेनाधस्तात्सर्वत्र प्रतिपादिता प्रकृतिर्मायैवेति विद्याद्विजानीयात् । तुशब्दोऽवधारणार्थः । महांश्चासावीश्वरश्चेति महेश्वरस्तं मायिनं मायायाः सत्तास्फूर्त्यादिप्रदं तथाधिष्ठानत्वेन प्रेरयितारमेव विद्यादिति पूर्वेण संबन्धः । तस्य प्रकृतस्य परमेश्वरस्य रज्ज्वाद्यधिष्ठानेषु कल्पितसर्पादिस्थानीयैः मायिकैः स्वावयवैरध्यासद्वारेदं भूरादि सर्वं व्याप्तमेव पूर्णमित्येतत् तुशब्दस्त्ववधारणार्थः ॥१०॥

माया को तो प्रकृति (तथा) मायावी को महेश्वर जानना चाहिए। उसी के अवयवभूत से यह सारा संसार व्याप्त है।

प्रकृत मन्त्र में माया और मायावी के सम्बन्ध की ओर संकेत किया गया है। यह मन्त्र इस उपनिषद् की विचारधारा को स्पष्ट करने वाले मन्त्रों में से है। संसार की प्रकृति को माया समझना चाहिए और महेश्वर ही मायावी है। उस मायावी परमेश्वर के अवयवों से ही यह सारा संसार ओत-प्रोत है। महेश्वर माया का अधिष्ठाता है। यह संसार उस मायावी से उसके परिणाम स्वरूप में उत्पन्न नहीं हुआ है अपितु वह इस संसार में विवर्त रूप में व्याप्त है, ऐसा उपनिषद्ब्रह्मयोगी का मत है। अतः मुमुक्षु लोगों को चाहिए कि वे उस परमात्मा को ही जानने का प्रयत्न करें जिससे यह संसार विवर्त रूप में उत्पन्न हुआ है।

ब्रह्मसूत्र के टीकाकारों द्वारा भी अपने मत को पुष्ट करने के लिए इस मन्त्र को उद्धृत किया गया है। **भास्कराचार्य** (**ब्रह्मसूत्र** २.१.१४) का कहना है कि माया प्रकृति नहीं हो सकती; '**अजामेकाम्**' में जो **अजा** का प्रयोग है वह वास्तव में प्रकृति का द्योतक है; उस को माया कहा जा सकता है। **अजा** प्रकृति तेज, अप तथा अन्न के लक्षणों से युक्त होने के कारण प्रकृति कहलाती है। प्रकृति वही है जो अपने विकारों को प्रकट करती है। गीता (७.४) में भी ऐसी प्रकृति की ओर संकेत किया गया है। **रामानुजाचार्य**[1] (**ब्रह्मसूत्र**१.१.१) का कहना है कि **माया** शब्द का प्रयोग सदैव मिथ्या के अर्थ में नहीं होता है। **श्रीकंठ** (**ब्रह्मसूत्र** १.२.६ तथा १.४.२७) का कहना है कि '**मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्**' इस मन्त्र से माया और पुरुष का उपादानत्व सिद्ध हो जाता है परन्तु वास्तव में वे दोनों उपादान कारण नहीं हैं; जैसे घट के निर्माण में कुलाल के अपने पृथक् शरीर होने के कारण मृत्पिण्ड उपादान कारण होता है, उसी प्रकार परमेश्वर से पृथक् न होने के कारण माया उपादान कारण

१. न हि सर्वत्र मायाशब्दो मिथ्याविषयः (रामानुजाचार्य, ब्रह्मसूत्र १.१.१)।

नहीं है क्योंकि परमेश्वर के माया रूप से ही जगत् की उत्पत्ति होती है अतः इसमें कोई विरोध नहीं है। वह परमात्मा अपनी चिद् शक्ति द्वारा भोक्तृदशा में पुरुष रूप में सारे संसार में व्यक्त होता है। श्रीकर भाष्य (ब्रह्मसूत्र १.१.१) में यह संकेत किया गया है कि ब्रह्मा, विष्णु तथा कालरुद्र के रूप में वह परमात्मा सारे संसार में व्याप्त है। विज्ञानभिक्षु (ब्रह्मसूत्र१.१.५) कहते हैं कि माया शब्द का प्रयोग यहाँ अविद्या के अर्थ में उचित नहीं है। वे कहते हैं कि एक ही वाक्य में माया तथा मायावी के प्रयोग से अनौचित्य दोष आ जाता है; अर्थात् माया क्या है और कौन माया से बँधा हुआ है। अविद्या के कारण शुक्ति में रजत का भ्रम तथा ऐन्द्रिजालिक के संदर्भ में माया शब्द का प्रयोग व्यामोहक-शक्ति का द्योतक है। कार्य और कारण में अभेद होने के कारण तद्रचित पदार्थों में माया शब्द का प्रयोग देखा गया है। अतः माया शब्द प्रकृति का वाचक है न कि अविद्या का।

मायातत्कार्यादियोनेः कूटस्थस्य स्ववशतोऽधिष्ठातृत्वं वियदादिकार्याणामुत्पत्तिहेतुत्वं तेनैव सर्वाधिष्ठातृत्वोपलक्षितसच्चिदानन्दवपुषा ब्रह्मास्मीत्येकत्वज्ञानान्मुक्ति च दर्शयति—

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको
यस्मिन्निदं स च वि चैति सर्वम् ।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं
निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥११॥

शांकरभाष्यम्—

यो योनिमिति। यो मायाविनिर्मुक्तानन्दैकघनः परमेश्वरो योनिं योनिमिति वीप्सया मूलप्रकृतिर्मायावान्तरप्रकृतयो वियदादयश्च सूचितास्ताः प्रकृतीः सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेनाधिष्ठाय तिष्ठत्यन्तर्यामिरूपेण। "य आकाशे तिष्ठन्" (बृ० उ० ३।७।१२) इत्यादिश्रुतेः। एकोऽद्वितीयः। यस्मिन्मायाद्यधिष्ठातरीश्वर इदं सर्वं जगदुपसंहारकाले समेति संगच्छते लयं प्राप्नोति। पुनः सृष्टिकाले विविधतामेत्याकाशादिरूपेण नाना भवति तं प्रकृतमधिष्ठातारमीशानं नियन्तारं वरदं मोक्षप्रदं देवं द्योतनात्मकमीड्यं वेदादिभिः स्तुत्यं निचाय्य निश्चयेन ब्रह्माहमस्मीत्यपरोक्षीकृत्य सुषुप्त्यादौ प्रत्यक्षीकृता या सर्वोपरमलक्षणा सर्वजनीना शान्तिः सेदमा दर्शिता तां प्रसिद्धामिमां शान्ति सर्वदुःखविनिर्मुक्तसुखैकतानस्वरूपां मुक्तिमिति यावत्। गुरूपदिष्टतत्त्वमादिवाक्यजन्यसुतत्त्वज्ञानेनाविद्यातत्कार्यादिविभ्रमायानिवृत्त्यात्यन्तं पुनरावृत्तिरहितं यथा भवति तथेत्येकरसो भवतीत्येतत् ॥११॥

जो अकेला ही प्रत्येक योनि का अधिष्ठाता है, जिसमें यह समस्त संसार विलीन हो जाता है और (फिर) विविध रूप धारण करता है; उस नियन्ता वरदायक, स्तवनीय देव को जान कर (मनुष्य) परा कोटि की शान्ति को प्राप्त करता है।

सभी दार्शनिक पद्धतियों में सृष्टि तथा जीवात्मा की उत्पत्ति के भिन्न-भिन्न कारण बतलाये गए हैं। यहाँ पर सभी जीवात्माओं का कारण ब्रह्म बतलाया गया है। ब्रह्म को प्रत्येक योनि का अधिष्ठाता कहा गया है। **विज्ञानभगवान योनि** का अर्थ कारण करते हैं। **विज्ञानभगवान योनिम्** के स्थान पर **अयोनिम्** पाठ भी मानते हैं। उनका कहना है कि वह ब्रह्म स्वयं योनिहीन है। **विज्ञान-भगवान**[1] **योनि** को प्रकृति से जोड़ते हैं और इसका अर्थ मूल प्रकृति भी करते हैं। वही परमात्मा देव, तिर्यक्, नर, स्थावर तथा जंगम—इन सब का भी मूल कारण है। वह परमात्मा ही संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का एक मात्र कारण है। इस उपनिषद् में रुद्र-शिवात्मक ब्रह्म को जानने के लिए विशेष बल दिया गया है। उसके लिए इस उपनिषद् में नाना प्रकार के अभिधानों का प्रयोग भी किया गया है। ईशान भी उन्हीं अभिधानों में से एक है। ईशान को यहाँ पर वरदायक तथा स्तवनीय कहा गया है। शैवोपनिषदों में **पंचब्रह्मोपनिषद्**[2] नाम का एक उपनिषद् है जिसमें ईशान, जो शिव के रूपों में से एक है, के रूप तथा उसकी पूजा पद्धति का विशेष वर्णन दिया गया है। महा-भारत[3] तथा पुराणों[4] में भी ईशान का वर्णन उपलब्ध होता है। पाशुपत सूत्रों[5] में भी ईशान का वर्णन मिलता है। कुछ लोगों का मत है कि ईशान देव वास्तव में आर्येतर जाति का देवता है और इसका संबंध मुख्यतया तान्त्रिक पूजा-पद्धति से है। यह मत थोड़ा सा न्यायसंगत प्रतीत होता है क्योंकि रुद्र के विषय में तो स्पष्ट ही यह स्वीकार किया जाता है कि उसका संबंध भारतवर्ष की मूल निवासी आर्येतर जाति से है। हो सकता है कि परवर्ती काल में रुद्र का कोई अन्य संप्रदाय रहा हो और आगे चलकर इसका संबंध तान्त्रिक विचारधारा से स्थापित हो गया

---

१. अथवाऽयोनिं योनिं योनिः कारणमस्या न विद्यत इत्ययोनिं प्रकृतिमनादिसिद्धां प्रकृतिमिति यावत्। यो मूलप्रकृतिमधितिष्ठति। पृ० २१९।

२. पञ्चब्रह्मोपनिषद् १९-२१, पृ० ८२-८३।
(ईशान के विस्तृत वर्णन के लिए देखिए लेखक की पुस्तक: Studies in the Sectarian Upaniṣads, pp.45.46).

३. महाभारत: (i) द्रोण पर्व, ७४.७५, (ii) कर्ण पर्व २४.७०, (iii) सौप्तिक पर्व, ७.२।

४. लिंग पुराण, अध्याय १६।

५. पाशुपत सूत्र ५.४२, पृ० १४४।

हो। इस उपनिषद् में ईशान देव का वर्णन रुद्र के सम्प्रदाय के अन्तर्गत किया गया है।

सूत्रात्मानं प्रत्यविरतमभिमुखतया वीक्षन्तं परमेश्वरं प्रत्यखण्डिततत्त्वज्ञान-सिद्धये प्रार्थनामाह—

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥१२॥

शांकरभाष्यम्—

यो देवानामिति । पूर्वमेवास्य प्रतिपादितोऽर्थः ॥१२॥

सर्वज्ञ रुद्र देवताओं की उत्पत्ति तथा ऐश्वर्य का कारण (और) सारे संसार का स्वामी है, जिसने हिरण्यगर्भ को उत्पन्न होते देखा था, वह हमें शुभ बुद्धि से संयुक्त करे।

यह मन्त्र इसी उपनिषद् में पहले (३.४) आ चुका है अतः इसकी विस्तृत व्याख्या वहाँ देखें। वहाँ पर (३.४) यह कहा गया है कि उस रुद्रदेव ने हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया था परन्तु यहाँ पर उसके स्थान में कह दिया गया है कि रुद्र देवता ने हिरण्यगर्भ को उत्पन्न होते हुए देखा था। तीसरे अध्याय के चौथे मन्त्र तथा इस मन्त्र में केवल इतना ही अन्तर है॥१२॥

ब्रह्मप्रमुखानां देवानां स्वामितामाकाशादिलोकाश्रयत्वं प्रमात्रादीनां नियन्तृत्वं बुद्धिशुद्धिद्वारा सम्यग्ज्ञानसिद्ध्यर्थं मुमुक्षुभिः प्रार्थ्यमानत्वं च परमेश्वरस्याह—

यो देवानामधिपो यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः । य ईशे
अस्य द्विपदश्चतुष्पदः । कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१३॥

शांकरभाष्यम्—

यो देवानामधिप इति । यः प्रकृतः परमेश्वरो देवानां ब्रह्मादीनामधिपः स्वामी यस्मिन् परमेश्वरे सर्वकारणे भूरादयो लोका अधिश्रिता अध्युपरि श्रिता अध्यस्ता इति यावत् । यः प्रकृतः परमेश्वरोऽस्य द्विपदो मनुष्यादेश्चतुष्पदः पश्वादेश्चेश ईष्टे । तकारलोपश्छान्दसः । कस्मै कायानन्दरूपाय । स्मैभावोऽपि च्छान्दसः । देवाय द्योतनात्मने तस्मै हविषा चरुपुरोडाशादिद्रव्येण विधेम परिचरेम । विधेः परिचरण-कर्मण एतद्रूपम् ॥१३॥

जो देवताओं का अधिपति है, जिसमें (समस्त) लोक आश्रित हैं; जो इस (लोक के) द्विपद तथा चतुष्पद (समस्त जीव समुदाय) का शासन करता है (उस) आनन्द स्वरूप देवता की हम आहुति द्वारा पूजा करें।

परमात्मा सभी देवताओं का अधिपति है; यह बात ठीक इसी प्रकार से पहले भी कही जा चुकी है। सारे लोक भी उसी परमात्मा में आश्रित हैं। इतना ही नहीं लोक निवासी पुरुष तथा पशु वर्ग का भी वह नियन्ता है। वह परमात्मा ही मनुष्यों तथा पशुओं का नियमन करता है। कहने का आशय है कि समस्त प्राणि-वर्ग तथा समस्त पशु एवं पक्षी वर्ग पर उस परमात्मा का नियन्त्रण है। सभी उसी की इच्छा मात्र से अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। इस मन्त्र के अन्तिम पद में यह प्रश्न उठाया गया है कि हम कौन से देवता को आहुति प्रदान करें। इस मन्त्र में प्रयुक्त **कस्मै** शब्द को लेकर भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों में पर्याप्त मत-भेद है। भारतीय विद्वान् यहाँ यह मानते हैं कि **क** शब्द प्रश्न वाचक संज्ञा न होकर प्रजापति का द्योतक है। **शंकराचार्य**[1] यह मानते हैं कि **क** शब्द आनन्द का द्योतक है। **सायणाचार्य**[2] ने यह स्वीकार किया है कि **क** शब्द वास्तव में प्रजापति के लिए प्रयुक्त हुआ है या जो सृष्टि रचने की कामना करता है। **शंकरानन्द कस्मै** का अर्थ एक के लिए करते हैं। **नारायण** यह मानते हैं कि **क** ब्रह्म को अभिव्यक्त करता है। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी शंकराचार्य** के समान ही **क** का अर्थ आनन्द करते हैं। मैक्स मूलर[3] **कस्मै** के स्थान पर तस्मै पाठ स्वीकार करते हैं परन्तु इसको साधारण प्रश्न वाचक शब्द मानकर इसकी व्याख्या करते हैं ॥१३॥

परस्यातिसूक्ष्मत्वं जगच्चक्रे साक्षित्वेनावस्थितत्वं निखिलजगत्स्रष्टृत्वं सर्वात्मकत्वं तत्तादात्म्याज्जनानां मुक्तिश्चेत्येतद्बहुशोऽधस्तात्प्रतिपादितं यद्यपि तथापि बुद्धिसौकर्यार्थं पुनरप्याह—

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥१४॥

---

१. कस्मै कायानन्दरूपाय।

२. अत्र किंशब्दोऽनिर्ज्ञातस्वरूपत्वात्प्रजापतौ वर्तते। यद्वा सृष्ट्यर्थं कामयत इति कः।
—सायण, ऋग्वेद, १०.१२१.१।

३. (i) सेक्रिड बुक्स ऑफ् दि ईस्ट, पृ० २५२, वाल्यूम १५, भाग २।
(ii) मैक्स मूलर, हिस्ट्री ऑफ् एन्सीयण्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४३३।

शांकरभाष्यम्—

सूक्ष्मेति । पृथिव्याद्यव्याकृतान्तमुत्तरोत्तरं सूक्ष्मसूक्ष्मतरमपेक्ष्येश्वरस्य तदपेक्षया सूक्ष्मतमत्वमाह—सूक्ष्मातिसूक्ष्ममिति । कलिलस्याविद्यातत्कार्यात्मकदुर्गस्य गहनस्य मध्ये । शेषं व्याख्यातम् ॥१४॥

सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, कलिल के बीच स्थित सारे विश्व की रचना करने वाले, अनेकरूप, संसार को सब ओर से घेरने वाले शिव को जानकर (मनुष्य) परा कोटि की शान्ति को प्राप्त करता है।

प्रकृत मन्त्र परमात्मा की सूक्ष्म से सूक्ष्मतम स्थिति का वर्णन करता है । वही परमात्मा सारे संसार का स्रष्टा है और साथ-साथ वह सारे संसार को घेरे हुए है । उसी परमात्मा का संबंध यहाँ शिव के साथ जोड़ा गया है । उस शिव रूपी परमात्मा को जानकर मनुष्य परा कोटि की शान्ति को प्राप्त करता है । परमात्मा विश्व का स्रष्टा है, यह बात एक व्यापक धरातल पर कही गई है । ऋषि इस बात को और अधिक सूक्ष्म रूप देना चाहता है । परमात्मा को सूक्ष्म से सूक्ष्म बतलाया गया है । पहले भी उस परमात्मा को अणु से अणु कहा गया है (३.२०) । **विज्ञानभगवान** परमात्मा की उस सूक्ष्मता को इस प्रकार समझाते हैं : सबसे अधिक सूक्ष्म पंचमहाभूत हैं (पृथिवी, अग्नि, जल, वायु और आकाश) । इनमें भी उत्तरोत्तर एक दूसरे के प्रति सूक्ष्म हैं; इनमें तन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध) अधिक सूक्ष्म हैं । इनमें भी उत्तरोत्तर एक दूसरे के प्रति सूक्ष्म हैं; महत् उनसे भी सूक्ष्म है; प्रकृत महत् से भी सूक्ष्म है और स्वप्रकाश चिदेकरस परमात्मा महत् से भी सूक्ष्म है । **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का विचार है कि ब्रह्म सुखमय है और बाल के करोड़वें हिस्से के बराबर है । संभवत: ऐसा प्रतीत होता है कि इस मन्त्र में **कलिल** शब्द का प्रयोग भी इसी सूक्ष्म को व्यक्त करने के लिए किया गया है । जहाँ तक **कलिल** शब्द के अर्थ का प्रश्न है, टीकाकारों में इसको लेकर पर्याप्त मतभेद है । **शंकरानन्द**[1] इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं : स्त्री के रज से मिला हुआ पुरुष का वीर्य कुछ काल स्थित रहने पर **'कलिल'** कहा जाता है । अथवा जगत् की रचना करने वाले जल के बुलबुले की पूर्वावस्था को **कलिल** कहा जाता है, अर्थात् फेन युक्त जल । **नारायण कलिल** का अर्थ, "अज्ञान के मध्य में" करते हैं । **विज्ञानभगवान उपनिषद्ब्रह्मयोगी** तथा **शंकराचार्य 'कलिल'** का अर्थ 'अविद्या और उसके कार्य रूप दुर्ग (गहन) स्थान के मध्य में करते हैं । इन सभी अर्थों पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि ऋषि परमात्मा को सृष्टि प्रक्रिया की सूक्ष्मतम अवस्था के साथ जोड़ना चाहता है । संभवत: ऐसी ही विचार-धारा हिरण्यगर्भ नामक सूक्त में भी व्यक्त की गयी है । हिरण्यगर्भ सूक्त को लेकर

---

१. नारीवीर्येण संगतं पौरुषं वीर्यमल्पकालस्थं कलिलमुच्यते, अथवा जगदारम्भकाणामपां बुद्बुदस्य पूर्वावस्था कलिलमुच्यते । पृ० १२२ ।

भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार व्यक्त किए गए हैं। परन्तु इसका वास्तविक संकेत जगत् की रचना करने वाले जल के बुलबुले की पूर्वावस्था की ओर है जैसा कि **शंकरानन्द** ने भी व्यक्त किया है।

परस्य साक्षिरूपेणावस्थितत्वं सनकादिभिर्ब्रह्मादिदेवैश्चाधिकारिपुरुषैरप्यात्मतया प्राप्यत्वं साधनचतुष्टयादियुतास्मदादीनां मोक्षसिद्धिं चाह—

स एव काले भुवनस्य गोप्ता
विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः।
यस्मिन्युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च
तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ॥१५॥

शांकरभाष्यम्—

स एवेति। स एव प्रकृतः कालेऽतीतकल्पेषु जीवसञ्चितकर्मपरिपाकसमये भुवनस्य गोप्ता तत्तत्कर्मानुगुणतया रक्षिता। विश्वाधिपः विश्वस्य स्वामी। सर्वभूतेषु गूढो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु साक्षिमात्रतयावस्थितः। यस्मिंश्चिद्घनानन्दवपुषि परे युक्ता ऐक्यं प्राप्ताः। ते के? ब्रह्मर्षयः सनकादयः। देवता ब्रह्मादयः। तमेवेश्वरं ज्ञात्वा ब्रह्माहमस्मीत्यपरोक्षीकृत्य मृत्युपाशान् मृत्युरविद्या तमोरूपादयश्च पाशाः पाश्यन्त इति पाशास्तान् "मृत्युर्वै तमः" (बृ० उ० १।३।२८) इति श्रुतेः। तत्कार्यकामकर्म छिनत्ति नाशयति। ऐक्यरूपस्वप्रकाशाग्निना दहतीत्यर्थः ॥१५॥

वह ही समय पर लोक का रक्षक, सारे संसार का अधिपति (तथा) सभी प्राणियों में स्थित है, जिसमें ब्रह्मर्षि तथा देवतागण स्थित हैं, उसे इस प्रकार जान कर (मनुष्य) मृत्यु के पाशों को काट लेता है।

वह परमात्मा सभी का पोषक है। वह सब स्वामी है। इस मन्त्र में प्रयुक्त **काले शब्द** को टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न रूप से समझाया है। **शंकराचार्य** तथा **नारायण** इसका अर्थ स्थितिकाल करते हैं। **विज्ञानभगवान** इसका अर्थ पूर्वकल्प करते हैं। **उपनिषद्ब्रह्मयोगी**[1] **काले** के स्थान पर **कालः** पाठ मानकर इसकी इस प्रकार से व्याख्या करते हैं: जो अपने अतिरिक्त सबको आत्मसात् कर लेता है। **शंकराचार्य** इसका अर्थ अतीतकल्प करते हैं। वही परमात्मा सब का स्वामी है। वह सब के हृदय रूपी गुफा में विद्यमान है। इस प्रकार की भावना कई बार दोहराई गई है। यह परमात्मा जीवों के संचित कर्मों के फलोन्मुख होते समय सारे भुवन का गोप्ता अर्थात् विभिन्न जीवों के कर्मानुसार उनका रक्षक है। वह परमात्मा

---

१. स्वातिरिक्तं कलयति स्वात्मसात्करोतीति कालः। काले इति पाठान्तरम्। पृ० २११।

सारे ब्रह्माण्ड में ओत-प्रोत है। सारे देवगण भी उसी में प्रतिष्ठित हैं। सनकादि ब्रह्मर्षि भी उसी में समाहित हैं। ऐसे उस परमात्मा को जानकर ही मनुष्य मृत्यु के पाशों से छुटकारा प्राप्त कर लेता है। मृत्यु वास्तव में तम है (**मृत्युर्वै तमः इति श्रुतेः**); तम नामक मृत्यु के विवर्त से उत्पन्न होने वाली अविद्या, काम तथा कर्म नामक पाशों को मनुष्य एकत्व नामक (परमपद-सायुज्य) ज्ञान की अग्नि से जला देता है।[1]

परस्यात्यन्तातिसूक्ष्मतमत्वमानन्दातिशयवत्त्वं निर्दोषवत्त्वं जीवेष्वतिसूक्ष्मतया स्वरूपेणावस्थितत्वं सर्वस्यापि सत्तादिप्रदत्तया व्यापित्वं तदेकत्वज्ञानात् पाशहानिं च दर्शयति—

घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं
ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१६॥

शांकरभाष्यम्—

घृतादिति। घृतोपरि विद्यमानं मण्डं सारस्तद्वतामतिप्रीतिविषयो यथा तथा मुमुक्षूणामतिसाररूपानन्दप्रदत्वेन निरतिशयप्रीतिविषयः परमात्मा तद्वद् घृतसारवदानन्दरूपेणात्यन्तसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवमित्येतद् व्याख्यातम्। सर्वभूतेषु गूढं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु जन्तुषु कर्मफलभोगसाक्षित्वेन प्रत्यक्षतया वर्तमानमपि तैस्तिरस्कृतेश्वरभावम्। उत्तरार्धं व्याख्यातम् ॥१६॥

घृत के ऊपर स्थित उसके सार भाग के समान अत्यन्त सूक्ष्म, प्राणियों में छिपे हुए, सारे विश्व को घेरने वाले शिव देव को जानकर मनुष्य सभी पाशों से मुक्त हो जाता है।

परमात्मा की सूक्ष्मता के प्रकरण में ऋषि अब एक लौकिक उपमा देकर अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करना चाहता है। हमने पहले देखा था कि परमात्मा सृष्टि प्रक्रिया की सूक्ष्मतम अवस्था से जुड़ा हुआ है। यहाँ पर लौकिक उदाहरण द्वारा परमात्मा की सूक्ष्मता को प्रदर्शित किया गया है। लोक में घी अत्यधिक पुष्ट पदार्थ है और गर्म करने पर उसके ऊपर एक पतली सी झिल्ली आ जाती है। **मण्ड** शब्द का प्रयोग उस झिल्ली के लिए ही किया गया है। **घृत** तथा **मण्ड**—ये दोनों शब्द यहाँ लाक्षणिक रूप में प्रयुक्त हुए हैं। जैसे घी से अधिक सूक्ष्म उसके ऊपर की झिल्ली होती है उसी प्रकार परमात्मा भी सूक्ष्म रूप से सभी

---

१. मृत्युर्वै तम इति श्रुतेर्मूलप्रकृतिभूतं तमआख्यं मृत्युं तद्विवर्तरूपाविद्याकामकर्माख्यान्पाशांश्छिनत्ति नाशयत्येकत्वज्ञानाग्निना दहतीत्यर्थः। (विज्ञानभगवान) पृ० २२१।

प्राणियों में अन्तर्निहित है। विज्ञानभगवान परमात्मा की सूक्ष्मता को इस प्रकार सकझाते हैं[1] : जैसे लोक में घृत के ऊपर वाला भाग (गर्म करने पर उसकी झिल्ली) अत्यधिक प्रीति का विषय होता है, उसी प्रकार मुमुक्षु लोगों के लिए व्यष्टि जगत् में विराट् रूप हिरण्यगर्भ रूप वाला तैजस् उस विराट् से भी सूक्ष्म है। प्रकृति तैजस् से भी सूक्ष्म है। अन्तर्यामी (परमात्मा) प्रकृति से भी सूक्ष्म है। सभी प्रकार के सुखों को तिरस्कृत करने वाला सत्य सुखचिन्मात्र अन्तर्यामी (परमात्मा) से भी सूक्ष्म है। ऐसा शिवस्वरूप परमात्मा अविद्या, काम, कर्म आदि मलों से रहित है और सभी प्राणियों में गूढरूप से विद्यमान है। वही परमात्मा सारे संसार को आवृत करने वाला है। ऐसे देवता को जानकर मनुष्य सभी प्रकार के पाशों से मुक्त हो जाता है। "अहं ब्रह्मास्मीति"—इस प्रकार के ज्ञान का उदय होना ही वास्तविक रूप से सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्ति प्राप्त करना है।

निर्भेदसुखैकतानात्मनो विश्वकृत्त्वं तद्व्यापित्वं संन्यासिभिराप्तव्यमोक्षरूपत्वं चाह—

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१७॥

शांकरभाष्यम्—

एष इति। एष प्रकृतो देवो द्योतनात्मको विश्वकर्मा। महदादि विश्वं कर्म क्रियत इति कर्म मायावेशाद्विश्वरूपं कार्यमस्येति विश्वकर्मा। महांश्चासावात्मेति महात्मा सर्वव्यापीत्यर्थः। सदा सर्वदा जनानां हृदये परमे व्योम्नि हृदाकाशे जलाद्युपाधिषु सूर्यप्रतिबिम्बवन्निविष्टः सम्यक्स्थित इत्येतत्। स एव साक्षिरूपेण हृदा 'हृञ् हरणे' इति स्मरणाद्धरतीति हृत्तेन हृदा नेति नेतीति निषेधोपदेशेन मनीषायं पुरुषार्थोऽयमपुरुषार्थोऽयमात्मायमनात्मेत्येतया विवेकबुद्ध्या मनसा विचारसाध्यैकत्वज्ञानेन चाभिक्लृप्तः प्रकाशितोऽखण्डैकरसत्वेनाभिव्यक्त इत्येतत्।

ये जनाः साधनचतुष्टयसंपन्नाः संन्यासिन एतत्तत्त्वमस्यादिवाक्यप्रतिपाद्यैकरूपमखण्डैकरसमिति यावद्विदुर्ब्रह्माहमस्मीत्यपरोक्षीकुर्युस्ते यथोक्तज्ञानिनोऽमृता भवन्त्यमरणधर्माणः पुनरावृत्तिरहिता भवन्तीत्यर्थः ॥१७॥

यह जगत् का रचयिता, महात्मा (परम) देव हमेशा ही मनुष्यों के हृदय में स्थित है। (वह) ज्ञानाधिपति (तथा) हृदयस्थित मन के द्वारा सुरक्षित है, जो उसको जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं।

परमात्मा समस्त प्राणि-समुदाय के हृदय रूपी गुफा में अन्तर्निहित रहता है, यह बात इस उपनिषद् में कई बार कही जा चुकी है। इतना ही नहीं वह परमात्मा

1. विवरण, पृ० २२२।

समस्त जड़ एवं चेतन पदार्थों में समान रूप से निवास करता है। वह परमात्मा महदादि तत्त्वों का भी कर्ता है, इसलिए विश्वकर्मा कहा जाता है। संसार के समस्त मायादि युक्त कार्य उस परमात्मा के ही हैं इसलिए भी उसको विश्वकर्मा कहा जाता है। वह परमात्मा महाकाशीय रूप से स्थित रहता है इसलिए उसको महात्मा कहा जाता है। वह परमात्मा सदैव ही हृदय रूपी गुफा में उसी प्रकार विद्यमान रहता है जिस प्रकार जल के पात्र में चन्द्रमा। हृदय रूपी गुफा में साक्षी रूप से अर्थात् जीवात्मा रूप में वही निवास करता है। इस मन्त्र के अवशिष्ट भाग की व्याख्या तीसरे अध्याय के तेरहवें मन्त्र में की जा चुकी है। अतः बाकी भाग वहाँ देखें।

कालत्रयेऽपि मुक्तौ प्रलयादौ च परमात्मा कूटस्थ इति निश्चयाज्जाग्रत्स्वप्नयोरपि भ्रान्त्या सद्वितीयत्वावभासः। वस्तुतस्तु सदा निर्भेद एवेत्याह—

यदाऽतमस्तन्न दिवा न रात्रि-
र्न सन्न चासञ्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं
प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी ॥१८॥

शांकरभाष्यम्—

यदेति। यदा यस्यामवस्थायामतमो न तमोऽस्येत्यतमस्तत्त्वमादिवाक्यजन्यज्ञानेन दीपस्थानीयेन दग्धाविद्यातत्कार्यरूपतमस्कत्वात्तदा तत्काले न दिवा दिवारोपोऽपि नास्ति न रात्रिस्तदारोपोऽपि नास्तीति सर्वत्रानुषङ्गः। न सन्सत्तारोपोऽपि। नासन्न भावारोपोऽपि।

तर्हि तत्त्वं सर्वत्र शून्यमेव जातमिति बौद्धमताविशेषमाशङ्क्याह—शिव एवेति। शिव एव शुद्धस्वभावो न शून्यमिति निपातार्थः। केवलोऽविद्याविकल्पशून्यः। तदक्षरं तदुक्तस्वरूपं न क्षरतीत्यक्षरं नित्यं तत्तत्पदलक्ष्यं सवितुरादित्यमण्डलाभिमानिनो वरेण्यं संभजनीयम्। प्रज्ञा गुरूपदेशात्तत्त्वमादिवाक्यजा बुद्धिः, चकार एवकारार्थः, तस्माच्छुद्धत्वहेतोः प्रसृता नित्यविवेकादिमत्सु संन्यासिषु व्याप्ता पूर्णत्वाकारेण पुराणी ब्रह्माणमारभ्य परम्परया प्राप्तानादिसिद्धा ॥१८॥

जब अज्ञान (नहीं रहता), न दिन (और) न रात्रि, न सत् और असत् (भी) (नहीं रहता); एकमात्र शिव (ही) (रहता है) वह अविनाशी (और) सूर्य (देवता) उपास्य है और उसी से सनातन प्रज्ञा उत्पन्न हुई है।

जिस समय अतम (अज्ञान) का अभाव हो जाता है; अर्थात् जिस समय **आवरण** और **विक्षेप** से युक्त **अविद्या** का नाश हो जाता है; जब मनुष्य को यह आभास हो जाता है कि यह सर्प नहीं, रज्जु है तो उसके लिए इस प्रकार के आत्म-

विज्ञान द्वारा आत्म-तत्त्व का उदय होता है। जिस समय विद्या की अवस्था में तम की निवृत्ति सम्यग्ज्ञान द्वारा हो जाती है उस समय न तो दिन की कल्पना रहती है और न रात्रि की कल्पना रह जाती है। उस समय केवल शिव तत्त्व ही अवशिष्ट रह जाता है। वह शिव तत्त्व क्या है? वह अविद्या आदि मलों से रहित है। वह सुखसंविन्मात्र है। विद्या के माध्यम से वह समस्त प्रकार के मलों का विनाश करने वाला है। वह अविनाशी है। वह सूर्य देवता का उपास्य रूप ही है जो समस्त स्थावर एवं जंगम जगत् का उत्पादक है। सभी प्रकार का ज्ञान उस परमात्मा से ही निकला है। अविद्या का विनाश और उसके परिणाम स्वरूप "**अहं ब्रह्मास्मीति**" इस प्रकार के भाव का उदय ही प्रज्ञा है। इस प्रकार का ज्ञान केवल योग्य अधिकारियों से ही प्रसृत होता है।

कूटस्थस्य ब्रह्म ऊर्ध्वादिषु दिक्षु केनाप्यपरिग्राह्यत्वमद्वितीयत्वात्केनाप्यतुलितत्वं कालदिगाद्यनवच्छिन्नयशोरूपत्वं चाह—

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ॥१९॥

शांकरभाष्यम्—

नैनमिति। एनं प्रकृतमपरिच्छिन्नरूपत्वान्निरंशत्वान्निरवयवत्वाच्चोर्ध्वादिषु दिक्षु कश्चिदपि न परिजग्रभत्परिग्रहीतुं न शक्नुयात्। तस्य तस्यैवेश्वरस्याखण्डसुखानुभवत्वादेतादृशद्वितीयाभावात्प्रतिमोपमा नास्ति। यस्य नाम महद्यशो यस्येश्वरस्य नामाभिधानं महद्दिगाद्यनवच्छिन्नं सर्वत्र परिपूर्णं यशः कीर्तिः अस्ति ॥१९॥

इस परमात्मा को कोई न तो ऊपर से, न इधर-उधर से, न मध्य से पकड़ सकता है। जिसका नाम महद्यश है उसकी कोई उपमा नहीं है।

वह परमात्मा सर्वतोभावेन अग्राह्य है। लौकिक व्यवहार में सभी वस्तुओं का ग्रहण किया जा सकता है। उस परमात्मा को ऊपर से पकड़ा नहीं जा सकता, न ही उसको पार्श्व से पकड़ा जा सकता है और न ही उसको बीच से पकड़ा जा सकता है। वह परमात्मा सभी ओर से अग्राह्य है क्योंकि ग्रहण करना अपने आप में इन्द्रिय विषयक व्यापार है और परमात्मा को उपनिषदों में अतीन्द्रिय बतलाया गया है। यह भी कहा गया है कि हमारी सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होने की शक्ति उसी परमात्मा से प्राप्त करती हैं। हमारी इन्द्रियाँ वहाँ जा ही नहीं सकतीं। अतः उस परमात्मा की कोई उपमा भी नहीं है। वह परमात्मा अपरिमित आनन्द तथा अलौकिक सुख का दाता है, अतः इसको किसी भी प्रकार की सीमा में बाँधा नहीं जा सकता। किसी से किसी की उपमा देना अपने-आप में एक सीमा

निर्धारण करना है और परमात्मा निःसीम है। अतः निःसीम को सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। उस परमात्मा का नाम सभी दिशाओं में व्याप्त है। उसका यश दिगादि से अपरिमित है।

ईशस्येन्द्रियाद्यविषयतां प्रत्यग्रूपतां तदैक्यज्ञानान्मोक्षतां चाह—

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एन-
मेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२०॥

शांकरभाष्यम्—

न संदृश इति। अस्य प्रकृतेश्वरस्य रूपं स्वरूपं रूपादिरहितं निर्विशेषं स्वप्रकाशाखण्डसुखानुभवं संदृशे चक्षुरादिग्रहणयोग्यप्रदेशे न तिष्ठति तद्विषयो न भवतीत्येतत्। इन्द्रियागोचरत्वादेवैनं प्रकृतं चक्षुरित्युपलक्षणम्। सर्वेन्द्रियैरपि कश्चन कोऽपि न पश्यति तद्विषयतया ग्रहीतुं न शक्नुयात्। "यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति" (के०उ०१।६) इत्यादिश्रुतेः। हृदा शुद्धबुद्धचै तद्व्याख्यातं मनसेति। हृदिस्थं हृदाकाशगुहास्थं प्रत्यक्तया तत्रावस्थितं ये साधनचतुष्टयादियुक्ताः संन्यासिनो योग्याधिकारिण एनं प्रकृतं ब्रह्मात्मानमेवमित्थं ब्रह्माहमस्मीत्यपरोक्षेण विदुर्जानन्ति तेऽपरोक्षीकरणमहिम्नामृता भवन्त्यमरणधर्माणो भवन्ति मरणहेत्वविद्यादेस्तत्त्वज्ञानाग्निना दग्धत्वात्पुनर्देहान्तरं न भजन्तीत्यर्थः ॥२०॥

इस (परमात्मा) का स्वरूप दृष्टि के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता (और) न कोई इसको नेत्रों से देख सकता है। जो इस हृदयस्थित परमात्मा को विशुद्ध अन्तःकरण से इस प्रकार जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं।

परमात्मा अतीन्द्रिय है यह बात पहले भी इस उपनिषद् में अनेक बार कही जा चुकी है। उसी बात की पुनरुक्ति यहाँ पर की गई है। प्रकृत मन्त्र में दो शब्दों का प्रयोग किया गया है: एक है **संदृश** तथा दूसरा है **चक्षु**। जहाँ तक **संदृश** शब्द का प्रश्न है वह यहाँ पर व्यापक रूप से प्रयुक्त हुआ है। **संदृश** से यहाँ तात्पर्य अंग्रेजी के होराइजन (Horizon) से है अर्थात् जहाँ तक मनुष्य की दृष्टि जा सकती है। परमात्मा को दृष्टि-सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। मनुष्य की दृष्टि सीमित है। परमात्मा स्वयं अपने-आप में निःसीम है, अतः उसे सीमित दृष्टि से देखना असंभव है। जहाँ तक नेत्रों का प्रश्न है उसके विषय में **केनोपनिषद्** (१.६) में कहा गया है:

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

उस परमात्मा को नेत्रों के माध्यम से नहीं देखा जा सकता क्योंकि स्वय नेत्र उसके माध्यम से देखने की शक्ति प्राप्त करते हैं। अतः नेत्र उस परमात्मा को देख नहीं पाते। सभी टीकाकारों का यह कहना है कि यहाँ चक्षु का प्रयोग उपलक्षण है। उस परमात्मा को किसी अन्य इन्द्रिय के माध्यम से भी नहीं देखा जा सकता है। वह परमात्मा तो केवल हृदय में विद्यमान रहता है: **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः** (श्वेत ३.१३)। उस परमात्मा को हृदय द्वारा **नेति-नेति** के माध्यम से ही जाना जा सकता है। साधनचतुष्टयादि सम्पन्न संन्यासी अर्थात् योग्य अधिकारी गण ही हृदय स्थित—हृदयाकाश हृदय रूपी गुफा में "मैं ब्रह्म हूँ; —इस प्रकार की बुद्धि द्वारा उसका साक्षात्कार करके अमर होते हैं। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि यह उपनिषद् परमात्मा के ज्ञान पर अत्यधिक बल देता है। इस बात को इस उपनिषद् में अनेक स्थलों पर दोहराया गया है।

इदानीं तत्प्रसादादेवेष्टप्राप्तिपरिहाराविति मत्वा तमेव परमेश्वरं प्रार्थयते मन्त्रद्वयेन—

अजात इत्येवं कश्चिद्भीरुः प्रपद्यते ।
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् ॥२१॥

शांकरभाष्यम्—

अजात इति। इतिशब्दो हेत्वर्थः। यस्मात्त्वमेवाजातो जन्मजराशनायापिपासाधर्मवर्जितः इतरत्सर्वं विनाशि दुःखान्वितम्, तस्माज्जन्मजरामरणाशनायापिपासाशोकमोहान्वितात्संसाराद्भीरुर्भीतः सन्कश्चिदेक एव परतन्त्रस्त्वामेव शरणं प्रपद्ये। मादृशो वा कश्चित्प्रपद्यत इति प्रथमपुरुषमन्वधीयते। हे रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखमुत्साहजननं ध्यातमाह्लादकरम्। अथवा दक्षिणस्यां दिशि भवं दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यं सर्वदा ॥२१॥

हे रुद्र ! तुम अजन्मा हो ऐसा समझकर कोई भयशील (व्यक्ति ही) आपकी शरण में आता है। आपका जो दाहिना मुख है उसके द्वारा सदैव ही मेरी रक्षा करें।

यह बात पहले स्पष्ट की जा चुकी है कि रुद्र देवता संभवतः आर्येतर जाति (भारत के मूल निवासियों) के आराध्य देव थे। उनका प्रचण्ड एवं क्रोधी स्वभाव था। इस बात पर भी पहले प्रकाश डाला जा चुका है।[1] संभवतः उनका एक दूसरा स्वरूप भी था जिसके द्वारा वे लोगों को अपनी कृपा-दृष्टि प्रदान करते थे। यहाँ पर संभवतः उस स्वरूप की ओर ही संकेत किया जा रहा है। कोई भक्त या ऋषि रुद्र देवता

१. श्वेताश्वतरोपनिषद्, ३.२ (हिन्दी व्याख्या)।

से प्रार्थना कर रहा है कि हे रुद्र देवता आप जन्म, जरा, क्षुधा, पिपासादि धर्मों से रहित हो ऐसा मानकर स्वयं कोई व्यक्ति, जो इन धर्मों से युक्त है, आपकी शरण में आता है क्योंकि वह जानता है कि आपकी कृपा के बिना आत्म-ज्ञान नहीं हो सकता और आत्मज्ञान के बिना मुक्ति असंभव है। अतः वह आपकी शरण में आता है। रुद्र देवता ! आपका दक्षिण मुख मुझे सुरक्षा प्रदान करने में समर्थ है। आपका मुख मुमुक्षु-जनों के संसार के सभी दुःखों को दूर कर सकता है। अतः उनके लिए आपका मुख ही मात्र एक अवलम्बन है और इसलिए ही वे आपकी शरण में आते हैं। आपका मुख सभी प्रकार से मोक्ष प्रदान करने में समर्थ है। अतः मेरा अन्तःकरण विशुद्ध करके और मुझको साधनचतुष्टय सम्पन्न बनाकर मेरे में **"अहं ब्रह्मास्मीति"** —इस प्रकार का भाव उत्पन्न करके संसार के सभी दुःखरूपी बीजों का दहन कर आप मेरी रक्षा करें। सर्वदा ही जिस प्रकार से निरतिशयानन्द उत्पन्न हो सके और संसार के दुःखरूपी बीजों का उपशमन हो सके उसी प्रकार से आप मेरी रक्षा करें।

किञ्च—

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि
मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधी-
र्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे ॥२२॥

शांकरभाष्यम्—

मा न इति। मा रीरिष इति सर्वत्र संबध्यते। मा रीरिषः। रेषणं मरणं विनाशं मा कार्षीः। नोऽस्माकं तोके पुत्रे तनये पौत्रे न आयुषि मा नो गोषु मा नोऽश्वेषु शरीरेषु ये चास्माकं वीरा विक्रामन्तो भृत्यास्तान्हे रुद्र भामितः क्रोधितः सन्मा वधीः। कस्मात् ? यस्माद्धविष्मन्तो हविषा युक्ताः सदम् इत् त्वा हवामहे सदैव रक्षणार्थमाह्वयाम इत्यर्थः ॥२२॥

हे रुद्र ! आप क्रोधित होकर हमारे पुत्र, पौत्र, आयु, गौ और अश्वों की क्षति मत करना (और) हमारे वीरों का वध मत करना। हम हमेशा ही आहुति द्वारा आपका आह्वान करते हैं।

आर्येतर जाति के प्रधान आराध्य रुद्र देवता निश्चित रूप से क्रोधी स्वभाव वाले थे—यह हमने अभी पिछले मन्त्र में देखा। यहाँ पर उनसे प्रार्थना की गई है कि हे रुद्र देव आप हमारे पुत्र, पौत्र, आयु, गौ तथा अश्वों का वध न करो।

रुद्र देवता क्रोधित होकर आर्यों के वीरों की भी हत्या कर दिया करते थे, अतः उनसे प्रार्थना की जा रही है कि आप क्रोधित होकर हमारे वीरों की हत्या न करें। इसके विपरीत हम हमेशा ही आहुति आदि द्वारा आपको बुलाते हैं। **विज्ञानभगवान**[1] का कहना है कि निःश्रेयस के प्राप्त करने के इच्छुक तथा अभ्युदय को प्राप्त करने के इच्छुक—दोनों प्रकार के लोग ही अपने-अपने रूप में रुद्र-देवता से प्रार्थना करते हैं। रुद्र-देवता निःश्रेयस प्रदान करते थे और इसके साथ-साथ अभ्युदय भी प्रदान करते थे।

———

१. अथवा न केवलं निःश्रेयसार्थिभिरेवासौ प्रार्थ्यः किं तर्ह्यभ्युदयार्थिभिरपि। पृ० २२६।

पञ्चमोऽध्यायः

चतुर्थाध्यायशेषमपूर्वार्थं प्रतिपादयितुं पञ्चमोऽध्याय आरभ्यते द्वे अक्षरे इत्यादिना—

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते
विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे ।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या
विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥१॥

शांकरभाष्यम्—

द्वे विद्याविद्ये यस्मिन्नक्षरे ब्रह्मणो हिरण्यगर्भात्परे ब्रह्मपरे परस्मिन्वा ब्रह्मण्यनन्ते देशतः कालतो वस्तुतो वापरिच्छिन्ने । यत्र यस्मिन्द्वे विद्याविद्ये निहिते स्थापिते गूढे अनभिव्यक्ते । विद्याविद्ये विविच्य दर्शयति—क्षरं त्वविद्या क्षरणहेतुः संसृतिकारणम् । अमृतं तु विद्या मोक्षहेतुः । यस्तु पुर्नविद्याविद्ये ईशते नियमयति स ताभ्यामन्यस्तत्साक्षित्वात् ॥१॥

अनन्त पर-ब्रह्म, अविनाशी में दो—विद्या (और) अविद्या अन्तर्निहित हैं। अविद्या क्षर (विनाशी) है और विद्या अमृत है (तथा) जो विद्या (और) अविद्या पर शासन करता है वह (इनसे) भिन्न है।

विद्या और **अविद्या**—ये दोनों शब्द भारतीय दर्शन में काफी व्यापक हैं। लगभग सभी आस्तिक दर्शनों में इनका संकेत किया गया है। जहाँ तक इनके प्रयोग का प्रश्न है उसका भी अपना एक लम्बा इतिहास है। जैसे-जैसे दर्शनों का विकास होता गया वैसे-वैसे इनके अर्थों में भी परिवर्तन आने लगा। सर्वप्रथम इनका उद्धरण **अथर्ववेद** में उपलब्ध होता है जहाँ यह कहा गया है कि **ऋक् साम** तथा **यजुष्** के साथ **विद्या** और **अविद्या** ने ब्रह्म के शरीर में प्रवेश किया। **छान्दोग्योपनिषद्** (१.१.१०) में कहा गया है कि इस अक्षर को जानने वाले तथा न जानने वाले दोनों ही कर्म करते हैं। किन्तु **विद्या** और **अविद्या** दोनों भिन्न-भिन्न फल देने वाली हैं। जो कर्म विद्या, श्रद्धा और योग से युक्त होकर किया जाता है वही प्रबलतर है। इसी प्रकार आगे **बृहदारण्यकोपनिषद्** (४.४.३) में कहा गया है कि यह आत्मा इस शरीर को मारकर—**अविद्या** को प्राप्त कराकर दूसरे का आश्रय लेकर अपना उपसंहार कर लेती है। इन संदर्भों में **अविद्या** का प्रयोग

व्यक्तिगत अज्ञान तथा **विद्या** का प्रयोग वास्तविक ज्ञान के लिए किया गया है। जहाँ तक उपनिषदीय ज्ञान का प्रश्न है वहाँ इनका प्रयोग एक स्वतन्त्र वस्तुपरक दृष्टिकोण से किया गया है। इस सम्बन्ध में सबसे स्पष्ट और सुलझा हुआ मत **ईशोपनिषद्** का प्रतीत होता है जहाँ यह स्पष्ट रूप से घोषित किया गया है कि **अविद्या** की उपासना करने वाले लोग घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और उससे भी बढ़कर घोर अन्धकार में वे लोग प्रवेश करते हैं जो मात्र **विद्या** की उपासना करते हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस संदर्भ में **उपासना** शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है। संभवतः उपनिषत्कार का आशय **व्यावहारिक ज्ञान** (Practice) तथा **सैद्धान्तिक ज्ञान** (Knowledge) से है। यदि हम इस बात को आधुनिक संदर्भ से जोड़कर देखें तो हमें यह अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होती है क्योंकि आजकल के युग में प्रत्येक स्थिति के दो पहलु होते हैं : एक व्यावहारिक तथा दूसरा सैद्धान्तिक। वस्तुस्थिति का वास्तविक ज्ञान तभी होता है जब उसके व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक पक्ष पर सम्यक् विचार हो जाता है। **कठोपनिषद्** (१.२.५) तो इन दोनों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व स्वीकार करते हुए स्पष्ट ही यह उद्घोष करता है कि ये **अविद्या** और **विद्या** नाम से प्रसिद्ध दो साधन पृथक्-पृथक् फल देने वाले हैं और परस्पर अत्यन्त विरुद्ध हैं। संसार में कुछ लोग तो भोगों में आसक्त रहते हैं और कल्याण-साधन में अग्रसर नहीं हो पाते तथा कुछ कल्याण मार्ग का सेवन करते हैं और भोगों का परित्याग करते हैं। **कठोपनिषद्** में यम नचिकेता से कहता है कि नचिकेता ! मैं मानता हूँ कि तुम विद्या के ही अभिलाषी हो क्योंकि बड़े-बड़े भोग भी तुम्हारे मन को प्रलोभित नहीं कर सके। आगे चलकर उसी संदर्भ में **अविद्या** में डूबे हुए मनुष्यों की घोर निन्दा भी की गई है। यहाँ यह विचारणीय है कि **शंकराचार्य** इन शब्दों की व्याख्या किस प्रकार करते हैं। **शंकराचार्य** का मत है कि सामान्यतया **अविद्या** कर्म का वाचक और **विद्या** ज्ञान का वाचक है। इसी संदर्भ में **शंकराचार्य** ने स्पष्ट व्यक्त किया है कि कर्म किसी भी प्रकार का हो सकता है, चाहे वह नित्य हो, या नैमित्तिक या दैनन्दिन हो या यज्ञ संबंधी। उसी प्रकार से ज्ञान किसी भी प्रकार का हो सकता है—चाहे वह देवता विषयक ज्ञान हो, आत्मविषयक ज्ञान हो, या परमात्मा विषयक ज्ञान हो। आगे चलकर **अविद्या** शब्द एक प्रकार से **माया** का पर्याय ही बन गया।

जहाँ तक भारतीय दार्शनिक विचार-धारा का प्रश्न है, न्याय शास्त्र में **अविद्या** को **मिथ्याज्ञान** कहा गया है; वेदान्त में उसको **माया, अविद्या** तथा **अज्ञान** के रूप में स्वीकार किया गया है। योग दर्शन में **अविद्या** को मात्र **अविद्या** नहीं समझा गया है। वहाँ पर **अविद्या** के चार भेदों—अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्म पर विस्तार से विचार किया गया है।[1] यहाँ इस बात पर भी विचार

१. पातञ्जलयोगसूत्र २.५।

कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि क्या **शंकराचार्य** ने **अविद्या** या **माया** को संसार के उपादान कारण के रूप में स्वीकार किया है। **शंकराचार्य** यह तो स्वीकार करते हैं कि ब्रह्म अपनी **अविद्या** के माध्यम से ही अनेकरूप वाला प्रतीत होता है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि **आवरण** तथा **विक्षेप** से युक्त **अविद्या** शक्ति का विकास परवर्ती वेदान्तियों द्वारा ही किया गया है।

क्या **अविद्या** और **माया** पर्यायवाची शब्द हैं? वेदान्ती इस प्रश्न का उत्तर भी अनेक प्रकार से देते हैं। कुछ के अनुसार **अविद्या** तथा **माया** वास्तविक ज्ञान (अनुभूति) के कर्तृमूलक तथा वस्तुमूलक पक्ष का प्रतिनिधित्व करती हैं। कुछ अन्य यह मानते हैं कि **माया** परमात्मा की सृष्टि-रचना करने की शक्ति का नाम है और **अविद्या** का संबंध उपाधियुक्त जीवों के अज्ञान से है। इस प्रसंग में यह भी कहा जाता है कि जब **माया** परमात्मा की उपाधि मानी जाती है तो यह **सत्त्व गुण प्रधान** होती है जब कि **अविद्या** जो जीव की उपाधि है, अशुद्ध सत्त्व गुण से युक्त होती है।

जहाँ तक **विद्या** का प्रश्न है, **मुण्डकोपनिषद्** (१.४.५) ने इस विषय में स्पष्ट कर दिया है कि विद्याओं को दो भागों में बाटा जा सकता है: **परा विद्या** और **अपरा विद्या**। **ऋग्वेद**, **यजुर्वेद**, **सामवेद**, **अथर्ववेद**, **शिक्षा**, **कल्प**, **व्याकरण**, **निरुक्त**, **छन्द** तथा **ज्योतिष**—ये सभी **अपरा विद्या** की कोटि में आते हैं तथा **परा विद्या** उसको कहा गया है जिसके द्वारा अक्षर (अविनाशी ब्रह्म) की प्राप्ति हो सके। वास्तव में **अपरा विद्या** की सीमा में हमारा समस्त ज्ञान आ जाता है। **ऋग्वेद** और **यजुर्वेद** आदि का परिगणन तो उपलक्षण मात्र है। **परा विद्या** से हम उस अक्षर, अविनाशी पर ब्रह्म को प्राप्त कर सकते हैं। संभवतः **अपरा विद्या** तथा **परा विद्या** के माध्यम से उपनिषत्कार यह कहना चाहता है कि परमात्मा को सांसारिक रूप में व्यवहृत होने वाली विद्याओं के माध्यम से प्राप्त नहीं किया जा सकता परन्तु उसकी प्राप्ति के लिए हमें अपने हृदय रूपी गुफा में स्थित अंगुष्ठमात्र पुरुष को ही टटोलना होगा।

क्या **विद्या** और **अविद्या** आपस में उसी प्रकार से विरोधी स्वभाव वाली हैं जिस प्रकार प्रकाश एवं अन्धकार? इस प्रश्न के उत्तर में उपनिषदों में दो प्रकार की विचार धारा पाई जाती है। **कठोपनिषद्** में इन दोनों को विरोधी तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के फल देने वाली बतलाया गया है। दार्शनिक भी इस मत की पुष्टि करते हैं और शांकर वेदान्त में भी ऐसा ही स्वीकार किया गया है। परन्तु **ईशोपनिषद्** में यह कहा गया है कि जो लोग **अविद्या** की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और उससे भी बढ़ कर घोर अन्धकार में वे लोग प्रवेश करते हैं जो मात्र **विद्या** की उपासना करते हैं। इसके बाद उपनिषद् का वचन है: जो व्यक्ति **विद्या** और **अविद्या** को एक साथ जानता है वह **अविद्या** के माध्यम से मृत्यु को जीत कर **विद्या** के माध्यम से अमृतत्व की प्राप्ति करता है। यदि

हम इन दोनों मन्त्रों को सही परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयत्न करें तो यह प्रतीत होता है कि **ईशोपनिषद्** में **कर्म** एवं **ज्ञान** का समन्वित रूप प्रस्तुत किया गया है। यह तथ्य हमारे दैनन्दिन जीवन के व्यवहार से भी पुष्ट होता है। हमारे जीवन में **कर्म** एवं **ज्ञान**—इन दोनों का समान रूप से महत्त्व है। हम न तो केवल **कर्म** करके ही अपना जीवन यापन कर सकते हैं और न ही केवल ज्ञान से हमारा जीवन अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकता है।

अभी हमने **विद्या** और **अविद्या** पर विस्तार से विचार किया। प्रस्तुत मन्त्र में यह बतलाया गया है कि उस अविनाशी पर ब्रह्म में **विद्या** तथा **अविद्या**—ये दोनों ही अन्तर्निहित हैं। **अविद्या** विनाशी है और अमृतत्व ही वास्तव में **विद्या** है। उपनिषत्कार की यह उक्ति लाक्षणिक प्रतीत होती है। संसार में जितने भी कर्मों का सम्पादन किया जाता है वे सभी **अविद्या** की कोटि में आते हैं, अतः वे सारे ही कर्म अपने आप में विनाशी हैं। सारे कर्म संसार में जीवन यापन संबंधी होते हैं अतः वे विनाशी माने गए हैं। ज्ञान के माध्यम से अमृतत्व की प्राप्ति होती है अतः ज्ञान (**विद्या**) को अमृतत्व की संज्ञा दी गई है। **विज्ञानभगवान**[1] तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी**[2] **विद्या** तथा **अविद्या** में इस प्रकार से भेद करते हैं : जिसके माध्यम से नित्य स्वरूप मोक्ष पुरुषार्थ को प्राप्त किया जाय वह **विद्या** है और जो स्वर्ग (अनित्य) के फल को देने वाली है वह **अविद्या** है। प्रकृत मन्त्र में कहा गया है कि परब्रह्म में **विद्या** और **अविद्या** गूढ रूप से अन्तर्निहित हैं। मन्त्र के अन्तिम भाग में कहा गया है कि जो **विद्या** तथा **अविद्या** का नियमन करता है वह तो कोई अन्य विलक्षण पुरुष ही है। यह अन्य एवं विलक्षण पुरुष कौन है? इस बात को समझने से पहले यह जानना आवश्यक है कि क्या **श्वेताश्वतरोपनिषद्** में **ब्रह्म** (पर **ब्रह्म**) तथा **ईश्वर** (**सगुणरूपधारी कोई पुरुषधर्मा ईश्वर रूपी शक्ति**) में किसी प्रकार का अन्तर किया गया है। जहाँ तक **श्वेताश्वतरोपनिषद्** का प्रश्न है यह उपनिषद् ब्रह्म तथा **ईश्वर** में हल्का सा अन्तर मानता है। इसकी दृष्टि में एक तत्त्व **ब्रह्म** है और **ईश्वर** नामक एक अन्य पुरुष है जिसको भक्ति तथा ज्ञान के समन्वित रूप से प्राप्त किया जा सकता है। इसकी प्राप्ति का हल्का सा संकेत इसी उपनिषद् के अन्त में भी कर दिया गया है। यह ईश्वर (**सगुण रूप धारी कोई पुरुष धर्मा ईश्वर रूपी शक्ति**) ही वास्तव में **विद्या** और **अविद्या** का नियमन करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक (ब्रह्म) तो वह है जहाँ पर **विद्या** और **अविद्या** अन्तर्निहित हैं तथा उससे भी बढ़कर (श्रेष्ठ) वह तत्त्व (ईश्वर) है जो इन दोनों का नियमन करता है।

———

१. नित्यमोक्षपुरुषार्थप्रापकं यद्विद्यैव सा स्वर्गाद्यनित्यफलहेतुकर्माविद्या नित्यमोक्षपुरुषार्थहेतुः। पृ० २१६-२१७।

२. या नित्यमोक्षपुरुषार्थप्रापकतया विद्यते सा विद्या। स्वर्गाद्यनित्यफलहेतुकर्माविद्या। पृ० २१५।

कोऽसावित्याह—

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको
विश्वानि रूपाणि योनिश्च सर्वाः
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे
ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥२॥

शांकरभाष्यम्—

यो योनिमिति । यो योनिं योनिं स्थानं स्थानं "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" (बृ० उ० ३।७।३) इत्यादिनोक्तानि पृथिव्यादीन्यधितिष्ठति नियमयति । एकोऽद्वितीयः परमात्मा विश्वानि रोहितादीनि रूपाणि योनीश्च प्रभवस्थानान्यधितिष्ठति । ऋषिं सर्वज्ञमित्यर्थः । कपिलं कनककपिलवर्णं प्रसूतं स्वेनैवोत्पादितं हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वमित्यस्यैव जन्मश्रवणात् । अन्यस्य चाश्रवणात् । उत्तरत्र "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" (श्वे० उ० ६।१८) इति वक्ष्यमाणत्वात् ।

"ततस्तदानीं तु भुवनमस्मिन्प्रवर्तते कपिलं कवीनाम् । स षोडशास्त्रो पुरुषश्च विष्णोर्विराजमात्रं तमसः परस्तात्" इति श्रूयते मुण्डकोपनिषदि । स एव वा कपिलः प्रसिद्धोऽग्रे सृष्टिकाले । यो ज्ञानैर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यैर्बिभर्ति बभार जायमानं च पश्येदपश्यदित्यर्थः ॥२॥

जो (अकेला ही) प्रत्येक योनि तथा सभी रूपों तथा समस्त योनियों का अधिष्ठाता है ; जिसने पहले उत्पन्न हुए कपिल ऋषि को ज्ञान से सम्पन्न किया था तथा उसको जन्म लेते हुए भी देखा था ।

यह बतलाया जा चुका है कि परमात्मा सभी योनियों में व्याप्त है । (श्वेताश्वतरोपनिषद् ४.११) । इस संसार में देव, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि जितनी भी योनियाँ हैं तथा प्रत्येक योनि में जो भिन्न-भिन्न रूप हैं उन सभी का कारण परमात्मा है । उस परमात्मा ने **कपिल ऋषि** को उत्पन्न होते देखा था तथा उसको ज्ञान से सम्पन्न भी किया था । इस मन्त्र में प्रयुक्त **कपिल** शब्द पर टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए हैं । सांख्य दर्शन के अनुयायी इस मन्त्र में सांख्य शास्त्र के प्रणेता आदि महर्षि **कपिल** का नाम आने से उनके द्वारा उपदिष्ट मत की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता को स्थापित करते हैं । **शंकरानन्द**[1] कहते हैं कि **कपिल** का प्रयोग यहाँ पर सांख्य के प्रणेता कपिल ऋषि के लिए नहीं किया गया है अपितु **वासुदेव** का अवतार तथा सगर के पुत्रों को जलाने वाले के लिए प्रयुक्त हुआ है । अथवा **कपिल** शब्द विचित्र वर्ण एवं ज्ञान, क्रिया तथा शक्ति वाले हिरण्यगर्भ का द्योतक है । **नारायण** इस संदर्भ में कहते

१. वासुदेवस्यावतारभूतं सगरपुत्राणां दग्धारं, न तु सांख्यप्रणेता कपिलः । पृ० १२६ ।

हैं कि मनुष्य, पशु एवं पक्षी भिन्न-भिन्न प्रकार का आहार खाते हैं और पृथक्-पृथक् रूप से स्तन-पान करते हैं और इस प्रकार वे सभी जन्म ग्रहण करते हैं अथवा विषयों में प्रवृत्त न होने के कारण **कपिल** मुनि के समान उत्पन्न होते ही ईश्वर इनको ज्ञानेन्द्रियों से युक्त करता है। **विज्ञानभगवान, उपनिषद्ब्रह्मयोगी** तथा **शंकराचार्य**—ये तीनों टीकाकार **कपिल** का अर्थ—सुवर्ण सदृश कपिलवर्ण हिरण्यगर्भ करते हैं। इस सारे संदर्भ का आशय है कि ब्रह्म ने सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ को उत्पन्न होते हुए देखा था और उसको ज्ञान से सम्पन्न भी किया था। हिरण्यगर्भ वास्तव में दार्शनिक पद्धति में सृष्टि-प्रक्रिया की सर्वप्रथम अवस्था का द्योतक है और उस समय उत्पन्न होने वाले प्राणि-समुदाय को ब्रह्मा ने ज्ञान से सम्पन्न किया था अर्थात् उन सभी को ज्ञानेन्द्रियों से युक्त किया था।

किञ्च—

एकैकं जालं बहुधा विकुर्व-
न्नस्मिन्क्षेत्रे संहरत्येष देवः।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः
सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥३॥

शांकरभाष्यम्

एकैकमिति। सुरनरतिर्यगादीनां सृजति जालमेकैकं प्रत्येकं बहुधा नानाप्रकारं विकुर्वन्सृष्टिकालेऽस्मिन्मायात्मके क्षेत्रे संहरत्येष देवः। भूयः पुनर्ये लोकानां पतयो मरीच्यादयस्तान्सृष्ट्वा तथा यथा पूर्वस्मिन्कल्पे सृष्टवानीशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥३॥

यह देव इस संसार में एक-एक जाल को अनेक प्रकार से बनाता हुआ (अन्त में) (उसका) संहार करता है। वह (महात्मा) ईश्वर फिर (सृष्टि के प्रारम्भ में) प्रजापतियों को उत्पन्न करके सब पर आधिपत्य करता है।

यह पहले संकेत किया जा चुका है कि परमात्मा स्वयं वर्णहीन होता हुआ नाना प्रकार के वर्णों की रचना करता है। प्रकृत मन्त्र में यह कहा गया है कि वह परमात्मा एक ही जाल को नाना प्रकार से बनाता है और जब उसकी इच्छा होती है तब इसका संहार भी कर लेता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ **जाल** शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है। **जाल** शब्द को लेकर टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्याएँ की हैं। **शंकरानन्द** का मत है कि **जाल** संसार रूप महान् इन्द्र जाल का द्योतक है; प्रत्येक प्राणी का जिससे संबंध है। **नारायण** के अनुसार कर्मफल

रूप बन्धन ही **जाल** है। **विज्ञानभगवान**[1] तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** के अनुसार समष्टि रूप भूत और इन्द्रियवर्ग रूप **जाल** ही पुरुष रूप मत्स्यों को बाँधने वाला होने से जाल के समान जाल है। **शंकराचार्य** ने इसका कुछ भी अर्थ नहीं किया है। टीकाकारों का कहना है कि परमात्मा सृष्टि के उत्पन्न करने के पश्चात् प्राणि-समुदाय में भिन्न-भिन्न इन्द्रियों को भी उत्पन्न करता है। यहाँ पर **पतयः** शब्द उन इन्द्रियों के तत्तत् अधिष्ठातृ देवताओं के लिए प्रयुक्त हुआ है और **पतयः** में विभक्ति व्यत्यय हुआ है अर्थात् **पतीन्** के स्थान पर **पतयः** का प्रयोग हुआ है। **शंकरानन्द पतयः** को प्रजापति के साथ जोड़ते हैं। **नारायण** यहाँ सूर्यादि देवताओं को इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देव के रूप में मानते हैं। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** **पतयः** का संबंध हिरण्यगर्भ के साथ स्थापित करते हैं। **शंकराचार्य** का मत है कि उस ईश्वर ने जिस प्रकार पूर्वकल्प में मरीचि आदि लोकाध्यक्षों को रचा था उसी प्रकार पुनः इस कल्प में रचकर उन सब पर आधिपत्य कर रखा है। जिस प्रकार परमात्मा सभी देवताओं का अधिपति है उसी प्रकार सभी इन्द्रियों को जन्म देकर परमात्मा उनके तत्तत् अधिष्ठातृ देवताओं पर भी आधिपत्य करता है।

किञ्च—

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्य-
क्प्रकाशयन्भ्राजते यद्वनड्वान्।
एवं स देवो भगवान्वरेण्यो
योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥४॥

शांकरभाष्यम्—

सर्वा दिश इति। सर्वा दिशः प्राच्याद्या ऊर्ध्वमुपरिष्टादधश्चाधस्तात्तिर्यक्पार्श्वदिशश्च प्रकाशयन् स्वात्मचैतन्यज्योतिषा प्रकाशते भ्राजते दीप्यते ज्योतिषा यदु अनड्वान्यद्वदित्यर्थः। यथानड्वानादित्यो जगच्चक्रावभासने युक्त एवं स देवो द्योतनस्वभावो भगवानैश्वर्यादिसमन्वितो वरेण्यो वरणीयः संभजनीयो योनिः कारणं कृत्स्नस्य जगतः स्वभावान् स्वात्मभूतान्पृथ्व्यादीन्भावानथवा कारणस्वभावान्कारणभूतान्पृथिव्यादीनधितिष्ठति नियमयति। एकोऽद्वितीयः परमात्मा ॥४॥

जिस तरह सूर्य समस्त दिशाओं में ऊपर नीचे, इधर-उधर प्रकाशित करता हुआ देदीप्यमान होता है उसी प्रकार से संवरणीय द्योतनस्वभाव वाला भगवान अकेला ही समस्त कारण रूप (अपनी शक्तियों) पर आधिपत्य करता है।

---

१. समष्टिरूपकारणलक्षणानि जालानि पुरुषमत्स्यानां बन्धनत्वाज्जालवज्जालम्। पृ० २२६।

परमात्मा को अन्तर्यामी कहा गया है। वह सर्वत्र सदैव ही व्याप्त रहता है। जिस प्रकार सूर्य सभी दिशाओं को अपने प्रकाश द्वारा देदीप्यमान करता है, परमात्मा भी उसी प्रकार सब में विद्यमान रहता है। वह परमात्मा सब के द्वारा संवरणीय है। वह परमात्मा संसार के सभी पदार्थों में स्थित रहता है अर्थात् नर, देव, पितर, पशु, कीट, पतंग तथा अचेतन पदार्थों में उसका ही रूप देखा जा सकता है। संभवतः इस मन्त्र में प्रयुक्त **"योनिस्वभावान्"** का यही आशय है। वह परमात्मा समग्र ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्रीज्ञान तथा वैराग्य से सम्पन्न है। वही सारे संसार का मूल कारण है। **विज्ञानभगवान**[1] तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का कहना है कि अभ्युदय तथा निःश्रेयस के इच्छुक लोगों द्वारा उस परमात्मा को प्राप्त किया जाना चाहिए। इस मन्त्र के संदर्भ में **नारायण**[2] का सुझाव है कि यहाँ कहीं-कहीं पर जीव का वर्णन होने पर भी पुरुषार्थ के प्रकरण के कारण ये मन्त्र ईश्वर संबंधी ही हैं।

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः
पाच्यांश्च सर्वान्परिणामयेद्यः ।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको
गुणांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः॥५॥

शांकरभाष्यम्—

यच्च स्वभावमिति। यच्च यश्चेति लिङ्गव्यत्ययः। स्वभावं यदग्नेरौष्ण्यं पचति निष्पादयति विश्वस्य जगतो योनिः। पाच्यांश्च पाकयोग्यान्पृथिव्यादीन्परिणामयेद्यः। सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठति नियमयत्येकः। गुणांश्च सत्त्वरजस्तमोरूपान्विनियोजयेद्यः। एवंलक्षणः॥५॥

संसार का कारणभूत (परमात्मा) स्वभाव को पकाता है; जो पाच्यों को परिणत करता है, जो अकेला (ही) इस सारे संसार का नियमन करता है तथा (जो) सभी गुणों का विनियोजन करता है।

परमात्मा सारे संसार का मात्र एक कारण है यह बात पहले कही जा चुकी है। समग्र संसार में नाना प्रकार के पदार्थ उपलब्ध होते हैं और उन सभी पदार्थों का कुछ-न-कुछ स्वभाव भी होता है, जैसे अग्नि का स्वभाव है उष्णता, जल का

---

१. (i) अभ्युदयमोक्षकाङ्क्षिभिः संभजनीयो योनिः। पृ० २२८।
(ii) अभ्युदयनिःश्रेयसकाङ्क्षिभिः वरेण्यः स्वामित्वेन स्वात्मतया वा वरणीयः। (उपनिषद्ब्रह्मयोगी) पृ० २१६।

२. अत्र क्वचिज्जीवलिङ्गसद्भावेऽपि प्रकरणात्पुरुषार्थपर्यवसानाच्चेश्वरपरा एवैते मन्त्राः। पृ० १७०।

स्वभाव है पंकिलता, काष्ठ का स्वभाव है कठोरता आदि आदि । ऋषि यहाँ अपनी सूक्ष्मतम विचारसरणी द्वारा प्रतिपादित करना चाहता है कि भिन्न-भिन्न पदार्थों के स्वभावों को अपनी परिणत अवस्था में पहुँचाने का कार्य भी उसी परमात्मा का है जो सारी सृष्टि का नियन्ता है । इसी प्रकार कुछ पदार्थ पूरी तरह परिपक्व नहीं हो पाते और अभी परिपक्व होने की प्रक्रिया में ही रहते हैं; वह परमात्मा अपनी सत्ता के द्वारा उन सभी पदार्थों को भी परिणत करता है । जैसे पृथिवी में बीजारोपण किया जाता है तो वह बीज नाना प्रकार के तत्त्वों से शक्ति ग्रहण करके अंकुर का रूप धारण करता है उसी प्रकार से परमात्मा भी अपनी शक्ति द्वारा पदार्थों को परिणत करता है : सांख्य दर्शन में तीन गुणों का दिग्दर्शन कराया गया है : सत्त्व, रजस् तथा तमस् । इन तीन गुणों सत्त्व गुण, रजोगुण तथा तमोगुण का कारण भी परमात्मा ही है । **शंकरानन्द** का कहना है कि पदार्थों का स्वभाव कार्य कारण रूप वाला तथा षड्भाव विकारों से युक्त होता है । **नारायण स्वभाव** को वाणी आदि इन्द्रियों के साथ जोड़ते हैं । **विज्ञान-भगवान**[1] तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का मत है कि भूतों के स्वभाव (स्वरूप) को वह परमात्मा अपनी सत्ता की संनिधि मात्र से तत्तत्कार्यरूप बनाता है । **शंकराचार्य** का सुझाव है कि परमात्मा अग्नि आदि के स्वभाव तथा उष्णता आदि का निष्पादन करता है । इस मन्त्र में प्रयुक्त **पाच्यांश्च** शब्द विचारणीय है । इस संदर्भ में **विज्ञान-भगवान**,[2] **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** तथा **शंकराचार्य** का कहना है कि परमात्मा सभी पाकयोग्य पदार्थों को तथा कर्म फलों को अपने तेज तथा सत्ता के कारण परिपक्व करता है । **नारायण पाच्यांश्च** के स्थान पर **प्राच्यान्** पाठ स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि परमात्मा पहले उत्पन्न हुए धर्मों को उनके फलों की ओर उन्मुख करता है । वह परमात्मा ही सभी गुणों के गुणत्व का नियोजन करता है । सत्त्व का सत्त्वगुण, रजस् का रजोगुण तथा तमस् का तमोगुण उसी परमात्मा की सत्ता के कारण ही निष्पन्न होते हैं ।

किञ्च—

तद्वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं
तद्ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् ।
ये पूर्वदेवा ऋषयश्च तद्विदु-
स्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥६॥

---

१. स्वभावं स्वरूपं स्वसत्तासंनिधिमात्रेण पचति तत्तत्कार्यानुगुणं पक्वं करोति । पृ० २२६ ।

२. पाच्यांश्च सर्वान्पाकयोग्यान्कर्मफलादींस्तेजःपाकवशेन तत्तदवस्थारूपेण स्वसत्ता-संनिधिमात्रेण परिणामयेद्यः । पृ० २२६ ।

शांकरभाष्यम्—

तदिति । तत्प्रकृतमात्मस्वरूपं वेदानां गुह्योपनिषदो वेदगुह्योपनिषदस्तासु वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं संवृतम् । ब्रह्मा हिरण्यगर्भो वेदते जानाति ब्रह्मयोनिं वेदप्रमाणकमित्यर्थः । अथवा ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य योनिं वेदस्य वा ये पूर्वदेवा रुद्रादय ऋषयश्च वामदेवादयस्तद्विदुस्ते तन्मयास्तदात्मभूताः सन्तोऽमृता अमरणधर्माणो बभूवुः तथेदानीन्तनोऽपि तमेव विदित्वामृतो भवतीति वाक्यशेषः ॥६॥

वह वेदों के गुह्य भाग उपनिषदों में छिपा हुआ है; ब्रह्म उस ब्रह्मयोनि को जानता है। जो प्राचीन देवता तथा ऋषिगण उसको जानते थे वे तन्मय होकर अमर हो गए थे।

वेद भारतवर्ष के आदिम ग्रन्थ हैं। उनमें एक प्रकार की ज्ञाननिधि संगृहीत है। समग्र सौरमण्डल को देखकर एक साधारण ऋषि कैसे चमत्कृत होता है—उस चमत्कृति का ही अधिकांश वर्णन वेदों में दिया गया है। यह चमत्कृति अपने-आप में अत्यधिक सहज एवं सरल है। वेद में मनुष्य का स्वभाव अपनी सरलतम स्थिति में उपलब्ध होता है। धीरे-धीरे वेदार्थ साधारण जनता के लिए कठिन होता गया और एतदर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार का साहित्य रचा गया। उत्तरोत्तर पर की अपेक्षा पूर्व साहित्य अधिक कठिन समझा जाने लगा। क्रमशः वेदों के बाद ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों की रचना हुई। परवर्ती काल में उपनिषदों का नाम गुह्यविद्या पड़ गया। वेदों का "**एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति**" उपनिषदों में आकर मात्र एक पर ब्रह्म के रूप में परिवर्तित हो गया। प्रकृत मन्त्र उसी तथ्य का प्रतिपादन करता है कि पर ब्रह्म वेदों के गुह्य भाग उपनिषदों में अन्तर्निहित है। पूर्ववर्ती देवताओं तथा सनत्कुमार आदि ऋषियों ने भी उसको जान लिया था और उसको जानने के पश्चात् वे तन्मय हो कर अमृतत्व को प्राप्त कर गए थे। अतः मनुष्यों को भी उस सर्वशक्तिमान, सर्वाधार को जानने का प्रयत्न करना चाहिए।

एतावता तत्पदार्थ उपवर्णितः। अथेदानीं त्वंपदार्थमुपवर्णयितुमुत्तरे मन्त्राः प्रस्तूयन्ते—

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता
कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा
प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ॥७॥

शांकरभाष्यम्—

गुणान्वय इति । गुणैः कर्मज्ञानकृतवासनामयैरन्वयो यस्य सोऽयं गुणान्वयः । फलार्थस्य कर्मणः कर्ता, कृतस्य कर्मफलस्य स एवोपभोक्ता । स विश्वरूपो नानारूपः

कार्यकारणोपचितत्वात् । त्रयः गुणा सत्त्वादयो अस्येति त्रिगुणः । त्रयो देवयानादयो मार्गभेदा अस्येति त्रिवर्त्मा धर्माधर्मज्ञानमार्गभेदा अस्येति वा । प्राणस्य पञ्चवृत्ते रधिपः । संचरति । कैः ? स्वकर्मभिः ।।७।।

जो गुणों से संबद्ध फलकर्म कर्ता (तथा) किए हुए कर्म का उपभोक्ता, वह विश्वरूप, तीन गुणों से युक्त, तीन मार्गों में विचरण करने वाला, प्राणों का स्वामी अपने कर्मों के अनुसार विचरण करने वाला है।

प्रकृत मन्त्र जीव की भिन्न-भिन्न प्रकार की उपाधियों का वर्णन करता है। जैसा पहले ही बतलाया जा चुका है कि इस शरीर रूपी वृक्ष पर दो सखा रूपी पक्षी बैठे हैं जिनमें से एक शरीर रूपी वृक्ष के फल को खाता है और दूसरा मात्र दर्शन करता है। फल खाने वाला जीवात्मा है और न खाने वाला परमात्मा है। जो जीवात्मा फल को खाता है वह गुणों से संबद्ध है और किए गए कर्मों का उपभोक्ता भी है। **गुणान्वयः** शब्द पर टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। **शंकरानन्द गुण** का संबंध शुक्ल तथा नीलादि वर्णों के साथ स्थापित करते हैं। **नारायण गुण** का अर्थ इन्द्रिय करते हैं अर्थात् जिसका इन्द्रियों के साथ अन्वय है। इस सम्बन्ध में **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी गुणान्वय** की एक तर्कपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। गुण से उनका तात्पर्य सत्त्व, रजस् तथा तमस् से है। उनका कहना है कि जीवात्मा इन तीन प्रकार के गुणों से प्रेरित होकर ही कर्म करता है। मनुष्य के सारे क्रिया-कलाप तीन प्रकार के गुणों में विभक्त किए जा सकते हैं। सत्त्व गुण मनुष्य की अच्छाई का द्योतक है; रजोगुण उसकी क्रोधी प्रवृत्तियों का परिचायक है और तमोगुण उसकी हीन कोटि की गतिविधियों का उद्भावक है। जीवात्मा में ये तीनों गुण अपनी साम्य अवस्था में स्थित रहते हैं। जब किसी एक का अनुपात बढ़ जाता है तो मनुष्य उसके अनुसार ही कर्म करने लगता है। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** ने इस तथ्य को **गुणान्वय** की व्याख्या करते हुए स्पष्ट रूप से समझाया है। **विज्ञानभगवान**[1] कहते हैं कि सत्त्वगुण प्रधान प्रवृत्ति वाले मनुष्य में जब थोड़ा सा रजोगुण का भाव मिल जाता है तो वह ज्ञान के माध्यम से मोक्षोपयोगी कर्म करता है। कहने का तात्पर्य है कि यदि यह रजोगुण भाव उसमें न हो तो वह सीधा ही परमपद सायुज्य की प्राप्ति करता है। उसमें थोड़ा सा रजोगुण का भाव आ जाने से वह परम पद सायुज्य न प्राप्त कर मोक्ष के लिए कर्म करता है। उसी प्रकार रजोगुण प्रधान प्रवृत्ति वाले मनुष्य में जब थोड़ा सा सत्त्वगुण का भाव मिल जाता है तो वह स्वर्गादिफल को देने वाले कर्म करता है। तमोगुण

---

१. ईषद्रजोन्वितसत्त्वगुणपरवशः सञ्ज्ञानद्वारेण मोक्षार्थं कर्म करोति । ईषत्सत्त्वान्वितरजोगुणपरवशः सन्स्वर्गादिफलसाधनं कर्म करोति । ईषद्रजोन्वित-तमोगुणपरवशः सन्नरकादिसाधनं कर्म करोति । पृ० २३० ।

प्रधान प्रवृत्ति वाले मनुष्य में जब थोड़ा सा रजोगुण का भाव मिल जाता है तो वह नरक को ले जाने वाले कर्मों को करता है। **शंकराचार्य गुणान्वयः** की इस प्रकार व्याख्या करते हैं जिसका कर्म एवं ज्ञान जनित वासना नामक गुणों के साथ सम्बन्ध है वह जीव गुणान्वय है। इस प्रकार गुणों के अधीन होता हुआ कर्मों के फलों का उपयोग भी करता है। सत्त्व, रजस् तथा तमस्—इन तीन गुणों से युक्त होता हुआ या **विज्ञानभगवान** के अनुसार काम, क्रोध तथा लोभ नामक तीन गुणों से युक्त जीवात्मा कर्मों का सम्पादन करता है। उस जीवात्मा के देवयान, पितृयान तथा तिर्यक् यान नामक तीन भेद हैं या धर्म, अधर्म और ज्ञान रूप तीन मार्ग भेद हैं।[1] मृत्यु के उपरान्त उसकी कर्मानुसार तीन गतियाँ होती हैं अर्थात् शरीर छोड़ने के बाद वह अपने कर्मों के अनुसार इन तीन मार्गों में से किसी एक मार्ग से जाता है। प्राण, अपान, उदान, व्यान तथा समान—इन पाँच प्रकार के प्राणों का स्वामी जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार इस मर्त्यलोक में निरन्तर विचरण करता है। अपने कर्मों के अनुसार जीवात्मा अपना अगला रूप धारण करता है।

———

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः
सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव
आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥८॥

शांकरभाष्यम्—

अङ्गुष्ठमात्र इति। अङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठपरिमितहृदयसुषिरापेक्षया। रवितुल्यरूपो ज्योतिःस्वरूप इत्यर्थः। सङ्कल्पाहङ्कारादिना समन्वितो बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन च जरादिना। उक्तं च "जरामृत्यू शरीरस्य" इति। आराग्रमात्रः प्रतोदाग्रप्रोतलोहकण्टकाग्रमात्रोऽपरोऽपि ज्ञानात्मनात्मा दृष्टोऽवगतः। अपिशब्दः सम्भावनायाम्। अपरोऽप्यौपाधिको जलसूर्य इव जीवात्मा संभावित इत्यर्थः ॥८॥

जो, अङ्गुष्ठ मात्र परिमाण वाला, सूर्य के समान प्रकाशस्वरूप, संकल्प और अहंकार से युक्त है; जो बुद्धि (तथा) आत्मा गुणों से (भी) युक्त है; वह (जीव) आर की नोक के बराबर तथा अन्य (परमात्मा से भिन्न जीवात्मा) भी देखा गया है।

प्रकृत मन्त्र में जीवात्मा की अन्य उपाधियों का वर्णन किया गया है। जीवात्मा इस शरीर में अंगुष्ठ परिमाण के रूप में विद्यमान रहती है। **विज्ञानभगवान**

१. छान्दोग्योपनिषद् (५.१०.२-८) तथा बृहदारण्यकोपनिषद् (६.२.१५-१६) में इन तीन मार्गों का विशद वर्णन दिया गया है।

का कहना है कि यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि जीवात्मा का अपना स्वरूप अँगूठे जितना नहीं है अपितु वह अंगूठे के परिमाण वाले हृदय में स्थित रहती है। वह स्वयं अँगूठे के आकार की नहीं है। वह जीवात्मा सूर्य की भाँति प्रकाशमय (विज्ञानमय) है। वह जीवात्मा दो प्रकार के धर्मों से समन्वित है। संकल्प मन का व्यापार है और अहंकार अन्तःकरण का व्यापार है—जीवात्मा इन दोनों प्रकार के धर्मों से युक्त है। वास्तव में ये उपाधियाँ ही जीवात्मा को परमात्मा से पृथक् करती हैं।[1] **शंकरानन्द बुद्धिगुण** का संबंध मन तथा अन्तः करण से जोड़ते हैं। जहाँ तक आत्मगुण का प्रश्न है वे इसको चिदानन्द शरीर के गुण—अर्थात् प्रकाशत्व, सुखत्व, स्वच्छत्व तथा सूक्ष्मत्वादि गुणों के साथ जोड़ते है। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी बुद्धि** का अर्थ लिंग शरीर करते हैं अर्थात् वह जीवात्मा जो लिंग शरीर में आच्छादित रहती है तथा आत्मगुण का अर्थ उसका अपना परमात्मा का अंश—चिद्गुण करते हैं। **शंकराचार्य** इसका अर्थ शरीर के गुण—जरा, जन्म, आदि शरीर के धर्म करते हैं। सभी टीकाकार **अपर** के स्थान पर **अवर** पाठ मानते हैं। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का कहना है कि वह जीवात्मा केवल अपने ही रूप से प्रकाशित होता है, अन्य किसी के द्वारा नहीं। यह जीवात्मा उस कारण (परमात्मा) उपाधि की अपेक्षा कार्य उपाधि के कारण अवर अर्थात् श्रेष्ठ नहीं है। उस परमात्मा का एक अन्य सूक्ष्मतम रूप भी बतलाया गया है कि वह कोड़े के अग्रभाग में लगा हुआ जो लोहे का काँटा होता है उसकी नोक के बराबर अन्य भी अर्थात् आत्मा भी ज्ञान स्वरूप देखा गया है। संभवतः प्रतीकात्मक रूप से जीवात्मा का यह सूक्ष्म वर्णन किया गया है जहाँ उसकी तुलना कोड़े में लगे हुए काँटें के अग्र भाग से की गई है।

———

पुनरपि दृष्टान्तान्तरेण दर्शयति—

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥९॥

शांकरभाष्यम्—

वालाग्रेति । वालाग्रस्य शतकृत्वो भेदमापादितस्य यो भागस्तस्यापि शतधा कल्पितस्य भागो जीवः स विज्ञेयः । लिङ्गस्यातिसूक्ष्मत्वात् तत्परिमाणे नायं व्यपदिश्यते । स च जीवस्वरूपेण, आनन्त्याय कल्पते स्वतः ।

———

१. संकल्पेत्यादिविशेषणमीश्वरव्यावृत्त्यर्थं तस्यापि क्वचिदङ्गुष्ठमात्रत्वाभिधानात् (शंकरानन्द) । पृ० १२६ ।

बाल के अग्रभाग के सौवें भाग के पुनः सौ भागों में विभक्त किए जाने पर (जो एक) भाग (होता है) उसको जीव समझना चाहिए; वही अनन्त रूप धारण करता है ।

अभी अभी जीवात्मा की तुलना कोड़े में लगे हुए लोहे के काँटे के अग्रभाग से की गई थी । यह उस जीवात्मा का सूक्ष्म परिचय दिया गया था । उपनिषत्कार अब उस जीवात्मा के और अधिक सूक्ष्म स्वरूप को प्रकट करता है । जीवात्मा का इस प्रकार सूक्ष्मतम रूप प्रस्तुत करना वास्तव में हिन्दी के मुहावरे "बाल की खाल निकालना" को चरितार्थ करता है । जीवात्मा का इस प्रकार से सूक्ष्मतम रूप का प्रतिपादन करना प्राचीन मनीषियों की अतिगहन प्रज्ञा का भी सूचक है । सर्व-प्रथम एक बाल की कल्पना कीजिए और इसके पश्चात् उसको सौ भागों में विभक्त कर दीजिए । बाल के सौवें भाग को फिर सौ हिस्सों में बाँट दीजिए । उस प्रकार बाल का जो दस हजारवाँ हिस्सा होगा वह जीवात्मा के बराबर होगा । इतना कहने पर भी शायद जीवात्मा का वह सूक्ष्मतम रूप प्रस्तुत न हो सके जितना कि वह वास्तव में सूक्ष्म है । वास्तव में चेतन वस्तु की सूक्ष्मता को जड़ एवं स्थूल वस्तु की उपमा से उचित प्रकार से समझाया भी नहीं जा सकता । यह तो उसकी सूक्ष्मता का दिग्दर्शन मात्र है । इतनी सूक्ष्म जीवात्मा ही अनन्त रूप धारण कर लेती है यह भी अपने-आप में महान् आश्चर्य की बात है । एक ओर तो वह जीवात्मा इतनी सूक्ष्म है और दूसरी ओर वह नाना प्रकार के रूप धारण करने का सामर्थ्य रखती है । उस जीवात्मा में ऐसी कोई विलक्षण ही शक्ति है जिससे वह सूक्ष्मतम तथा विविध रूप धारण करती है ।

किञ्च—

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते ॥१०॥

शांकरभाष्यम्—

नैव स्त्रीति । स्वतोऽद्वितीयापरोक्षब्रह्मात्मस्वभावत्वान्नैव स्त्री न पुमानेष नैव चायं नपुंसकः । यद्यत्स्त्रीशरीरं पुरुषशरीरं नपुंसकशरीरं वादत्ते तेन तेन स च विज्ञानात्मा रक्ष्यते संरक्ष्यते तत्तद्धर्मानात्मन्यध्यस्याभिमन्यते स्थूलोऽहं कृशोऽहं पुमानहं स्त्र्यहं नपुंसकोऽहमिति ॥१०॥

यह (जीवात्मा) न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है। यह जो-जो शरीर धारण करता है उसी के द्वारा सुरक्षित रहता है ।

जीवात्मा वास्तव में न तो स्त्री है और न नपुंसक है । जीवात्मा जिस-जिस शरीर को धारण करती है उसी के द्वारा उसकी सुरक्षा हो जाती है । **रक्ष्यते** के स्थान पर **युज्यते** पाठ भी मिलता है । **युज्यते** पाठ होने पर अर्थ होगा कि जीवात्मा जो भी शरीर धारण करती है उसी के साथ उसका संबंध स्थापित हो जाता है । मनुष्य अपनी अविद्या, काम तथा कर्म के कारण नाना रूप धारण करता है और इस प्रकार एक मिथ्या अभिमान को प्राप्त होता है कि मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ आदि-आदि । जन्म धारण करने के पश्चात् मनुष्य जब इस प्रकार के रूपों से संबद्ध होता है तो ये सब उसके लिए पाश का कार्य करते हैं ।

केन तर्ह्यसौ शरीराण्यादत्ते ? इत्याह—

सङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहै-
र्ग्रासाम्बुवृष्ट्या चात्मविवृद्धिजन्म ।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही
स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते ।।११।।

शांकरभाष्यम्—

सङ्कल्पनेति । प्रथमं सङ्कल्पनम् । ततः स्पर्शनं त्वगिन्द्रियव्यापारः । ततो दृष्टिविधानम् । ततो मोहः । तैः सङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैः शुभाशुभानि कर्माणि निष्पद्यन्ते । ततः कर्मानुगानि कर्मानुसारीणि स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणान्यनुक्रमेण परिपाकापेक्षया देही मर्त्यः स्थानेषु देवतिर्यङ्मनुष्यादिष्वभिसंप्रपद्यते । तत्र दृष्टान्तमाह—ग्रासाम्बुनोरन्नपानयोरनियतयोर्वृष्टिरासेचनं निदानमात्मनः शरीरस्य वृद्धिर्जायते यथा तद्वदित्यर्थः ।।११।।

सकल्प, स्पर्श, दृष्टि (और) मोह से तथा भोजन, जल (और) वर्षा के जल से शरीर की वृद्धि तथा जन्म होते हैं; जीवात्मा (भिन्न-भिन्न) स्थानों में कर्मों के अनुसार क्रमशः (नाना प्रकार) के रूपों को प्राप्त होती है ।

भिन्न-भिन्न योनियों में जीवात्मा कैसे-कैसे वृद्धि को प्राप्त होता है इस बात को समझाने के लिए ही प्रकृत मन्त्र प्रवृत्त होता है । यह परमात्मा की अजीब ही लीला है कि भिन्न-भिन्न योनियों में एक ही जीवात्मा नाना प्रकार से वृद्धि को प्राप्त होता है । ऐसा कहा जाता है कि कछुए के अंडों का पोषण मात्र संकल्प से होता है; पक्षियों के अण्डों का पोषण मात्र स्पर्श से होता है; मछली का पोषण मात्र आसक्तिपूर्वक दर्शन से होता है; मनुष्य एवं पशु का पोषण मात्र अन्न भक्षण से होता है और वृक्ष लतादि का पोषण मात्र वृष्टि से होता है । संभवतः प्रकृत मन्त्र

का एक तो यह भाव प्रतीत होता है। दूसरा भाव यह हो सकता है कि जब जीवात्मा गर्भ अवस्था में आता है तो अपने माता-पिता के आसक्ति पूर्वक संकल्प, स्पर्श, दर्शन से पुष्टि को प्राप्त होता है और जन्म ग्रहण करने के पश्चात् माता के भोजन तथा जल पान आदि से निर्मित रस द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है। उपनिषत्कार इस प्रकार के लौकिक उदाहरणों द्वारा जीवात्मा का भिन्न-भिन्न योनियों में वृद्धि को प्राप्त होने वाले तथ्य को प्रकट करना चाहता है। परन्तु सभी टीकाकारों ने इस मन्त्र की व्याख्या भिन्न प्रकार से की है। उनमें **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्-ब्रह्मयोगी** का विश्लेषण अतीव तर्कपूर्ण तथा संतोषजनक प्रतीत होता है। **विज्ञान-भगवान**[1] कहते हैं कि मन का व्यापार संकल्पन है। तीर्थों के अतिरिक्त मैं भूतहिंसा न करूँ—इस प्रकार की भावना पुण्य का कारण बनती है तथा मैं तीर्थों के अतिरिक्त अन्यत्र हिंसा करूँ—इस प्रकार की भावना पाप का कारण बनती है। यह सारा क्रिया-कलाप मन के संकल्प द्वारा ही घटित होता है। स्पर्श करना त्वचा नामक इन्द्रिय का व्यापार है। गंगाजल का स्पर्श करना पुण्य का हेतु माना गया है तथा चाण्डाल का स्पर्श पाप का हेतु माना गया है। देखना नेत्रों का व्यापार है। सज्जनों का दर्शन पुण्य का हेतु है और पतितों का दर्शन पाप का हेतु है। **विज्ञान-भगवान** और सभी टीकाकार इस मन्त्र में प्रयुक्त **मोहैः** के स्थान पर **होमैः** पाठ मानते हैं। होम करना हाथों का व्यापार है। अग्निहोत्रादि करना पुण्य का हेतु है और मारण-उच्चाटन आदि क्रियाओं का सम्पादन पाप का हेतु है। यह मात्र उपलक्षण है और अन्य-अन्य इन्द्रियों में भी यही बात सिद्ध है। अन्न एवं वृष्टि से भी जीवात्मा की वृद्धि होती है। समुचित देश, काल तथा पात्र को देखकर जल का आदर पूर्वक दान देना पुण्य का हेतु है तथा विपरीत परिस्थिति में जलदान करना पाप का हेतु है या योग्य पुरुषों में ग्रास (अन्न) दान पुण्य का हेतु है तथा अयोग्य पुरुषों में ग्रास (अन्न) दान पाप का हेतु है। अनर्थकारी लोगों के अनर्थ का समूल-नाश पुण्य का हेतु है तथा अर्थवान् लोगों को उनके अर्थ से वंचित करना पाप का हेतु है। ग्रास तथा अम्बु—ये दोनों ही उपलक्षण मात्र हैं। इस प्रकार का व्यवहार करने से आत्मा का जन्म तथा वृद्धि होती है और यही प्रक्रिया सभी में—ब्रह्मा से लेकर तिनके तक में दृष्टिगोचर होती है—वृद्धि ही नहीं अपितु अन्य भावविकार भी देखे जाते हैं तथा विवृद्धि भी उपलक्षण मात्र है। यह जीवात्मा अपने पुण्य एवं पाप के अनुसार कर्म विपाक होने पर लिंग शरीर को प्राप्त होती है। जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न लोकों में नाना प्रकार के रूपों को धारण करता रहता है।

---

१. विवरण, पृ० २३२।

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव
रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति ।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां
संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥१२॥

शांकरभाष्यम्—

स्थूलानीति । तानि च स्थूलान्यश्मादीनि सूक्ष्माणि तैजसधातुप्रभृतीनि बहूनि देवादिशरीराणि देही विज्ञानात्मा स्वगुणैर्विहितप्रतिषिद्धविषयानुभवसंस्कारैर्वृणोति ततस्तत्तत्क्रियागुणैरात्मगुणैश्च स देह्यपरोऽपि देहान्तरसंयुक्तो भवतीत्यर्थः ॥१२॥

जीवात्मा अपने गुणों के कारण स्थूल (और) सूक्ष्म रूपों को धारण करता है । उनका (जीवात्माओं का) अपने कर्मों (के गुणों) तथा शरीर (के गुणों) के द्वारा संयोग (अन्य शरीर धारण) का अन्य कारण भी देखा गया है ।

यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि जीवात्मा अपने कर्मों के विपाक होने पर भिन्न-भिन्न रूपों को धारण करती है । उसी बात को प्रकृत मन्त्र में और अधिक सूक्ष्म ढंग से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है । देही (जीवात्मा) कर्म विपाक होने पर स्थूल एवं सूक्ष्म रूप धारण करती है । **स्थूल** रूप क्या है और **सूक्ष्म** रूप क्या है ? इस पर टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किए हैं । **नारायण** यह मानते हैं कि देव तथा मनुष्यों का रूप स्थूल है तथा तिर्यक् आदि रूप सूक्ष्म हैं । **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** का विचार है कि जितने भी भूलोक के पार्थिव शरीर हैं वे सभी स्थूल हैं तथा भुवर्लोक के शरीर उनसे भी सूक्ष्म हैं; स्वर्लोक के तैजस् शरीर उनसे भी सूक्ष्म हैं, महर्लोक के वायवीय शरीर उनसे भी सूक्ष्म हैं; जन लोक के शरीर उनसे भी सूक्ष्म हैं; तप तथा सत्य लोक के शरीर सबसे सूक्ष्म हैं । **विज्ञानभगवान** इसकी एक अन्य व्याख्या प्रस्तुत करते हैं: हाथी आदि स्थूल शरीर वाले हैं तथा मक्खी-मच्छर आदि सूक्ष्म शरीर हैं । जीवात्मा अपने सत्त्व, रजस् तथा तमोगुण के कारण नाना प्रकार के रूप धारण करती है । प्रकृत मन्त्र में जीवात्मा के देहान्तर प्राप्ति के अन्य दो कारण भी बतलाए हैं: **क्रियागुण** तथा **आत्मगुण** । टीकाकारों ने इनकी भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है । **शंकरानन्द** के अनुसार **क्रियागुण** क्रिया शक्ति प्राण है तथा शरीर धारण करने की इच्छा उसका गुण है । अदृष्ट इच्छा तथा ज्ञानादि ही **आत्मगुण** हैं । **नारायण** यह मानते हैं कि धर्म और अधर्म ही **क्रियागुण** हैं : अर्थात् धर्म रूप में किए गए कर्म तथा अधर्म रूप में किए गए कर्म ही **क्रियागुण** हैं तथा ज्ञान वासनादि ही **आत्मगुण** हैं । **विज्ञानभगवान** तथा[1] **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** के अनुसार

---

१. (i) क्रियागुणैः श्रौतस्मार्तविहितप्रतिषिद्धक्रियाजन्यधर्माधर्मलक्षणापूर्वैश्चात्मा लिंगशरीरं तस्य गुणैर्विहितप्रतिषिद्धोपासनादिभिश्च । पृ० २३३ ।

(ii) उपनिषद्ब्रह्मयोगी, पृ० २२० ।

श्रौत तथा **स्मार्त** में विहित एवं प्रतिषिद्ध क्रियाओं से उत्पन्न होने वाले धर्म और अधर्म ही वास्तव में क्रियागुण हैं तथा लिंगशरीर द्वारा किए जाने वाले विहित तथा प्रतिषिद्ध—उपासना आदि कर्म ही **आत्मगुण** हैं। **शंकराचार्य** के अनुसार शरीर का कर्मफल ही **क्रियागुण** है तथा मानसिक संस्कार ही आत्मगुण हैं। इन सभी अर्थों पर विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि शरीर के संस्कारों का नाम क्रिया गुण है तथा पञ्च तन्मात्राओं के द्वारा जो अनुभूतियाँ होती हैं जैसे देखना, सुनना, समझना विचार करना आदि-आदि—ये सभी **आत्मगुण** की कोटि में आते हैं। इसके साथ-साथ जीवात्मा के **अहंभाव** तथा **ममत्व** आदि जो भाव हैं वे सभी **स्वगुण** कहलाते हैं। मन्त्र में प्रयुक्त **अपरो** के स्थान पर **अवरो** पाठ भी उपलब्ध होता है। **शंकरानन्द अवर** का संबंध स्वयं जीव के साथ स्थापित करते हैं। **नारायण** यह मानते हैं कि स्वगुणों से भिन्न भी कोई कारण हो सकता है और यह कारण है **पूर्वप्रज्ञा**। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** भी **पूर्वप्रज्ञा** को अन्य कारण मानते हैं। प्रकृत मन्त्र में देहान्तर प्राप्ति के तीन कारण बतलाए हैं। **स्वगुण**, **क्रियागुण** तथा **आत्मगुण**। इनके अतिरिक्त एक चौथे कारण की ओर हल्के से संकेत किया गया है कि इनके अलावा एक और कारण भी हो सकता है। संभवतः ऋषि का आशय **परमात्मा की इच्छा** से है—अर्थात् हम कभी-कभी परमात्मा की इच्छा से भी शरीर धारण करते हैं।

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१३॥

शांकरभाष्यम्—

अनाद्यनन्तमिति। अनाद्यनन्तमाद्यन्तरहितं कलिलस्य मध्ये गहनगभीरसंसारस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमुत्पादयितारमनेकरूपं विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं स्वात्मना संव्याप्यावस्थितं ज्ञात्वा देवं ज्योतीरूपं परमात्मानं मुच्यते सर्वपाशैरविद्याकामकर्मभिः ॥१३॥

इस दुर्गम संसार के बीच (उस) अनादि, अनन्त के स्रष्टा, अनेक रूप, सारे संसार को सब ओर से घेरने वाले देव को जान कर (मनुष्य) सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

परमात्मा अनादि और अनन्त है। वही संसार का स्रष्टा है तथा अनेक रूप है। वही परमात्मा सृष्टि की उत्पत्ति के अत्यधिक गहन क्षण में भी विद्यमान रहता है। यहाँ उस क्षण की अभिव्यक्ति **कलिल** शब्द द्वारा की गई है। **कलिल** शब्द की विस्तृत व्याख्या चौथे अध्याय के चौदहवें मन्त्र की व्याख्या के संदर्भ में

कर दी गई है। अतः इसे वहाँ देखें। वह परमात्मा सारे संसार का परिवेष्टा है अर्थात् उसने सारे संसार को आवृत कर रखा है। ऐसे देव (रुद्र-शिवात्मक परब्रह्म) को जानकर मनुष्य सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

केन पुनरसौ गृह्यते ? इत्याह—

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥१४॥

शांकरभाष्यम्—

भावग्राह्यमिति । भावेन विशुद्धान्तःकरणेन गृह्यत इति भावग्राह्यम् । अनीडाख्यं नीडं शरीरमशरीराख्यम् । भावाभावकरं शुद्धमविद्यातत्कार्यविनिर्मुक्तमित्यर्थः । कलानां षोडशानां प्राणादिनामान्तानाम् "स प्राणमसृजत" (प्र०उ० ६।४) इत्यादिनाथर्वणोक्तानां सर्गकरं देवं ये विदुरहमस्मीति ते जहुः परित्यजेयुस्तनुं शरीरम् ॥१४॥

भावग्राह्य, अशरीरी, सृष्टि तथा प्रलय को करने वाले कल्याणरूप कलाओं की रचना करने वाले देव (रुद्रशिवात्मक परब्रह्म) को जो जान लेते हैं वे शरीर को छोड़ देते हैं।

वह परमात्मा भावग्राह्य है अर्थात् भाव अन्तःकरण का व्यापार है और उस परमात्मा का अन्तःकरण में ही ग्रहण हो सकता है। वह परमात्मा सृष्टि (भाव) तथा प्रलय (अभाव) का भी करने वाला है। **शंकराचार्य** इसकी भिन्न प्रकार से व्याख्या करते हैं: उनका कहना है कि **भाव** अविद्या का वाचक है और उसको आत्म-साक्षात्कार के द्वारा निवृत्त कर दिया जाता है। वह परमात्मा सोलह कलाओं[1] का भी रचयिता है। जो लोग उस रुद्र-शिवात्मक परब्रह्म को ज़ान लेते हैं वे लोग इस संसार में कर्म बन्धन से छुटने पर शरीर का भी त्याग कर देते हैं।

---

१. सोलह कलाएँ हैं; प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योतिस्, अपस्, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक तथा नाम। (प्रश्नोपनिषद् ६.४)।

षष्ठोऽध्यायः

नन्वन्ये कालादयः कारणम् इति मन्यन्ते। तत्कथं पुनरीश्वरस्य कलासर्गकरत्वमित्याशङ्क्याह—

स्वभावमेके कवयो वदन्ति
कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः।
देवस्यैष महिमा तु लोके
येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥१॥

शांकरभाष्यम्—

स्वभावमिति। स्वभावमेके कवयो मेधाविनो वदन्ति। कालं तथान्ये। कालस्वभावयोर्ग्रहणं प्रथमाध्याये निर्दिष्टानामन्येषामप्युपलक्षणार्थम्। परिमुह्यमाना अविवेकिनो विषयात्मानो न सम्यग्जानन्ति। तु शब्दोऽवधारणे। देवस्यैष महिमा माहात्म्यम्। येनेदं भ्राम्यते परिवर्तते ब्रह्मचक्रम् ॥१॥

कुछ बुद्धिमान लोग स्वभाव को (संसार का कारण) बतलाते हैं और दूसरे मोहग्रस्त लोग काल को। वास्तव में यह देव की ही महिमा (है) जिसके द्वारा यह ब्रह्म चक्र घुमाया जाता है।

इस उपनिषद् का प्रारम्भ एक प्रश्न के साथ हुआ था कि संसार का कारण क्या है। समस्त जगत् का कारण क्या ब्रह्म है? हम लोग कहाँ से उत्पन्न हुए हैं; किसके माध्यम से हम सब जीवित रहते हैं और अन्त में हमें कहाँ जाना है। हम लोगों की व्यवस्था करने वाला कौन है और किसके द्वारा प्रेरित होकर हम लोग सुख दुःख को भोगते हैं। इस प्रकार के प्रश्नों से यह उपनिषद् प्रारम्भ हुआ था। इसके उपरान्त इन प्रश्नों में से एक प्रश्न का उत्तर भी दिया गया था और यह कहा गया था कि **काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, पुरुष,** तथा **योनि**—इनमें कोई एक संसार का कारण हो सकता है। साथ-साथ यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि यदि ये सब पृथक्-पृथक् रूप से संसार के कारण नहीं हैं तो सब मिलकर संसार के कारण हो सकते हैं। परन्तु विश्लेषण के बाद इसका भी निराकरण कर दिया गया था। अन्त में स्वयं उपनिषत्कार ने **"देवात्मशक्ति"** को संसार के

कारण रूप में प्रस्तुत किया था। यह उपनिषद् के अन्तिम अध्याय का पहला मन्त्र है। यहाँ फिर उसी समस्या को उठाया गया है कि कुछ विद्वान् लोग **स्वभाव** को सृष्टि का कारण मानते हैं और कुछ मोहग्रस्त लोग **काल** को सृष्टि का कारण मानते हैं। जहाँ तक इन सभी के विस्तृत अध्ययन का संबंध है हम पहले अध्याय के दूसरे मन्त्र में इन सब पर विस्तारपूर्वक विचार कर चुके हैं। इन सभी कारणों पर विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि इनमें कुछ तो वेदमूलक हैं तथा कुछ वेदेतर हैं। संभवतः इस उपनिषद् के समय में आस्तिकवादी विचारधारा तथा नास्तिक वादी विचार धाराओं में इस प्रश्न को लेकर एक बड़ा भारी विवाद रहा होगा कि सृष्टि का कारण क्या ब्रह्म है। दोनों पक्षों ने अपने-अपने विचार प्रस्तुत किए होंगे और यहाँ पर दोनों पक्षों का आभास होता है। स्वभाववादी लोग संसार का कारण वेद से बाहर खोजने का प्रयत्न कर रहे थे। जहाँ तक **काल** का प्रश्न है, एक ओर बौद्ध लोग अपने क्षणभंगुर वाद का नगाड़ा बजा रहे थे, दूसरी ओर आस्तिक विचार धारा के लोग ईश्वर, ब्रह्म तथा वेदादि विषयों की सत्ता का प्रतिपादन करने में पूरी तरह तल्लीन थे। बौद्धों का पूरा जोर इस बात पर था कि वेदों की सत्ता को नकारा जाए और आस्तिक विचारधारा, जो अपने कर्मकाण्ड के कारण पूरी तरह जर्जरित हो चुकी थी, उपनिषदीय ब्रह्म के माध्यम से अपने को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न कर रही थी। यह उपनिषद् उस संक्रान्ति काल की रचना है। संभवतः सृष्टि विषयक प्रश्नों को लेकर दोनों विचारधाराओं में एक गहरा संघर्ष चल रहा था और पक्ष तथा विपक्ष बिना सोचे समझे एक दूसरे के कर्कश वादों का जोरदार शब्दों में खण्डन करने पर तुले हुए थे। खण्डन-मण्डन की इस प्रक्रिया में पक्ष तथा विपक्ष दोनों ही यह अहसास खो चुके थे कि हमारे तर्क अन्योन्य रूप में बाधित होकर निरर्थक सिद्ध हो रहे हैं और इस प्रकार पक्ष तथा विपक्ष दोनों ही परस्पर मोक्षग्रस्त हो रहे थे। खण्डन की इस प्रक्रिया का आभास हमें **विज्ञानभगवान**[1] की **परिमुह्यमानाः** शब्द पर की गई टिप्पणी से होता है। अन्त में आस्तिकवादी विचारधारा के अनुरूप यह घोषित किया गया है कि यह उस देव की महिमा है जिसके द्वारा यह सारा ब्रह्म चक्र भ्रमित हो रहा है। महिमा से "**देवात्मशक्ति**" की ओर संकेत किया गया है और यह देव रुद्र-शिवात्मक परब्रह्म ही है। पहले अध्याय के चौथे मन्त्र में इस ब्रह्मचक्र का सम्यक् रूप से प्रतिपादन किया जा चुका है। जहाँ तक चक्र का प्रश्न है वह तो इस पूरे उपनिषद् के दर्शन में ही व्याप्त है। यह ब्रह्मचक्र काल के क्रम में अनादि काल से चला आ रहा है और चलता रहेगा। एक पक्ष यह मानता है कि यह चक्र काल द्वारा भ्रमित होता है और दूसरा पक्ष कहता है कि

---

१. परिमुह्यमानाः स्वपक्षस्थापनाभिनिवेशे कर्कशवादवशीकृतचेतस्तया सम्यक्पक्ष-मजानतोऽन्योन्यबाधितपक्षाभासानवलम्ब्य परिमुह्यमाना एवमाहुः। पृ० २३५।

यह जगत् चक्र कल्पित है। शंकरानन्द[1] का कहना है कि ब्रह्म ही अपनी अविद्या के कारण विवर्त को प्राप्त होता है और संसार चक्र एक नेमि (गुण) वाला ब्रह्म चक्र है। नारायण[2] चक्र से ब्राह्मणवादियों का आशय ग्रहण करते हैं या यह जीव-समूह ही नाना प्रकार की गतियों को प्राप्त होता है।

महिमानं प्रपञ्चयति—

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं
ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः।
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह
पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ॥२॥

शांकरभाष्यम्—

येनेति। येनेश्वरेणावृतं व्याप्तमिदं जगन्नित्यं नियमेन। ज्ञः कालकारः कालस्यापि कर्ता। गुण्यपहतपाप्मादिमान्। सर्वं वेत्तीति सर्वविद्यः। तेनेश्वरेणेशितं प्रेरितं कर्म क्रियत इति कर्म सजीव फणी। हशब्दः प्रसिद्धद्योतकः। प्रसिद्धं यदेतदीश्वरप्रेरितं कर्म जगदात्मना विवर्तत इति यत्पुनस्तत्कर्म पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि पृथिव्यादिभूतपञ्चकम् ॥२॥

जिसके द्वारा यह सब कुछ हमेशा ही व्याप्त है, जो ज्ञानस्वरूप काल का भी कर्ता, गुणी और सर्वज्ञ है उसी से शासित होकर कर्म प्रवृत्त होता है और पृथ्वी, जल, तेज, वायु, तथा आकाश (भी उसके द्वारा ही शासित होते हैं) विचारणीय है।

जिस परमात्मा का पहले वर्णन किया जा चुका है उसी परमात्मा द्वारा यह सारा संसार जड़ और चेतन ओत-प्रोत है। वह परमात्मा ज्ञान स्वरूप है। वह परमात्मा काल का भी कारण है। काल को सर्वशक्तिमान माना गया है। परन्तु परमात्मा काल का भी कारण है। काल प्राणियों का सृजन करता है और काल ही प्राणियों का संहार करता है। सभी काल के वशीभूत हैं और काल किसी के भी वश में नहीं है। (**कालः सृजति भूतानि कालः संहरति प्रजाः। सर्वे कालस्य वशगा न कालः कस्यचिद्वशः॥**) यह काल की ही महिमा है। परन्तु स्वयं काल भी

---

१. ब्रह्मैव स्वाविद्यया विवर्तं गच्छच्चक्रं संसारचक्रमेकनेम्यादिगुणकमुक्तं ब्रह्म चक्रम्। पृ० १३२।

२. ब्रह्मचक्रं ब्राह्मणानां ब्रह्मवादिनां चक्रं समूहो भ्राम्यते जीवसमूहो वा नानागतीर्नीयते पृ० १७२।

परमेश्वर के अधीन है इसलिए ही परमात्मा को काल या महाकाल कहा जाता है। परमात्मा अपने माया नामक गुण से युक्त है। वह सभी प्राणियों को अपरोक्ष रूप से जानता है। **विज्ञानभगवान**[1] **सर्वविद्यः** की अन्य व्याख्या प्रस्तुत करते हैं: अनन्त सुखानुभूति ही सर्वविद्या है और ऐसी सर्वविद्या जिसके पास है वही सर्वविद्य है। ऐसे परमात्मा से नियमित होकर ही सभी क्रिया-कलाप प्रवर्तित होता है। उपनिषत्कार इसके बाद विवर्त का क्रम बतलाता है अर्थात् सबसे पहले आत्मा से आकाश की उत्पत्ति हुई और क्रमशः पञ्च महाभूतों की उत्पत्ति हुई। **विज्ञानभगवान** का कहना है कि **आत्मनः आकाशः संभूतः**। इस श्रुति में आत्मा प्रथम ईश्वर का वाचक है अर्थात् प्रथम ईश्वर से ही नियमित होकर ही आकाश की उत्पत्ति हुई, आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से अप, अप से पृथिवी और पृथिवी से सभी लौकिक पदार्थों की उत्पत्ति हुई। लोक में जो कारण रूप में प्रसिद्ध हैं वे सभी परमेश्वर से मायोपाधिक होकर विवर्त रूप में उत्पन्न हुए हैं। वे स्वतन्त्र नहीं हैं; परीक्षकों द्वारा इन सभी बातों पर विचार किया जाना चाहिए। संभवतः ऋषि यहाँ वेदान्त शास्त्र में स्वीकृत विवर्तवाद की ओर संकेत कर रहा है जिसके अनुसार यह संसार चेतन का विवर्त है। इस प्रकार का भाव **तैत्तिरीयोपनिषद्** (२.१.१) में भी व्यक्त किया गया है।

यत्प्रथमाध्याये चिन्त्यमित्युक्तम्, एतदेव प्रपञ्चयति—

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूय-
स्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम्।
एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा
कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः ॥३॥

शांकरभाष्यम्—

तदिति। तत्कर्म पृथिव्यादि सृष्ट्वा विनिवर्त्य प्रत्यवेक्षणं कृत्वा भूयः पुनस्तस्यात्मनस्तत्त्वेन भूम्यादिना योगं समेत्य संगमय्य। णिलोपो द्रष्टव्यः। कतिविधैः प्रकारैः। एकेन पृथिव्या द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा प्रकृतिभूतैस्तत्त्वैः। तदुक्तम्—

"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥"
(गीता ७।४)

इति। कालेन चैवात्मगुणैश्चान्तःकरणगुणैः कामादिभिः सूक्ष्मैः ॥३॥

(परमात्मा ही) उस कर्म को करके और उसका निरीक्षण कर, फिर तत्त्व का तत्त्व से संयोग करवा कर एक दो, तीन या आठ (तत्त्वों से) (अथवा) काल से या अपने सूक्ष्म गुणों से योग कराकर ही (स्वयं विद्यमान रहता है)।

---

१. योऽनन्तसुखानुभूतिः सर्वा विद्या अस्येति सर्वविद्य इति वा। पृ० २३६।

इस मन्त्र तथा अगले मन्त्र को लेकर अर्थ की दृष्टि से टीकाकारों में पर्याप्त मतभेद है। जहाँ तक इस मन्त्र का प्रश्न है यहाँ यह विचारणीय है कि इस मन्त्र में कर्ता परमात्मा है या जीवात्मा परन्तु प्रसंग को देखकर यह प्रतीत होता है कि इस मन्त्र में कर्ता परमात्मा ही है। मैक्स मूलर[1] ने यह माना है कि यह तथा अगला मन्त्र अत्यधिक कठिन मन्त्र हैं और टीकाकारों की व्याख्याओं से वास्तविक अर्थ पर बहुत कम प्रकाश पड़ता है। प्रकृत मन्त्र में यह संकेत किया गया है कि परमात्मा एक बार सृष्टि-उत्पत्ति कर्म करने के पश्चात् उसका निरीक्षण करता है और फिर जड़ तथा चेतन पदार्थों का संयोजन करवाता है। परमात्मा इसके पश्चात् जीवात्मा का संबंध भिन्न-भिन्न तत्त्वों से स्थापित करवा देता है। **शंकरानन्द** इस मन्त्र में जीवात्मा को कर्ता मानते हैं और कहते हैं कि ज्योतिष्टोम आदि कर्मों का अनुष्ठान करने के पश्चात् जीवात्मा कर्म व्यापारों से मानसिक रूप से अपने अपने आप को लौटा ले। "**अहं ब्रह्मास्मीति**"—रूपी ज्ञान की उद्भावना ही वास्तव में योग है। किन-किन साधनों से ऐसा योग प्राप्ति हो सकता है? **एक**—अविद्या से; **दो**—धर्म और अधर्म से; **तीन**—लोहित, शुक्ल तथा कृष्ण से; **आठ**—पंच महाभूत तथा मन, बुद्धि और अहंकार से—योग की प्राप्ति हो सकती है। **शंकरानन्द काल** से सृष्टि, स्थिति तथा संहार का अर्थ ग्रहण करते हैं। कामादि ही आत्मगुण हैं। **नारायण कर्म** से शुभाशुभ कर्म का ग्रहण करते हैं और यह प्रश्न करते हैं कि कौन मोक्ष को प्राप्त होता है और कितने समय में मोक्ष की प्राप्ति कर पाता है। **नारायण** कहते हैं कि कोई एक जन्म में, कोई दो जन्म में, कोई तीन जन्म में और कोई आठ जन्म में मोक्ष प्राप्त कर पाता है। (गीता में भी कहा गया है: **बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते**)। **नारायण** के अनुसार मोक्ष प्राप्ति में काल भी एक हेतु है तथा धर्म एवं ज्ञान भी समान रूप से हेतु हैं। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** कहते हैं कि कर्ता जो भी कर्म करता है उन्हें ईश्वर को अर्पित कर देता है; कर्मों को ईश्वर को अर्पण करने से अन्तःकरण निर्मल होता है और फिर मनुष्य सभी कर्मों से संन्यास ग्रहण कर लेता है। किन-किन साधनों से ईश्वर से एकत्वज्ञान की प्राप्ति होती है? इस प्रसंग में **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** कहते हैं कि **एक**—गुरु के पास जाने से; **दो**—गुरु भक्ति और ईश्वर भक्ति से; **तीन**—श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन तथा **आठ**—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि से ईश्वर से एकत्वज्ञान की प्राप्ति होती है। एकत्वज्ञान की प्राप्ति या तो इस ही जन्म में हो जाएगी या जन्मान्तर में हो जाएगी। **काल** का एक अन्य आशय है ज्ञानार्थ के लिए साधनों के परिपक्व

---

१. सेक्रिड बुक्स ऑफ् दि ईस्ट, फुट नोट ७, पृ० २६०, वाल्यूम १५, भाग २।

होने के समय पर। दया, शान्ति, शौच, माङ्गल्य, अस्पृहा, अकार्पण्य, अनायास तथा अनसूया ही **आत्मगुण** हैं। अनेक जन्मों में अनुष्ठित ज्ञानार्थ पुण्य संस्कार ही **सूक्ष्मगुण** हैं। **शंकराचार्य** के अनुसार पृथिवी की रचना करना ही कर्म है। परमात्मा उसके पश्चात् आत्मा का पृथिवी आदि तत्त्व के साथ योग करवाता है। पृथिवी एक तत्त्व है। **शंकराचार्य** दो और तीन की व्याख्या नहीं करते हैं और आठ को गीता (७.४) में वर्णित आठ प्रकृति रूपों के साथ जोड़ते हैं (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार)। **राधाकृष्णन** एक, दो, तीन तथा आठ की व्याख्या इस प्रकार करते हैं : **एक**—सांख्य का पुरुष; **दो**—पुरुष और प्रकृति; **तीन**—सत्त्व, रजस् और तमस्; **आठ**—पंचमहाभूत तथा मन, बुद्धि एवं अहंकार। **राधाकृष्णन** के अनुसार ममता तथा आसक्ति ही आत्मगुण हैं। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वह परमात्मा पहले सृष्टि को उत्पन्न करता है और जड़ तथा चेतन का संयोजन करवा कर अहंता, ममता, आसक्ति आदि आत्म संबंधी गुणों से जीवात्मा का संयोजन करवाता है।

इदानीं कर्मणां मुख्यं विनियोगं दर्शयति—

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि
भावांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः
कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः ॥४॥

शांकरभाष्यम्—

आरभ्येति। आरभ्य कृत्वा कर्माणि गुणैः सत्त्वादिभिरन्वितानि भावांश्चात्यन्तविशेषान्विनियोजयेदीश्वरे समर्पयेद्यः। तेषामीश्वरे समर्पितत्वादात्मसंबन्धाभावस्तदभावे पूर्वकृतकर्मणां नाशः। उक्तं च—

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।"
(गीता ९।२७-२८)

"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः॥
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।"
(गीता ५।१०,११)

इति।

कर्मक्षये विशुद्धसत्त्वो याति तत्त्वतोऽन्यस्तत्त्वेभ्यः प्रकृतिभूतेभ्योऽन्योऽविद्यातत्कार्यविनिर्मुक्तश्चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मत्वेनावगच्छन्नित्यर्थः । अन्यदिति पाठे तत्त्वेभ्यो यदन्यद्ब्रह्म तद्यातीति ॥४॥

जो गुणों से युक्त कर्मों को आरम्भ कर और उन्हें (तथा) सभी भावों को (परमात्मा को) अर्पित कर देता है; उन कर्मों का अभाव होने पर किए हुए कर्मों का नाश हो जाता है; कर्मक्षय हो जाने पर वह (परमात्मा को) प्राप्त होता है (क्योंकि वह) तत्त्वतः भिन्न है।

मन्त्र में कर्ता कौन है यह समस्या जितनी प्रबल यहाँ है उतनी शायद पिछले मन्त्र में नहीं थी। वहाँ तो प्रसंग से यह प्रतीत होता था कि कर्ता परमात्मा है परन्तु यहाँ पर प्रसंग से कर्ता का निर्णय करना कठिन मालूम पड़ता है। एक बात तो स्पष्ट है कि इस मन्त्र पर **गीता** (९.२७-२८) के निम्नलिखित श्लोकों का प्रभाव परिलक्षित होता है :

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥

मैक्स मूलर[1] पिछले तथा इस मन्त्र—दोनों में ही परमात्मा को कर्ता मानते हैं। परन्तु इस मन्त्र में परमात्मा को कर्ता मानने से कई विप्रतिपत्तियाँ खड़ी हो जाएगीं। यदि हम यहाँ विज्ञान या सामान्य रूप में पुरुष को कर्ता स्वीकार करें तो शायद हम अर्थ तथा प्रसंग दोनों के साथ न्याय कर सकेंगे। सर्वजनसाधारण पुरुष सर्वप्रथम सत्त्व, रजस् तथा तमस् से युक्त कर्मों को करता है और इसके पश्चात् वह सभी कर्मों को परमात्मा को समर्पण कर देता है जैसा कि गीता के उपर्युक्त श्लोकों से भी स्पष्ट है। जब वह कर्मों को परमात्मा को समर्पित कर देता है तो उसका उन कर्मों के साथ सम्बन्ध नहीं रहता और इसलिए वह उनके फल का भागी नहीं होता। इस प्रकार उनका अभाव हो जाने से पहले किए हुए संचित कर्म-बन्धनों का भी सर्वथा नाश हो जाता है। इस प्रसंग में **शंकरानन्द**[2] एक समस्या की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं : यदि सभी कर्मों का विनियोजक ईश्वर ही है तो संसार सागर से कभी भी पार जाना संभव ही नहीं होगा। इसके पश्चात् वे कहते हैं : अविद्या आदि के अभाव में (विनाश होने पर) किए हुए कर्मों का नाश हो जाता है और कर्मक्षय होने से संसार रूपी सागर से जीव पार चला जाता है। जीव वास्तव में अविद्या आदि से परे तत्त्वरूप में अपने अनुकूल अवस्थान अर्थात् संसार सागर के पार चला जाता है। **नारायण** के अनुसार भिन्न-

१. सेक्रिड बुक्स ऑफ् दि ईस्ट, फुटनोट ७. पृ० २६०-६२ वाल्यूम् १५, भाग २।
२. दीपिका, पृ० १३४।

भिन्न इन्द्रियों का उनके विषय-वस्तुओं के साथ संयोजन ही **भाव** है। या अभिलाषा आदि की अपने आप में आहुति प्रदान करना भी भाव-विनियोजन है। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** इस सारे प्रसंग को एक यति (साधु) के साथ जोड़कर इसका अर्थ करते हैं। **शंकराचार्य** भी गीता (उपर्युक्त) के अनुसार ही अर्थ करते हैं।

उक्तस्यार्थस्य द्रढिम्न उत्तरे मन्त्राः प्रस्तूयन्ते कथं नाम विषयान्धा ब्रह्म जानीयुरित्यत आह—

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः
परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं
देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥५॥

शांकरभाष्यम्—

आदिरिति। आदिः कारणं सर्वस्य, शरीरसंयोगनिमित्तानामविद्यानां हेतुः। उक्तं च—"एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति…एष एवैनमसाधु कर्म कारयति च" (कौ० उ० ३।९) इति। परस्त्रिकालादतीतानागतवर्तमानात्। उक्तं च—"यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते। तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्" (बृ० उ० ४।४।१६) इति। कस्मात्? यस्मादकलोऽसौ न विद्यन्ते कलाः प्राणादिनामान्ता अस्येत्यकलः कलावद्धि कालत्रयपरिच्छिन्नमुत्पद्यते विनश्यति च। अयं पुनरकलो निष्प्रपञ्चः। तस्मान्न कालत्रयपरिच्छिन्नः सन्नुत्पद्यते विनश्यति च। तं विश्वानि रूपाण्यस्येति विश्वरूपम्। भवत्यस्मादिति भवः। भूतमवितथस्वरूपम्। ईड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्यायमहमस्मीति समाधानं कृत्वा पूर्वं वाक्यार्थज्ञानोदयात् ॥५॥

वह (सबका) आदि, प्रकृति के साथ जीव का संयोग कराने में कारणों का भी कारण, त्रिकालातीत तथा कलाहीन देखा गया है। उस विश्व-रूप, संसार-रूप में स्थित, स्तवनीय तथा सनातन देव को अपने अन्तःकरण में स्थित परमदेव (मानकर) उसकी उपासना करनी चाहिए।

परमात्मा सभी का आदि कारण है यह बात इस उपनिषद् में अनेक बार कही जा चुकी है। प्रकृत मन्त्र में यह बतलाया गया है कि परमात्मा के कारण ही हम अपने शरीर को अपनी अविद्या के कारण आत्मा समझने लगते हैं अर्थात् शरीर संयोग की निमित्तभूता अविद्या का हेतु भी परमात्मा ही है। इस मन्त्र में प्रयुक्त **संयोगनिमित्तहेतुः** एक महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति है जिसको टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से समझा है। **शंकरानन्द** के अनुसार विद्या से संबंध स्थापित होना ही

संयोग है और उसका कारण भी अविद्या ही है अर्थात् अविद्या भी स्वतन्त्र नहीं है वह भी परमात्मा के अधीन ही है। **नारायण संयोगनिमित्तहेतुः** को प्रथम अध्याय के दूसरे मन्त्र में परिगणित **काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, पुरुष** तथा **योनि** के कारण साथ जोड़ते हैं अर्थात् वह परमात्मा इन सात कारणों का भी सर्वोत्कृष्ट कारण है। **विज्ञानभगवान** के अनुसार सम्यक् योग संयोग है और शरीर के द्वारा किए जाने वाले पुण्य तथा पाप कर्मों का भी वह परमात्मा ही निमित्त है। **उपनिषद्ब्रह्मयोगी**[1] के अनुसार जीवात्मा का परमात्मा से सम्यक् योग ही संयोग है तथा इसी अध्याय के तीसरे मन्त्र में परिगणित एक, दो, तीन तथा आठ प्रकार के कारणों का भी निमित्त है। अथवा पुण्य, पाप, संकल्पन, स्पर्शन, दर्शन आदि गुणों का शरीर के साथ संयोजन का भी एक मात्र कारण है। परमात्मा त्रिकालातीत है तथा **प्रश्नोपनिषद्** (६.४) में वर्णित सोलह कलाओं से रहित है ऐसे विश्वरूप स्तवनीय परमात्मा को अपने अन्तःकरण में स्थित जानकर उसकी उपासना करनी चाहिए। यहाँ **उपासना** शब्द लाक्षणिक रूप में प्रयुक्त हुआ है अर्थात् उसको अपने अन्तःकरण में ही खोजना चाहिए। परमात्मा हृदय रूपी गुफा में स्थित रहता है यह बात भी इस उपनिषद् में कई बार कही जा चुकी है **अंगुष्ठमात्रो पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः। श्वेताश्वतरोपनिषद्** ३.१३)। **विज्ञानभगवान**[2] का कहना है कि कुछ लोगों के अनुसार इस मन्त्र में सगुणोपासना का वर्णन किया गया है और कुछ के अनुसार यहाँ निर्गुणोपासना का वर्णन किया गया है।

पुनरपि तमेव दर्शयति—

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो
यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम्।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं
ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ॥६॥

शांकरभाष्यम्—

स वृक्षेति। स वृक्षाकारेभ्यः। कालाकारेभ्यः परो वृक्षकालाकृतिभिः परः। वृक्षः संसारवृक्षः। उक्तं च—"ऊर्ध्वमूलो ह्यवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः"

---

१. जीवस्य परमात्मना सम्यग्योगः संयोगः, तस्य निमित्तानामेकेन द्वाभ्यामित्यादिनोक्तानां हेतुः कारणभूतः। यद्वा—शरीरसंयोगनिमित्तानां पुण्यपापानां संकल्पनस्पर्शनदृष्टिहोमैरित्यादिनोक्तानाम्। पृ० २२४।

२. अयं मन्त्र एव निर्गुणवस्तुपरतया कैश्चिद्व्याख्यातः। कैश्चिच्च सगुणवस्तुपरतया व्याख्यातः। पृ० २३९।

(क० उ० २।३।१) इति । अन्यः प्रपञ्चासंस्पृष्ट इत्यर्थः । **यस्मादीश्वरात् प्रपञ्चः परिवर्तते । धर्मावहं पापनुदं भगस्यैश्वर्यादेरीशं स्वामिनं ज्ञात्वात्मस्थमात्मनि बुद्धौ स्थितममृतममरणधर्माणं विश्वधाम विश्वस्याधारभूतं याति । स तत्त्वतोऽन्य इति सर्वत्र सम्बध्यते ॥६॥**

जिससे यह प्रपञ्च (संसार) प्रवृत होता है वह वृक्ष (तथा) काल की आकृति से भिन्न है। धर्म की वृद्धि करने वाले, पापनाशक, ऐश्वर्याधिपति आत्मस्थ, अमृतस्वरूप तथा विश्वाधार को जानकर (लोग अमर हो जाते हैं) ।

प्रकृत मन्त्र में वृक्ष एवं काल रूपी दो प्रतीकों से परमात्मा के स्वरूप का वर्णन किया गया है। यह संसार का प्रपञ्च उसी परमात्मा से प्रवृत हुआ है और निरन्तर चलता रहेगा। **शंकरानन्द** का कहना है कि कार्यरूप संसार ही वृक्ष है और प्राणियों में निरन्तर गतिमान काल ही वास्तव में अविद्या है। वह परमात्मा इन दोनों से भिन्न है। **नारायण** इसका अर्थ भिन्न प्रकार से करते हैं । उनके अनुसार शरीर ही वृक्ष है और काल से तात्पर्य क्रिया से है तथा क्रिया से ही जाति का निर्धारण होता है अर्थात् वह परमात्मा एक जाति से उपलक्षित होता हुआ भी अपनी असंग प्रकृति के कारण भिन्न है । **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी**[1] भी वृक्ष का अर्थ संसाररूपी वृक्ष करते हैं और सारे संसार में अनुस्यूत होने वाला काल ही वास्तव में काल है। परन्तु वह परमात्मा इनसे भिन्न है। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्-ब्रह्मयोगी** दोनों ही आकृति का अर्थ सांख्य शास्त्र में प्रसिद्ध महदादि को उत्पन्न करने वाली **मूलप्रकृति** करते हैं। जो **कृति** उससे की जाती है वह आकृति है। मूल प्रकृति ही महदादि समस्त कार्य रूप में माया नाम से उत्पन्न होती है। परमात्मा ही उस **मूल प्रकृति** का अधिष्ठाता है। यह **मूल प्रकृति** उस परमात्मा से ही प्रेरित होती है। सर्वव्यापक होने के कारण ही उसको **आकृति** कहा जाता है और वह परमात्मा उससे महान्, श्रेष्ठ तथा विलक्षणस्वभाव का होने के कारण भिन्न तथा उत्कृष्ट है। **शंकराचार्य** का कहना है कि वह परमात्मा वृक्षाकार तथा कालाकार से उत्कृष्ट है और उनका कहना है कि **कठोपनिषद्** (२.३.१) में संसार की कल्पना वृक्ष के रूप में की गई है (**ऊर्ध्वमूलो ह्यवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः । तदेव**

---

१. (i) वृक्षशब्देन संसार उच्यते, तत्रानुस्यूतं कालतत्त्वं काल उच्यते, तस्मादा समन्तात् कृतिराकृतिर्महदादि कार्यरूपेण कृतिः प्रकृतिः स्वाधिष्ठातृसहिता चेदाकृतिर्मूलप्रकृतिरुच्यते । पृ० २२५ ।

(ii) तस्मादाकृतिरा समन्तात्कृतिः क्रियत इति कृतिर्महदादिसमस्तकार्यरूपेण मायाख्या प्रकृतिर्निवर्त्यते प्रेर्यतेऽधिष्ठात्रा परमेश्वरेणेत्याकृतिरिति मूलप्रकृति-रुच्यते। सर्वव्यापकत्वाद्वा सैवाऽऽकृतिरित्युच्यते तस्याश्च परो ज्यायांस्तेभ्यो विलक्षणस्वभावश्च तेभ्योऽन्यः परः स्वयमुत्कृष्टश्चेति । (विज्ञानभगवान) पृ० २३९ ।

शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते)। गीता (१५.१) में भी इस प्रकार की बात कही गई है (ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्)। वही परमात्मा धर्म की वृद्धि करने वाला तथा पापनाशक है तथा समस्त प्रकार के ऐश्वर्यों का भी अधिपति है। यह सारा संसार उसी परमात्मा में आश्रित है। वह परमात्मा अन्तर्यामी रूप से हम सब के हृदय में स्थित है। (अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः, श्वेताश्वतरोपनिषद् ३.१३)।

इदानीं विद्वदनुभवं दर्शयन्नुक्तमर्थं दृढीकरोति—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ता-
द्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥७॥

शांकरभाष्यम्—

तमीश्वराणामिति। तमीश्वराणां वैवस्वतयमादीनां परमं महेश्वरं तं देवतानामिन्द्रादीनां परमं च दैवतं पतिं पतीनां प्रजापतीनां परमं परस्तात्परतोऽक्षरात्। विदाम देवं द्योतनात्मकं भुवनानामीशं भुवनेशम्। ईड्यं स्तुत्यम्॥७॥

उस ईश्वर के भी परम महेश्वर (तथा) सम्पूर्ण देवताओं के भी परम देवता, पतियों के भी पति (तथा) सब से श्रेष्ठ सारे जगत् के स्वामी तथा स्तवनीय देव को हम जानते हैं।

वह परमात्मा सभी ईश्वरों का भी ईश्वर (महेश्वर) है और विष्णु रुद्रादि देवताओं का भी देवता है। ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र जिनके कारण संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय होती है, वह परमात्मा उन सभी का भी स्वामी है। वह परमात्मा मोक्ष तथा सिद्धि का भी दाता है इसलिए ही उसको परम देव कहा गया है। वेद, इतिहास तथा पुराण सभी उस परमात्मा का वर्णन करते हैं। वह परमात्मा सारे कार्यजात का भी स्वामी है। इस प्रकार के परमात्मा को हम अपरोक्ष रूप से जानते हैं। **शंकरानन्द** इस मन्त्र में प्रयुक्त **परस्तात्** का अर्थ **अविद्या** करते हैं अर्थात् वह परमात्मा अविद्यादि से भी श्रेष्ठ है।

कथं महेश्वरत्वम् ? इत्याह—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥८॥

शांकरभाष्यम्—

न तस्येति । न तस्य कार्यं शरीरं करणं चक्षुरादि विद्यते । न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते श्रूयते वा । परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते । सा च स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया ज्ञानक्रिया च बलक्रिया च । ज्ञानक्रिया सर्वविषयज्ञानप्रवृत्तिः । बलक्रिया स्वसंनिधिमात्रेण सर्वं वशीकृत्य नियमनम् ॥८॥

उसके शरीर और इन्द्रियाँ नहीं हैं; उसके बराबर और उसके समान (भी) दिखाई नहीं देता, उसकी पराशक्ति विविध प्रकार से सुनाई पड़ती है, वह स्वाभाविकी ज्ञानक्रिया तथा बलक्रिया है ।

परमात्मा इन्द्रियों से रहित है और फिर भी उसमें सभी इन्द्रियों का आभास होता है यह बात इस उपनिषद् में पहले भी कही जा चुकी है । परमात्मा अशरीरी है यह भी पहले बतलाया जा चुका है । परमात्मा बिना इन्द्रियों के ही अपना समस्त क्रिया-कलाप चलाते हैं । समस्त जगत् में उसके बराबर ही कोई नहीं है तो उससे बढ़कर कहाँ हो सकता है । प्रकृत मन्त्र में परमात्मा की **पराशक्ति** का वर्णन किया गया है । कुछ टीकाकारों का विचार है कि यह **पराशक्ति** वही है जिसको प्रथम अध्याय के तीसरे मन्त्र में **देवात्मशक्ति** कहा गया है । यह समस्त जगत् उस परमात्मा की लीला मात्र है । सारे जगत् में वही परमात्मा ओत-प्रोत है । **शंकरानन्द** के अनुसार सभी कार्यों के उत्पादन का सामर्थ्य ही **पराशक्ति** है और वही अविद्या के नाम से भी विदित है । **विज्ञानभगवान**[1] तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** यह कहते हैं कि इस परमात्मा की मूल प्रकृति जिसको पहले **देवात्मशक्ति** भी कहा गया है, सर्वव्यापक होने के कारण अनन्त कार्य-करण रूप में सुनाई पड़ती है । **शंकराचार्य पराशक्ति** के विषय में मौन हैं । उस **पराशक्ति** के लिए उपनिषत्कार ने एक अन्य विशेषण का प्रयोग किया है अर्थात् वह **पराशक्ति स्वाभाविकी** भी है । **शंकरानन्द**[2] का कहना है कि परमात्मा की पराशक्ति उसके स्वभाव से संबद्ध है

१. (i) अस्य देवस्य परा मूलप्रकृतित्वेन सर्वव्यापकत्वात्परा शक्तिर्देवात्मशक्तिरित्येवोक्ता विविधाऽनन्तकार्यकरणप्रकृतित्वात्तत्तद्रूपेण विविधा श्रूयते श्रुतिस्मृत्यादिषु । पृ० २४१ ।

(ii) परा सर्वोत्कृष्टा अस्य शक्तिः, प्रकृतिः देवात्मशक्तिरित्युक्तत्वात् सेयं विविधा अनन्तकार्यकरणतया श्रूयते सर्वत्र । (उपनिषद्ब्रह्मयोगी) पृ० २२६ ।

२. स्वभावतः संबद्धाऽनादिसिद्धेत्यर्थः । पृ० १३६ ।

अतः अनादिसिद्ध है। **नारायण स्वाभाविकी** को सहजसिद्धा मानते हैं। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी स्वाभाविकी** को ज्ञानबलक्रिया का विशेषण मानते हैं। **विज्ञानभगवान** एक प्रश्न करते हैं कि जो **नेति नेति** के पश्चात् अवशिष्ट रह जाता है क्या उसका रूप परमेश्वर के स्वभाव का होता है। **ज्ञानबलक्रिया** को टीकाकारों ने **ज्ञानक्रिया** तथा **बलक्रिया** के रूप में विभक्त किया है। **शंकरानन्द** के अनुसार वस्तुप्रकाशिका अन्तःकरण प्रवृति ज्ञान है, बल प्राण है और उत्साह प्रयत्न है। व्यापार ही क्रिया है। इस प्रकार दोनों को मिलाकर **ज्ञानबलक्रिया** शब्द निष्पन्न होता है यद्यपि वेदान्त शास्त्र में **ज्ञानशक्ति** तथा **क्रियाशक्ति** का दो पृथक् शक्तियों के रूप में व्यवहार किया जाता है। **शंकरानन्द** का कहना है कि इसके बावजूद भी इसमें कोई विरोध नही है क्योंकि **क्रियाशक्ति** में ही ज्ञानशक्ति का अन्तर्भाव हो जाता है। **नारायण** मानते हैं कि ज्ञान तथा बल से युक्त क्रिया ही **ज्ञानबलक्रिया** है। **विज्ञानभगवान**[1] तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** के अनुसार सारा ज्ञान का विषय तथा सभी लक्षणों की अनुभूति ही **ज्ञानक्रिया है**। उसको **क्रियाशक्ति** इसलिए कहा जाता है क्योंकि सारा ज्ञान भण्डार तथा सभी सत्त्वादि गुणों की अभिव्यक्ति उसी के द्वारा की जाती है अर्थात् वह क्रिया के समान ही अवभासित होता है। परमात्मा के द्वारा अपनी संनिधि मात्र से संसार के जड़ तथा चेतन पदार्थों का नियमन ही **बलक्रिया** है। या अनन्त सत्ता ही बल है तथा उस सत्ता के सभी प्राणियों में धातु रूप में विद्यमान रहने के कारण ही वह बलक्रिया है। **शंकराचार्य** इस विषय में कहते हैं कि सम्पूर्ण विषयों के ज्ञान की प्रवृत्ति ही **ज्ञानक्रिया है** तथा अपनी सन्निधिमात्र से सब का वश में नियमन करना ही **बलक्रिया** है। इस सारे प्रकरण पर विचार करने से यह स्पष्ट ही है कि वह परमात्मा समस्त ज्ञान तथा संसार के सभी प्रकार के क्रिया-कलापों का भी अधिष्ठाता है।

यस्मादेवं तस्मात्—

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥९॥

---

१. ज्ञानबलक्रिया सर्वज्ञेयविषयसर्वलक्षणानुभूतिर्ज्ञानक्रिया सा सर्वज्ञेयाकार-सर्वसत्त्वगुणपरिणामरूपक्रिययाऽभिव्यक्तत्वात्क्रियावदवभासत इति क्रियेत्युच्यते। सेश्वरस्य स्वरूपत्वात्स्वाभाविकी नान्यायत्तेति यावत्। बलक्रिया नाम स्वसंनिधिमात्रेण प्रकृतिप्राकृतं सर्वं वशीकृत्य नियमयति। सा च सर्वकल्पनाधिष्ठानभूतस्येश्वरस्य स्वाभाविकी। अथवा बलक्रिया बलं नामानन्तसत्ता तया सर्वस्य लब्धात्मकत्वात्सैव धातुवाच्यत्वात्क्रियेत्युच्यते। पृ० २४१।

शांकरभाष्यम्—

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके। अत एव न तस्येशिता नियन्ता। नैव च तस्य लिङ्गं चिह्नं धूमस्थानीयं येनानुमीयेत। स कारणं सर्वस्य कारणम्। करणाधिपाधिपः परमेश्वरः। यस्मादेवं तस्मान्न तस्य कश्चिज्जनिता जनयिता न चाधिपः ॥९॥

संसार में उसका स्वामी नहीं है, न कोई शासक है और न ही कोई चिह्न है। वह सब का कारण तथा समस्त करणों के अधिष्ठाताओं का भी (परम) कारण है। न कोई उसका जनक है और न कोई स्वामी (ही है)।

परमात्मा को मरीचि आदि लोकाध्यक्षों का पति बतलाया गया है अतः उसका कोई पति नहीं है। उसका कोई नियन्ता भी नहीं है। न ही उसका कोई चिह्न है जिसके द्वारा उसका अनुमान लगाया जा सके। उसके विषय में तो यही कहा जा सकता है कि वह प्रपञ्च नामक कार्य का एक मात्र कारण है। ब्रह्म सारे जगत् का कारण है यह बात तो वेदों के द्वारा ही सिद्ध है—यह बात अनुमानगम्य नहीं है। वह परमात्मा इस कार्य जगत् में इतना लीन है कि उस परमात्मा को लिंग कारण नहीं कहा जा सकता। वह परमात्मा हमारी सभी इन्द्रियों का भी स्वामी है। इतना ही नहीं इन्द्रियों द्वारा जितने भी क्रिया-कलाप का निष्पादन किया जाता है परमात्मा उस सब का भी कारण है। उस परमात्मा का कोई उत्पादक भी नहीं है और न ही कोई उसका स्वामी है।

इदानीं मन्त्रदृगभिप्रेतमर्थं प्रार्थयते—

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो
देव एकः स्वमावृणोत्। स नो दधाद्ब्रह्माप्ययम् ॥१०॥

शांकरभाष्यम्—

यस्तन्तुनाभ इति। यथोर्णनाभिरात्मप्रभवैस्तन्तुभिरात्मानमेव समावृणोति तथा प्रधानजैरव्यक्तप्रभवैर्नामरूपकर्मभिस्तन्तुस्थानीयैः स्वमात्मानमावृणोत् सञ्छादितवान्स नो मह्यं ब्रह्मण्यप्ययं ब्रह्माप्ययमेकीभावं दधाद्ददात्वित्यर्थः ॥१०॥

तन्तुओं से मकड़ी के समान उस देव ने (अपने आप को) स्वभावतः प्रधान-जनित (कार्यों) से आवृत किया है वह (देव) हम लोगों को परब्रह्म में आश्रय दे।

उपनिषदीय साहित्य में मकड़ी का प्रतीक अतीव महत्त्वपूर्ण प्रतीक है। इसका प्रयोग उपनिषदों में अनेक बार किया गया है। जिस प्रकार मकड़ी अपने शरीर को अपने तन्तुओं से ढक लेती है उसी प्रकार वह परमात्मा भी अपने द्वारा

उत्पन्न कार्यों द्वारा अपने आप को आच्छादित रखता है । वही परमात्मा हमें अपने आप में आश्रय प्रदान करे या ब्रह्म में एकीभाव प्रदान करे। **विज्ञानभगवान ब्रह्माप्ययम् के** स्थान पर **ब्रह्मण्यप्यय** पाठ स्वीकार करते हैं।

पुनरपि तमेव करतलन्यस्तामलकवत्साक्षाद्दर्शयंस्तद्विज्ञानादेव परमपुरुषार्थ-प्राप्तिर्नान्येनेति दर्शयति मन्त्रद्वयेन—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥११॥

शांकरभाष्यम्—

एको देव इति । एकोऽद्वितीयो देवो द्योतनस्वभावः सर्वभूतेषु गूढः सर्वप्राणिषु संवृतः । सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा स्वरूपभूत इत्यर्थः । कर्माध्यक्षः सर्वप्राणिकृतविचित्रकर्माधिष्ठाता । सर्वभूताधिवासः सर्वप्राणिषु वसतीत्यर्थः । सर्वेषां भूतानां साक्षी सर्वद्रष्टा । "साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्" (पा० सू० ५।२।९१) इति स्मरणात् । चेता चेतयिता । केवलो निरुपाधिकः । निर्गुणः सत्त्वादिगुणरहितः ॥११॥

वह देव सभी प्राणियों में छिपा हुआ है; सर्वव्यापी (तथा) समस्त प्राणियों में अन्तर्यामी (है), (वह) कर्मों का अधिष्ठाता, सभी प्राणियों में बसा हुआ, साक्षी, चेतन, विशुद्ध तथा निर्गुण है ।

परमात्मा सभी प्राणियों में विद्यमान है यह बात इस उपनिषद् में अनेक बार कही जा चुकी है । वह सर्वव्यापी है और सभी प्राणियों में अन्तर्यामी है । प्राणियों द्वारा किए जाने वाले सभी प्रकार के कर्मों का भी स्वामी है । आत्मा ही कर्मों का प्रवर्तक है । सभी प्राणियों में निवास करने के कारण ही परमात्मा को सर्वभूताधिवास कहा गया है । वह परमात्मा चेतन तथा अचेतन समग्र संसार में पुण्य तथा पापों का बीजभूत होकर कर्माध्यक्ष रूप में विद्यमान है । सभी पदार्थों को वह साक्षात् रूप से देखता है अतः वह साक्षी है । वह परमात्मा संसार को धारण करने की सत्ता रखता है और उसी सत्ता के द्वारा असुप्त अवस्था में संसार को व्यवहार योग्य बनाता है अथवा प्रलय अवस्था में केवल परमात्मा की सत्ता रहती है और सृष्टि-प्रक्रिया की अवस्था में संसार व्यवहार योग्य बन जाता है । सूर्य की प्रभा सभी को प्रकाशित करती है और कहीं पर भी विकार को प्राप्त नहीं होती है उसी प्रकार वह परमात्मा सभी को प्रकाशित करता है और कहीं पर भी दोष को प्राप्त नहीं होता है । वह परमात्मा चेतन स्वरूप है । वह परमात्मा विशुद्ध तथा त्रिगुणातीत भी है ।

एको वशी निष्क्रियाणां बहूना-
मेकं बीजं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१२॥

शांकरभाष्यम्—

एको वशीति । एको वशी स्वतन्त्रो निष्क्रियाणां बहूनां जीवानाम् । सर्वा हि क्रिया नात्मनि समवेताः किन्तु देहेन्द्रियेषु । आत्मा तु निष्क्रियो निर्गुणः सत्त्वादिगुणरहितः कूटस्थः सन्नानात्मधर्मानात्मन्यध्यस्याभिमन्यते कर्ता भोक्ता सुखी दुःखी कृशः स्थूलो मनुष्योऽमुष्य पुत्रोऽस्य नप्तेति । उक्तं च—

"प्रकृतेः क्रियमाणानि
गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा
कर्ताहमिति मन्यते ॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो
गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त
इति मत्वा न सज्जते ॥
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः
सज्जन्ते गुणकर्मसु ॥"
(गीता ३।२७-२९)

इति ।

एकं बीजं बीजस्थानीयं भूतसूक्ष्मं बहुधा यः करोति तमात्मस्थं बुद्धौ स्थितं येऽनुपश्यन्ति साक्षाज्जानन्ति धीरा बुद्धिमन्तस्तेषामात्मविदां सुखं शाश्वतं नेतरेषामनात्मविदाम् ॥१२॥

जो अकेला (ही) वशी अनेक निष्क्रिय बीजों के एक बीज को अनेक रूपों में परिणत कर देता है, उस हृदयस्थित परमात्मा को जो धैर्यवान पुरुष देखते हैं उन्हीं लोगों को शाश्वत सुख की (प्राप्ति होती है) और लोगों को नहीं ।

परमात्मा स्वयं वर्णहीन होता हुआ भी नाना प्रकार के वर्णों का निर्माण करता है यह बात इस उपनिषद् (४.१) में पहले भी कही जा चुकी है । परमात्मा को वशी इसलिए कहा गया है कि सब कुछ उसी के अधीन रहता है । जितने भी प्रवृत्तिहीन तथा क्रियाहीन पदार्थ हैं उन सभी में परमात्मा ही स्फुरण उत्पन्न करता है । सभी टीकाकार **बीज** का अर्थ माया करते हैं और उनका कहना है कि वह परमात्मा मायारूप बीज को अनेक प्रकार से उत्पन्न करता है । संसार में संचित, विहित तथा प्रतिषिद्ध कर्मों से प्रेरित होकर मायोपाधिक परमेश्वर मायाबीज अर्थात्

महदादि को अनेक आकार वाला बनाता है। वह परमात्मा समष्टि (कार्य) तथा व्यष्टि (करण) रूप में तथा हिरण्यगर्भ के रूप में चेतन स्वरूप बनकर अपने आप को अनेक रूप में परिणत कर देता है। वह परमात्मा प्रलय काल में अपनी लीला के द्वारा किए गए निष्क्रिय, अर्थात् प्राणियों के भोगार्थ, मोक्षार्थ तथा क्रियासिद्धि के लिए किये गए मात्र एक बीज को ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, पितृ मनुष्य आदि में नाना प्रकार से परिणत कर देता है। संसार रूपी सागर की काम, क्रोध तथा लोभादि लहरों से अकम्पित धैर्यवान लोग उस परमात्मा को अपनी अन्तरात्मा में देख पाते हैं और वे ही लोग शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर सकते हैं। जो विवेकी तथा ज्ञानवान लोग **'अहं ब्रह्मास्मीति'** रूप में परमात्मा का साक्षात्कार कर लेते हैं वे लोग शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेते हैं तथा ईश्वरैकत्वज्ञान से रहित लोगों को चिरन्तन बनी रहने वाली शान्ति उपलब्ध नहीं होती है।

किञ्च—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१३॥

शांकरभाष्यम्—

नित्य इति। नित्यो नित्यानां जीवानां मध्ये तन्नित्यत्वेन तेषामपि नित्यत्वमित्यभिप्रायः। अथवा पृथिव्यादीनां मध्ये। तथा चेतनश्चेतनानां प्रमातॄणां मध्ये। एको बहूनां जीवानां यो विदधाति प्रयच्छति कामान्कामनिमित्तान्भोगान्। सर्वस्य सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं ज्योतिर्मयं मुच्यते सर्वपाशैरविद्यादिभिः ॥१३॥

जो नित्यों में नित्य, चेतनावानों में चेतन और अकेला ही बहुतों की इच्छापूर्ति करता है, सांख्ययोग द्वारा प्राप्तव्य, सभी के कारण देव को जानकर (मनुष्य) सभी पाशों से मुक्त हो जाता है।

परमात्मा सारे संसार में ओत-प्रोत है यह बात उपनिषदों में अनेक स्थानों पर कही गई है। वह परमात्मा नित्य पदार्थों तथा चेतन पदार्थों में समान रूप से व्याप्त है। लोक प्रसिद्ध आकाश आदि नित्य तत्त्वों में भी परमात्मा विद्यमान है तथा सोपाधिक तथा ज्ञानवान जीवों में भी वही परमात्मा विद्यमान है। सभी टीकाकार **नित्यानाम्** का अर्थ आकाशादि नित्य पदार्थ करते हैं। वह अकेला ही नाना प्रकार के जीवों की कामनाओं की पूर्ति करता है। अखण्डसुखसंविदरूप परमात्मा ही संसार के सभी प्राणियों की इच्छा-पूर्ति करता है। वह परमात्मा सांख्य तथा योग के द्वारा प्रापणीय है। भारतीय दर्शनों में विहित सभी मार्ग किसी-न-किसी

प्रकार से परमपद सायुज्य की प्राप्ति का ही निर्देश करते हैं। सांख्यदर्शन में प्रकृति एवं पुरुष के सम्मिश्रण से संसार की उत्पत्ति की कल्पना की गई है जबकि योग दर्शन यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, प्राणायाम, धारणा, ध्यान एवं समाधि के माध्यम से चित्तवृत्तियों के निरोध द्वारा ईश्वर प्रणिधान का मार्ग प्रशस्त करता है। **शंकरानन्द**[1] यह मानते हैं कि जिसके द्वारा आत्मतत्त्व सम्यक् प्रकार से प्रकाशित होता है वही सांख्य है तथा अष्टांगयोग के माध्यम से अथवा वैदिक अनुष्ठानों के माध्यम से जीवात्मा तथा परमात्मा का तादात्म्य-ज्ञान जिस शास्त्र से होता है उस शास्त्र का नाम योगशास्त्र है। **नारायण**[2] भी यही परिभाषा स्वीकार करते हुए कहते हैं कि सांख्य के द्वारा आत्मा भली भाँति प्रकाशित होती है तथा योग द्वारा निष्काम कर्मानुष्ठान एवं आसन, प्राणायाम आदि के माध्यम द्वारा चित्तनिरोध की प्राप्ति होती है। **विज्ञानभगवान** तथा **उपनिषद्ब्रह्मयोगी** यह मानते हैं कि वेदान्तशास्त्र में प्रसिद्ध "**अहं ब्रह्मास्मीति**" नामक महावाक्य द्वारा सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होता है तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासन, आसन आदि ज्ञान के साधन हैं।[3] इस प्रकार सांख्य एवं योग द्वारा ज्ञातव्य परमात्मा को जान कर मनुष्य सभी प्रकार के पाशों से मुक्त हो जाता है। विद्या, काम तथा कर्म ही वास्तव में पाश हैं जिनके द्वारा मनुष्य निरन्तर संसार में बँधता रहता है।

कथं चेतनश्चेतनानाम्? इत्युच्यते—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१४॥

शांकरभाष्यम्—

न तत्रेति। तत्र तस्मिन्परमात्मनि सर्वावभासकोऽपि सूर्यो न भाति ब्रह्म न प्रकाशयतीत्यर्थः। स हि तस्यैव भासा सर्वात्मनो रूपजातं प्रकाशयति। न तस्य स्वतःप्रकाशनसामर्थ्यम्। तथा न चन्द्रतारकम्। नेमा विद्युतो भान्ति।

---

१. सम्यक्ख्यायते प्रकाश्यत आत्मतत्त्वं येन विज्ञानेन तत्सांख्यं योगो जीवपरमात्मनोस्तादात्म्यज्ञानफलोऽष्टांगयोगरूपो वैदिकर्मानुष्ठानादिरूपो वा। पृ० १३९।

२. संख्यायत आत्माऽनेनेति सांख्यं ज्ञानं योगो निष्कामकर्मानुष्ठानमासनप्राणायामादिसाध्यश्चित्तनिरोधो वा ताभ्यामधिगम्यम्। पृ० १७५।

३. सांख्यं वेदान्तमहावाक्यतात्पर्यजन्यमहं ब्रह्मास्मीति सम्यग्ज्ञानं योगस्तत्साधनश्रवणमनननिदिध्यासनादिस्ताभ्याम् (विज्ञानभगवान) पृ० २४६।

कुतोऽयमग्निरस्मद्गोचरः । किं बहुना यदिदं जगद्भाति तमेव स्वतो भारूपत्वाद्भान्तं दीप्यमानमनुभात्यनुदीप्यते । यथा लोहादि वह्निं दहन्तमनुदहति न स्वतः । तस्यैव भासा दीप्त्या सर्वमिदं सूर्यादि भाति । उक्तं च—"येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।" (गीता १५।६) इति ॥१४॥

न वहाँ सूर्य चमकता है, न चाँद (और) (न ही) तारे, ये बिजलियाँ भी (वहाँ) नहीं चमकती हैं तो यह अग्नि कहाँ से (चमक सकती है)। ये सब उसके चमकने से चमकते हैं और यह सारा जगत् उसी की चमक से जगमगाता है।

संसार में वस्तुओं की विचित्र शक्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं। काल एवं निमित्त के संयोग से चन्द्रमा की किरणों से सारा नभोमण्डल प्रकाशित हो जाता है। चन्द्रमा की चाँदनी से सारा संसार देदीप्यमान होने लगता है परन्तु वह परमात्मा तो स्वयंप्रकाश है उसको किसी भी प्रकार के बाह्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। सूर्य जो समग्र संसार को प्रकाशित करता है वह अपनी प्रकाशित करने की शक्ति स्वयं परमात्मा से ग्रहण करता है। इसी प्रकार चन्द्रमा, बिजली तथा अग्नि—ये सभी अपना प्रकाश परमात्मा से ग्रहण करते हैं। संसार में जो कुछ भी प्रकाशित होता है यह सब उस परमात्मा के प्रकाशित होने पर ही प्रकाशित होता है। यह सारा संसार उसी के प्रकाश से प्रकाशित होता है।

———

ज्ञात्वा देवं मुच्यत इत्युक्तम् । कस्मात्पुनस्तमेव विदित्वा मुच्यते नान्येनेत्यत्राह—

एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये
स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥१५॥

शांकरभाष्यम्—

एक इति । एकः परमात्मा हन्त्यविद्यादिबन्धकारणमिति हंसो भुवनस्यास्य त्रैलोक्यस्य मध्ये नान्यः कश्चित् । कस्मात् ? यस्मात्स एवाग्निः । अग्निरिवाग्निरविद्यातत्कार्यस्य दाहकत्वात् । उक्तं च—"व्योमातीतोऽग्निरीश्वरः" इति । सलिले देहात्मना परिणते । उक्तं च—"इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" (छा० उ० ५।९।१) इति संनिविष्टः सम्यगात्मत्वेन निविष्टः । अथवा सलिले सलिल इव स्वच्छे यज्ञदानादिना विमलीकृतेऽन्तःकरणे संनिविष्टो वेदान्तवाक्यार्थसम्यग्ज्ञान-

फलकारूढोऽविद्यातत्कार्यस्य दाहक इत्यर्थः। तस्मात्तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥१५॥

इस लोक के बीच में एक हंस है (और) वही जल में स्थित अग्नि है। उसे इस प्रकार जानकर (पुरुष) मृत्यु को पार कर जाता है। इसके अतिरिक्त दिव्य धाम की प्राप्ति के लिए अन्य मार्ग नहीं (है)।

पिछले मन्त्र में यह बतलाया जा चुका है कि परमात्मा के प्रकाश से ही सब कुछ प्रकाशित होता है। जिस परमात्मा के प्रकाश से यह सारा ब्रह्माण्ड प्रकाशित होता है वही परमेश्वर जल में भी विद्यमान है। प्रकृत मन्त्र में परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाली बात कही गई है कि अग्नि जल में स्थित रहती है। वास्तव में यह कोई नई बात नहीं है क्योंकि यह कहा जाता है कि समुद्र में बड़वानल नामक अग्नि सदैव विद्यमान रहती है जो समुद्र के जल से और अधिक प्रज्वलित होती है, यद्यपि साधारण रूप में जल अग्नि की शान्ति का कारण है। इस सारे भुवन-मण्डल में एक **हंस** स्थित रहता है। यह हंस क्या है? यह हंस एक ओर तो उस परमात्मा का अंशभूत जीवात्मा है तथा दूसरी ओर स्वयं परमात्मा भी है। **शंकरानन्द**[1] के अनुसार इसको **हंस** इसलिए कहा जाता है कि यह आत्म-ज्ञान द्वारा भेद का हनन करता है। **नारायण**[2] यह मानते हैं कि यह संसार के अज्ञान का हनन करता है। **विज्ञानभगवान**[3] इस प्रसंग में कहते हैं कि **हंस** स्थिति की अवस्था को प्राप्त होता है और फिर उसको छोड़कर स्वप्न अवस्था को प्राप्त होता है, उसको भी छोड़कर सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होता है; इसके पश्चात् उस स्थिति का भी परित्याग कर "**अहं ब्रह्मास्मीति**" —नामक महावाक्य द्वारा सम्यक् ज्ञान की स्थिति को प्राप्त होकर भ्रम को उत्पन्न करने वाली अविद्या का विनाश करके परमपद को प्राप्त करता है। **उपनिषद्ब्रह्मयोगी हंस** को परमात्मा मानते हैं। **शंकराचार्य** भी यही मानते हैं कि एक परमात्मा, जो अविद्यादि बन्धन के कारण का हनन करता है, इस लिए **हंस** है। **विज्ञानभगवान** के अनुसार इस मन्त्र में प्रयुक्त **अग्नि** प्रतीकात्मक है। उनका कहना है कि जैसे उत्तरारणि तथा अधरारणि के मन्थन द्वारा अग्नि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार गुरु रूपी उत्तरारणि तथा शिष्य रूपी अधरारणि के श्रवण तथा मनन रूपी मन्थन द्वारा सम्यक् ज्ञान रूपी अग्नि की उत्पत्ति होती है और इसके द्वारा अविद्या आदि का विनाश करके मनुष्य मोक्ष को प्राप्त करता है। इस

---

१. आत्मज्ञानेन भेदं हन्तीति हंसः। पृ० १४०।

२. हंसो हन्त्यज्ञानमिति भुवनस्य। पृ० १७६।

३. हंसः स्थित्यवस्थां याति तामपि हत्वा स्वप्नावस्थां याति पुनस्तामपि हत्वा सुषुप्त्यवस्थां याति तामपि हत्वा पुनरहं ब्रह्मास्मीति सम्यग्ज्ञानफलकारूढः स्वव्यवधायकद्वैतभ्रमहेत्वविद्यां हत्वा प्रत्यक्त्वं यातीति हंसः। पृ० २४६।

पद्धति से मोक्ष-प्राप्ति करना ही प्रतीकात्मक रूप में अग्नि है।[1] उपनिषद्ब्रह्मयोगी का कहना है कि वही अग्नि अन्तःकरण में विद्यमान रहती है। जीवात्मा जब उस परमात्मा को इस प्रकार जान लेता है तो वह मृत्यु का भी संतरण कर लेता है। अन्त में उपनिषत्कार यह सिद्ध करना चाहता है कि या तो उस परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करो और ज्ञान प्राप्त करके मृत्यु को पार करो, अन्यथा इसके अतिरिक्त मोक्ष प्राप्ति का कोई अन्य साधन नहीं है।

परमपदप्राप्तये पुनरपि तमेव विशेषतो दर्शयति—

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनि-
र्ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः
संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥१६॥

शांकरभाष्यम्—

स विश्वकृदिति। स विश्वकृद्विश्वस्य कर्ता। विश्वं वेत्तीति विश्ववित्। आत्मा चासौ योनिश्चेत्यात्मयोनिः। जानातीति ज्ञः। सर्वस्यात्मा सर्वस्य च योनिः सर्वज्ञश्चैतन्यज्योतिरित्यर्थः। कालकारः कालस्य कर्ता गुण्यपहतपाप्मादिमान्विश्व-विदित्यस्य प्रपञ्चः। प्रधानमव्यक्तम्। क्षेत्रज्ञो विज्ञानात्मा। तयोः पतिः पालयिता। गुणानां सत्त्वरजस्तमसामीशः। संसारमोक्षस्थितिबन्धानां हेतुः कारणम् ॥१६॥

वह विश्वकर्ता, विश्ववेत्ता, स्वयंभू, ज्ञाता, कालकर्ता, गुणी, सर्वज्ञ, प्रकृति तथा जीवात्मा का स्वामी, गुणों का स्वामी, तथा संसार के मोक्ष, स्थिति तथा बन्धन का कारण है।

वह परमात्मा अपनी माया से सारे संसार का निर्माण करता है इसलिए उसको **विश्वकृत्** कहा गया है। वह परमात्मा सारे संसार को अपरोक्ष रूप से जानता है। वह आत्मयोनि है—अर्थात् स्वयं अपनी योनि (कारण) है, उसको किसी कार्यान्तर की अपेक्षा नहीं है। या सभी आत्माओं का भी वह कारण है क्योंकि श्रुति का यह कथन है कि सुर, नर, तिर्यक्—इन सभी की आत्माओं का भी वही एक मात्र कारण है। वह परमात्मा चित्स्वरूप है। काल सभी का उपसंहर्ता है परन्तु परमेश्वर काल का भी उपसंहर्ता है। वह मायाशक्ति का भी स्वामी है।

---

१. उत्तराधरारणिस्थानीयगुरुशिष्ययोः संघर्षणरूपमन्थनस्थानीयश्रवणमननादि-जन्यसम्यग्ज्ञानफलकारूढः सत्स्वतिरस्कारकाविद्यातत्कार्याणि स्वतावन्मात्रतया दग्ध्वाऽद्वितीयवपुषा मोक्षेऽवतिष्ठत इत्यग्निरित्युच्यते। पृ० २४७।

परमात्मा सर्वज्ञ है क्योंकि सभी विद्याएँ उसी से संबंधित हैं। उसके जानने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है (**तस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति**)। माया ही **प्रधान** है और **क्षेत्रज्ञ** जीव है तथा परमात्मा माया एवं जीव का स्वामी है। वह परमात्मा माया तथा जीव दोनों का ही पालयिता है। प्रकृत मन्त्र में परमात्मा को प्रधान तथा क्षेत्रज्ञ का स्वामी बतलाया गया है। वास्तव में ये दोनों ही शब्द सांख्य शास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। सांख्य दर्शन में **प्रधान** पद का प्रयोग मुख्य रूप से जगत् की प्रलय अवस्था को सूचित करता है—'**प्रकर्षेण धीयते अन्तर्लीयते सर्वं जगत् यस्मिन्स्तत्**' अर्थात् जिसमें समस्त जगत् भली-भाँति लीन हो जाता है।[1] जहाँ तक **क्षेत्रज्ञ** का प्रश्न है **गीता** (१३.१-६) में इस पर विस्तार से विचार किया गया है। वहाँ पर क्षेत्र का यह रूप प्रतिपादित किया गया है: यह शरीर क्षेत्र है और इसको जानने वाला चेतनतत्त्व क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। प्रत्येक शरीर में एक ज्ञाता चेतनतत्त्व वर्तमान रहता है तथा सम्पूर्ण शरीरों अर्थात् अखिल ब्रह्माण्डरूप शरीर में जो एक चेतनतत्त्व परमात्मा है वह भी क्षेत्रज्ञ है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान अर्थात् जड़ और चेतन के वास्तविक भेद अथवा स्वरूप का साक्षात् ज्ञान ही आत्मा या परमात्मा का ज्ञान कहा जाता है। सामान्यतया **क्षेत्र** की परिधि में इन तत्त्वों का समावेश किया जाता है: **महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त, एकादश इन्द्रिय और पाँच तन्मात्राएं**—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द। आगे जाकर गीता (१३.७-११) में **क्षेत्रज्ञ** तथा (१३.२०-२१) में जीव-**क्षेत्रज्ञ** का वर्णन किया गया है। यह जीव-पुरुष ही सुख-दुःख का भोक्ता है, सदसद् योनियों में इसका जन्म होते रहने के कारण सत्त्व, रजस् तथा तमोगुण के साथ इसकी आसक्ति होना स्वाभाविक है। **गीता** तथा **सांख्यदर्शन** में प्रतिपादित **क्षेत्र** तथा **क्षेत्रज्ञ** के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि **क्षेत्र** सामान्यतया शरीर का वाचक है तथा **क्षेत्रज्ञ** उसमें निवास करने वाला परमात्मा का अंशभूत चेतनतत्त्व जीवात्मा ही है। वह परमात्मा सत्त्व, रजस् तथा तमोगुण का भी स्वामी है। वही परमात्मा संसार की स्थिति, मोक्ष तथा बन्धन का भी एकमात्र कारण है।

किञ्च—

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो
ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता।
य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव
नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥१७॥

---

१. विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए: सांख्यसिद्धान्त, उदयवीरशास्त्री, पृ० १३८-१३९

शांकरभाष्यम्—

स तन्मय इति। स तन्मयो विश्वात्मा। अथवा तन्मयो ज्योतिर्मय इति 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इत्येतदपेक्षयोच्यते। अमृतोऽमरणधर्मा। ईशे स्वामिनि सम्यक्स्थितिर्यस्यासावीशसंस्थः। जानातीति ज्ञः। सर्वत्र गच्छतीति सर्वगः। भुवनस्यास्य गोप्ता पालयिता। य ईश ईष्टेऽस्य जगतो नित्यमेव नियमेन नान्यो हेतुः समर्थो विद्यत ईशनाय जगदीशनाय ॥१७॥

वह तन्मय, अमृतस्वरूप, ईश्वररूप में स्थित, सर्वज्ञ, सर्वगत, इस लोक का रक्षक है, जो सदैव ही इस संसार का शासन करता है; (इस लोक का) शासन करने के लिए अन्य कोई समर्थ नहीं है।

वह परमात्मा ही प्रधान तथा क्षेत्रज्ञ स्वरूप है। वह अमरणधर्मा है। वह परमात्मा ही बन्धन तथा मोक्ष का मात्र एक कारण है। वही परमात्मा ईश्वर रूप में सम्यक् स्थित है। अथवा उसकी महिमा में ही सबकी सम्यक् स्थिति (प्रलय) होती है।[1] वह परमात्मा चिद्रूपात्मक है। वह परमात्मा सर्वत्र साक्षी रूप में विद्यमान रहता है। वह परमात्मा इस प्रपञ्च-जगत् को आनन्द प्रदान करने के कारण से ही इसका रक्षक है। स्वयंप्रकाश तथा आनन्दरूप परमात्मा इस संसार पर सदैव ही शासन करता है। हिरण्यगर्भ, कर्म तथा उपासना आदि से उत्पन्न होने वाली सहजसिद्धि इस संसार के नियमन का कारण नहीं बन सकती। संसार पर शासन करने के लिए वह ईश्वर ही एक मात्र हेतु है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई हेतु नहीं हो सकता। दूसरा कोई भी इस जगत् पर शासन करने के लिए उपयुक्त हेतु नहीं प्रतीत होता क्योंकि दूसरा कोई भी सब पर शासन करने में समर्थ नहीं है।

यस्मात्स एव संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुस्तस्मात्तमेव मुमुक्षुः सर्वात्मना शरणं प्रपद्येत गच्छेदिति प्रतिपादयितुमाह—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥१८॥

1. अथवेशे स्वमहिम्नि संस्था सम्यक्स्थितिर्यस्य स ईशसंस्थः। (विज्ञानभगवान) पृ० २४८।

शांकरभाष्यम्—

यो ब्रह्माणमिति । यो ब्रह्माणं हिरण्यगर्भं विदधाति सृष्टवान्पूर्वं सर्गादौ । यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । तं ह हशब्दोऽवधारणे । तमेव परमात्मानम् । उक्तं च—

"तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद्बहूँञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ॥"
(बृ० उ० ४।४।२१)

"तमेवैकं जानथात्मानम्" (मु० उ० २।२।५) इति च । देवं ज्योतिर्मयम् । आत्मनि या बुद्धिस्तस्याः प्रसादकरम् । प्रसन्ने हि परमेश्वरे बुद्धिरपि तद्विषया प्रमा निष्प्रपञ्चाकारब्रह्मात्मनावतिष्ठते वर्तते । आत्मबुद्धिप्रकाशमित्यन्येऽधीयते । आत्मबुद्धिं प्रकाशयतीत्यात्मबुद्धिप्रकाशम् । अथवात्मैव बुद्धिरात्मबुद्धिः सैव प्रकाशोऽस्येत्यात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै वैशब्दोऽवधारणे मुमुक्षुरेव सन्न फलान्तरमिच्छन्शरणमहं प्रपद्ये ॥१८॥

जो पहले ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और जो उसके लिए वेदों को प्रवृत्त करता है, आत्म (विषयक) बुद्धि को प्रकाशित करने वाले उस देव की मैं मुमुक्षु शरण में जाता हूँ ।

परमात्मा ने सबसे पहले ब्रह्मा को उत्पन्न किया । वास्तव में ब्रह्मा की यह उत्पत्ति अपने-आप में प्रतीकात्मक है । परमात्मा ने सबसे पहले सर्ग के आदि में जीवों के समष्टिभूत हिरण्यगर्भ को अपनी माया से उत्पन्न किया । हिरण्यगर्भ की यह उत्पत्ति ही ब्रह्मा की उत्पत्ति की उद्भावक है । उसके उपरान्त उस परमेश्वर ने महाप्रलय के पश्चात् जो ज्ञानसंप्रदाय विच्छिन्न हो गए थे उन सबको हिरण्यगर्भ के लिए प्रदान किया । इस सारे प्रसंग से यह स्पष्ट हो जाता है कि परमात्मा ने सबसे पहले सृष्टि की उत्पत्ति की और उसके पश्चात् उसमें ज्ञान को भी प्रवृत्त किया । जिस परमात्मा ने यह सब सम्पन्न किया मैं मुमुक्षु उसकी शरण में जाता हूँ । **आत्मबुद्धिप्रकाशम्** के स्थान पर **आत्मबुद्धिप्रसादम** पाठ भी उपलब्ध होता है । वह परमात्मा ही अपने विषय से संबंधित बुद्धि को प्रकाशित करता है और **"अहं ब्रह्मास्मीति"**—नामक महावाक्य द्वारा ही उस परमात्मा का स्वरूप प्रकाशित होता है । **विज्ञानभगवान**[1] कहते हैं कि **स्वरूपानुभव ज्ञान** ही **बुद्धि** है और वह जिसके द्वारा प्रकाशित हो उसे **आत्मबुद्धि**प्रकाश कहा जाता है । मोक्ष-प्राप्ति का इच्छुक मैं उस ऐसे परमात्मा की शरण में जाता हूँ ।

———

१. बुद्धिर्नाम ज्ञानं स्वरूपानुभवः स एव प्रकाशोऽस्येत्यात्मबुद्धिप्रकाशस्तमात्मबुद्धिप्रकाशमित्येवं योजयितव्यम् । पृ० २४६ ।

एवं तावत्सृष्ट्यादिना यल्लक्ष्यं स्वरूपं दर्शितम्, अथेदानीं तत्स्वरूपेण दर्शयति—

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥१९॥

शांकरभाष्यम्—

निष्कलमिति । कला अवयवा निर्गता यस्मात्तं निष्कलं निरवयवमित्यर्थः । निष्क्रियं स्वमहिमप्रतिष्ठितं कूटस्थमित्यर्थः । शान्तमुपसंहृतसर्वविकारम् । निरवद्यमगर्हणीयम् । निरञ्जनं निर्लेपम् । अमृतस्यामृतत्वस्य मोक्षस्य प्राप्तये सेतुरिव सेतुः संसारमहोदधेरुत्तारणोपायत्वात्तम् अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनानलमिव देदीप्यमानं झटझटायमानम् ॥१९॥

कलाहीन, निष्क्रिय, शान्त, निर्दोष, निर्मल, अमृत का परम् सेतु और जिसका इन्धन जल चुका है उस अग्नि के समान (निर्मल ज्योतिस्वरूप देव की मैं शरण में जाता हूँ) ।

परमात्मा कलाहीन, निष्क्रिय, शान्त, निर्दोष तथा निर्लेप है । परमात्मा को यहाँ अमृत का सर्वोत्कृष्ट सेतु इसलिए बतलाया गया है क्योंकि उसका आश्रय लेकर मनुष्य अत्यन्त सरलता से इस संसार-सागर को पार कर सकता है। **विज्ञानभगवान**[1] यह मानते हैं कि **"अहं ब्रह्मास्मीति"** नामक महावाक्य से सम्यग् बुद्धि के द्वारा जहाँ अविद्या आदि का विनाश होता है और निवृत्ति की उत्पत्ति होती है तब वह निवृत्ति-स्वरूप ही वास्तव में संसार-सागर को पार करने के लिए सर्वोत्कृष्ट सेतु है । संसार में प्रवर्तित अविद्या का जब विनाश हो जाता है और जीव तथा परमात्मा का ऐक्यभाव प्रतिष्ठित हो जाता है तो उस ऐक्यभाव द्वारा अनन्त सुखचिन्मात्र की उपलब्धि से मोक्ष की स्थिति में जाना ही उस अग्नि के समान है जिसका इन्धन जल चुका है ।[2] जब लकड़ी का पार्थिव अंश जल जाने के बाद धधकते हुए अंगारों वाली अग्नि के समान सर्वथा निर्विकार, निर्मल, प्रकाशस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, परम चेतन रूप अवशिष्ट रह जाता है उसी प्रकार निर्गुण एवं निराकार परमात्मा के पास मैं तत्त्व जानने के लिए उनकी शरण में जाता हूँ ।

---

१. अमृतस्य परं सेतुरमृतस्य संसारतद्धेतुनिवृत्तिलक्षणमोक्षस्य परं परमं सेतुं सेतुरिव सेतुस्तम् अहं ब्रह्मास्मीति बुद्धौ प्रतिबिम्बतत्त्वेन बुद्धिसंस्पृष्टं तत्त्वमविद्यातत्कार्यनिवृत्तिशब्दवाच्यतया निवृत्तिस्वरूपं सत्सेतुर्भवति । पृ० २५० ।

२. बुद्धिसंबन्धेनोपलक्षितं जीवपरैक्यं तत्त्वं स्वतिरस्कारकाविद्यातन्मूलं द्वैतप्रपञ्चं स्वतावन्मात्रतया दग्ध्वाऽनन्तसुखचिन्मात्रतया मोक्षेऽवस्थितमिति दग्धेन्धनानलमिवेत्युच्यते (विज्ञानभगवान) । पृ० २५० ।

किमिति तमेव विदित्वा मुच्यते नान्येन ? इति तत्राह—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥२०॥

शांकरभाष्यम् —

यदेति । यदा यद्वच्चर्म सङ्कोचयिष्यति तद्वदाकाशममूर्तं व्यापिनं यदि वेष्टयिष्यन्ति संवेष्टयिष्यन्ति मानवास्तदा देवं ज्योतिर्मयमनुदितानस्तमितज्ञानात्मनावस्थितमशनायाद्यसंस्पृष्टं परमात्मानमविज्ञाय दुःखस्याध्यात्मिकस्याधिभौतिकस्याधिदैविकस्यान्तो विनाशो भविष्यति । आत्माज्ञाननिमित्तत्वात्संसारस्य ।

यावत्परमात्मानमात्मत्वेन न जानाति तावत्तापत्रयाभिभूतो मकरादिभिरिव रागादिभिरितस्ततः कृष्यमाणः प्रेततिर्यङ्मनुष्यादियोनिष्वज एव जीवभावमापन्नो मोमुह्यमानः संसरति । यदा पुनरपूर्वमनपरं नेति नेतीत्यादिलक्षणमशनायाद्यसंस्पृष्टमनुदितानस्तमितज्ञानात्मनावस्थितं पूर्णानन्दं परमात्मानमात्मत्वेन साक्षाज्जानाति तदा निरस्ताज्ञानतत्कार्यः पूर्णानन्दो भवतीत्यर्थः ।

जब लोग चमड़े के समान आकाश को लपेट लेंगे तब उस देव को बिना जाने भी दुःख का अन्त हो जाएगा ।

प्रकृत मन्त्र में मूर्त तथा अमूर्त प्रतीकों के माध्यम से यह समझाया गया है कि परमात्मा को जाने बिना दुःख का अन्त नहीं हो सकेगा । यहाँ चर्म मूर्त प्रतीक है और आकाश अमूर्त प्रतीक है । आकाश को चर्म के समान लपेटना असम्भव है । सामान्यतया हम अपने चारों ओर किसी भी मूर्त वस्त्र (चादर, कपड़े आदि) को लपेट सकते हैं परन्तु आकाश को कपड़े या चर्म के समान नहीं लपेट सकते । इसका आशय यह हुआ कि आकाश को चर्म के समान लपेटना अपने आप में असम्भव कार्य है । ठीक उसी प्रकार ही उस रुद्र-शिवात्मक देव को जाने बिना दुःख का अन्त होना भी असम्भव बात है । **नारायण** का इस प्रसंग में कहना है कि जब मनुष्य चर्म को अपने शरीर पर लपेट लेंगे तो ईश्वर को बिना जाने ही अर्थात् ब्रह्मज्ञान के बिना ही दुःख की निवृत्ति हो जाएगी । इसके साथ-साथ उनका कहना है कि ईश्वर उस समय जीव के विश्राम के लिए अप्राकृत (असामयिक) प्रलय कर देंगे । इसलिए ही दुःख के अन्त की बात कही गई है न कि आनन्द-प्राप्ति की । कुछ लोगों का कहना है कि दुःख का अन्त ही वास्तव में मोक्ष है । इसके अतिरिक्त वे एक सुझाव प्रस्तुत करते हैं : मुमुक्षु लोग कर्म के माध्यम से देव को जाने बिना जब आकाश को मृगचर्म के समान अपने शरीर पर लपेट लेंगे अर्थात् त्यागपरक हो जाएगें तब ही दुःख का अन्त होगा । या जैसे अमूर्त आकाश को चर्म के समान लपेटना असंभव है उसी प्रकार देव को जाने बिना मोक्ष असंभव है ।[1]

———

१. यद्वा यथाऽमूर्तस्याऽऽकाशस्य चर्मवत्परिधानासंभवस्तथा देवाज्ञाने मोक्षासंभव इत्येवंपरमेतत् । (नारायण) पृ० १७७ ।

सम्प्रदायपरम्परया ब्रह्मविद्याया मोक्षप्रदत्वं प्रदर्शयितुं सम्प्रदायं विद्याधिकारिणं च दर्शयति—

तपःप्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म
ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान् ।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं
प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम् ॥२१॥

शांकरभाष्यम्—

तपःप्रभावादिति । तपसः कृच्छ्रचान्द्रायणादिलक्षणस्य, तत्र तपःशब्दस्य रूढत्वात् । नित्यादीनां विधिवदनुष्ठितानां कर्मणामुपलक्षणमिदम्; "मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः" इति स्मरणात् । तस्य च सर्वस्य तपसस्तस्मिञ्श्वेताश्वतरे नियमेन सत्त्वात्तत्प्रभावात्तत्सामर्थ्याद्देवप्रसादाच्च कैवल्यमुद्दिश्य तदधिकारसिद्धये बहुजन्मसु सम्यगाराधितपरमेश्वरस्य प्रसादाच्च ब्रह्मापरिच्छिन्नमहत्त्वम् । ह इति प्रसिद्धिद्योतनार्थः । श्वेताश्वतरो नाम ऋषिर्विद्वान्यथोक्तं ब्रह्म परम्पराप्राप्तं गुरुमुखाच्छ्रुत्वा मनननिदिध्यासनादरनैरन्तर्यसत्कारादिभिर्ब्रह्माहमस्मीत्यपरोक्षीकृताखण्डसाक्षात्कारवान् । अथ स्वानुभवदार्ढ्यानन्तरमत्याश्रमिभ्यः । "अतिः पूजायाम्" इति स्मरणादत्यन्तं पूज्यतमाश्रमिभ्यः साधनचतुष्टयसम्पत्तिमहिम्ना स्वेषु देहादिष्वपि जीवनभोगादिष्वनास्थावद्भ्यः । अत एव वैराग्यपुष्कलवद्भ्यः । ...

तेभ्योऽत्याश्रमिभ्यः परमं प्रकृतं ब्रह्म तदेव परममुत्कृष्टतमं निरस्तसमस्ताविद्यातत्कार्यनिरतिशयसुखैकरसं पवित्रं शुद्धं प्रकृतिप्राकृतादिमलविनिर्मुक्तम् । ऋषिसंघजुष्टं वामदेवसनकादीनां संघैः समूहैर्जुष्टं सेवितमात्मत्वेन सम्यक्परिभावितप्रियतमानन्दत्वेनाश्रितम्, "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" (बृह० उ० ४।५।६) इति श्रुतेः । सम्यगात्मतयापरोक्षीकृतं यथा भवति तथा । सम्यगित्यस्य काकाक्षिन्यायेनोभयत्रानुषङ्गः कर्तव्यः । प्रोवाचोक्तवान् ॥२१॥

श्वेताश्वतर नामक ऋषि ने तपस्या के प्रभाव तथा देव के प्रसाद से (उस) ब्रह्म को जाना (और) ऋषि-समुदाय से सेवित परम पवित्र (ब्रह्मतत्त्व) को सम्यक् प्रकार से परमहंस संन्यासियों को उपदेश दिया ।

श्वेताश्वतर नामक ऋषि ने अपने सम्प्रदाय में परम्परा से चली आ रही विद्या का ज्ञान उन परमहंस संन्यासियों को दिया जो किसी भी आश्रम की कोटि में नहीं आते थे । यह स्पष्ट ही है कि श्वेताश्वतर ऋषि ने इस विद्या को प्राप्त करने के लिए स्वयं पर्याप्त तपश्चरण किया और इसके साथ-साथ उन पर परमेश्वर की अहेतुकी कृपा भी रही । श्वेताश्वतर ऋषि कौन थे इसके विषय में प्रामाणिक सामग्री के अभाव में कुछ भी कहना संभव नहीं है । हाँ **शंकरानन्द** नामक टीकाकार ने इस नाम पर एक सामान्य टिप्पणी अवश्य कर दी है । इस टिप्पणी से भी

श्वेताश्वतर ऋषि की कठोर तपश्चरण करने की प्रवृत्ति पुष्ट होती है। शंकरानन्द[1] इस नाम के विषय में कहते हैं : वह व्यक्ति श्वेताश्वतर है जिसकी इन्द्रियाँ सदैव दमित तथा अन्तर्मुखी हैं, विपरीत प्रवृत्तियों से रहित हैं; जिसका अश्व अत्यधिक रूप से श्वेत है या जो अष्टांग योग में लगा हुआ है। श्वेताश्वतर ऋषि ने परमहंस पद-प्राप्त परिव्राजकों पर कृपा की और सभी पापों की बीजभूता अविद्या का नाशक ब्रह्म-ज्ञान उनको दिया। उन परिव्राजकों के संघ में वसिष्ठ, अगस्त्य, वामदेव, शुकदेव, उद्दालक, वीतहव्य तथा सनकादि ऋषि सम्मिलित थे जिन पर कृपा करके श्वेताश्वतर नामक ऋषि ने ब्रह्म-ज्ञान दिया।

यथोक्तशिष्यपरीक्षणपूर्वकं विद्या वक्तव्या तद्विहाय तदुक्तौ दोषं विद्याया-वैदिकत्वं गुप्तत्वं सम्प्रदायपरम्परया प्रतिपादितत्वं चाह—

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः॥२२॥

शांकरभाष्यम्—

वेदान्त इति। वेदान्त इति जात्येकवचनम्। सकलासूपनिषत्स्विति यावत्। परमं परमपुरुषार्थस्वरूपं गुह्यं गोप्यानामपि गोप्यतमं पुराकल्पे प्रचोदितं पूर्वकल्पे चोदितमुपदिष्टमिति सम्प्रदायप्रदर्शनं कृतमित्येतत्। प्रशान्ताय पुत्राय प्रकर्षेण शान्तं सकलरागादिमलरहितं चित्तं यस्य तस्मै पुत्राय तादृशशिष्याय वा दातव्यं वक्तव्यमिति यावत्। तद्विपरीतायापुत्रायाशिष्याय वा स्नेहादिना ब्रह्मविद्या न वक्तव्या। अन्यथा प्रत्यवायापत्तिरिति पुनःशब्दार्थः।

अत एव ब्रह्मविद्याविवक्षुणा गुरुणा चिरकालं परीक्ष्य शिष्यगुणाञ्ज्ञात्वा ब्रह्मविद्या वक्तव्येति भावः। तथा च श्रुतिः "भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ" (प्र० उ० १।२) इति। श्रुत्यन्तरे च—"एकशतं ह वै वर्षाणि प्रजापतौ मघवान्ब्रह्मचर्यमुवास" (छा० उ० ८।११।३) इति च। एतच्च बहुधा प्रपञ्चितमुपदेशसाहस्रिकायामित्यत्र संकोचः कृतः॥२२॥

(यह) परम गुह्य ज्ञान पूर्वकल्प में वेदान्त में भली भाँति वर्णित हुआ था, जिसका चित्त शान्त न हो जाए, जो पुत्र या शिष्य न हो उसको इसे नहीं देना चाहिए।

यह उपनिषदीय ज्ञान अनादि काल से चला आ रहा है। प्राचीन काल में सर्वप्रथम वेदों के अन्तिम भाग उपनिषदों में गुह्य ज्ञान प्रवर्तित हुआ और उसके

---

१. श्वेता अवदाताः सदाऽन्तर्मुखत्वेन विपरीतप्रवृत्तिरहिता अश्वा इन्द्रियाणि यस्य स श्वेताश्वः। अतिशयेन श्वेताश्वः श्वेताश्वतरः। अष्टांगयोगनिरत इत्यर्थः। पृ० १४२।

पश्चात् गुरुशिष्य-परम्परा के माध्यम से निरन्तर प्रवहमान होता हुआ आज भी उपलब्ध हो रहा है। प्राचीनकाल में विद्या-अध्ययन तथा विद्या-दान की एक विशिष्ट प्रणाली थी। विशेष रूप से उपनिषद् संबंधी ज्ञान हर एक व्यक्ति को नहीं दिया जाता था, इसके लिए व्यक्ति में कुछ विशेषता होनी अनिवार्य थी। गुरु अपने शिष्यों को अपने पुत्रों के समान समझकर ही यह ज्ञान उनको दिया करते थे और जिस शिष्य का चित्त शान्त नहीं होता था वह इस प्रकार के ज्ञान से वंचित ही रह जाता था। इस प्रसंग में सबसे बढिया बात **शंकरानन्द**[1] ने कही है कि जो श्रुतिसार सर्वस्व तथा पुरुषार्थ निदानभूत ज्ञान श्वेताश्वतर नामक ऋषि ने परिव्राजकों को दिया था वह ज्ञान उसी तरह नहीं दिया जाना चाहिए जैसे कुत्ते को खीर नहीं दी जाती। जैसे खीर को खाने के अधिकारी विद्वान् लोग हैं, उसी प्रकार उपनिषदीय ज्ञान भी अधिकारी एवं पात्र को देखकर ही दिया जाना चाहिए।[1]

अत्रापि देवतागुरुभक्तिमतामेव गुरुणा प्रकाशिता विद्यानुभवाय भवतीति प्रदर्शयति—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।
प्रकाशन्ते महात्मनः ॥२३॥

शांकरभाष्यम्—

यस्येति। यस्य पुरुषस्याधिकारिणो देवे इयता प्रबन्धेन दर्शिताखण्डैकरसे सच्चिदानन्दपरज्योतिःस्वरूपिणि परमेश्वरे परोत्कृष्टा निरुपचरिता भक्तिः। एतदुपलक्षणम्। अचाञ्चल्यं श्रद्धा चोभे यथा तथा ब्रह्मविद्योपदेष्टरि गुरावपि तदुभयं यस्य वर्तते तस्य तप्तशिरसो जलराश्यन्वेषणं विहाय यथा साधनान्तरं नास्ति यथा च बुभुक्षितस्य भोजनादन्यत्र साधनान्तरं न, एवं गुरुकृपां विहाय ब्रह्मविद्या दुर्लभेति त्वरान्वितस्य मुख्याधिकारिणो महात्मन उत्तमस्यैते कथिता अस्यां श्वेताश्वतरोपनिषदि श्वेताश्वतरेण महात्मना कविनोपदिष्टा अर्थाः प्रकाशन्ते स्वानुभवाय भवन्ति। द्विर्वचनं मुख्यशिष्यतत्साधनादिदुर्लभत्वप्रदर्शनार्थमध्यायपरिसमाप्त्यर्थमादरार्थञ्च ॥२३॥

जिसकी (परम) देव में अत्यन्त भक्ति (है) (और) जैसी परमेश्वर में (है) वैसी ही गुरु में (है) उस महात्मा को ये अर्थ बतलाए जाने पर प्रकाशित होते हैं।

---

१. यच्छ्वेताश्वतरोऽत्याश्रमिभ्य उक्तवाञ्श्रुतिसारसर्वस्वं पुरुषार्थनिदानभूतं तच्छुन इव पायसं न देयम्। पृ० १४३।

जब साधक की भक्ति परमदेव के समान ही गुरु में भी हो जाती है तब उसके लिए यह उपनिषदीय रहस्यमय ज्ञान स्वयमेव उद्घाटित हो जाता है। **शंकरानन्द** का कहना है कि वह देव या तो हरि हो सकता है या शालग्राम आदि अन्य कोई देव हो सकता है। जब साधक अपनी सभी क्रियाओं को मनसा, वाचा तथा कर्मणा परमेश्वर को समर्पित कर देता है तब ही उसको वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि होती है।[1] **शंकरानन्द**[2] कहते हैं कि देवता के रुष्ट हो जाने पर गुरु ही त्राता है और यदि गुरु रुष्ट हो जाए तो देवता भी सहायक नहीं होते, अतः हमें देवता की अवज्ञा कर देनी चाहिए परन्तु गुरु की अवज्ञा नहीं करनी चाहिए। जिस प्रकार की भक्ति का यहाँ निर्देश किया गया है वह प्रारंभिक अवस्था वाली भक्ति प्रतीत होती है। भक्ति का जैसा निरूपण भक्तिसूत्रों, गीता तथा पुराणों में किया गया है यह भक्ति उससे नितरां भिन्न है। भक्ति शब्द यहाँ पर अत्यधिक सहज रूप में प्रयुक्त हुआ है और इसको अवरकालीन भक्ति से नितान्त भिन्न समझना चाहिए।

---

१. भक्तिः आस्तिक्यबुद्ध्यादियुक्ता भजनक्रिया कायेन्द्रियमनसां तस्मिन्समर्पण-मित्यर्थः। पृ० १४४।

२. देवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न देवोऽपि यतस्ततो देवस्यापि वरमवज्ञा करणीया न गुरोरित्यर्थः। पृ० १४३।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु ।

सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीत-

मस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

मन्त्रानुक्रमणिका

मन्त्रप्रतीकानि	अ०	मं०	पृष्ठ
अग्निर्यत्राभिमथ्यते	२	६	९६
अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः	५	८	१८२
अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा	३	१३	१३०
अजात इत्येवं कश्चित्	४	२१	१६८
अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्	४	५	१४७
अणोरणीयान्महतो महीयान्	३	२०	१३८
अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये	५	१३	१८८
अपाणिपादो जवनो ग्रहीता	३	१९	१३७
आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः	६	५	१९७
आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि	६	४	१९५
उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म	१	७	६२
ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्	४	८	१५२
एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्	५	३	१७६
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः	६	११	२०४
एको वशी निष्क्रियाणां बहूनाम्	६	१२	७७
एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः	३	२	११६
एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये	६	१५	२०८
एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थम्	१	१२	७७
एष देवो विश्वकर्मा महात्मा	४	१७	१६४
एष ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः	२	१६	१११
ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति	१	१	३०
कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा	१	२	३४
किं कारणं	२	१	३०
क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः	१	१०	६९
गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता	५	७	१८०
घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मम्	४	१६	१६३
छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि	४	९	१५४
ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ	१	९	६६
ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः	१	११	७३

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूयः	६	३	१९३
ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्	३	१०	१२७
ततः परं ब्रह्मपरं बृहन्तम्	३	७	१२३
तदेवाग्निस्तदादित्यः	४	२	१४४
तद्वेद गुह्योपनिषत्सु गूढम्	५	६	१७९
तपःप्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म	६	२१	२१६
तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्	६	७	२००
तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तम्	१	४	४५
तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिः	१	१५	८१
ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्	१	३	४१
त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम	२	८	१०१
त्वं स्त्री त्वं पुमानसि	४	३	१४५
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया	४	६	१५०
द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते	५	१	१७१
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्	६	१४	२०७
न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके	६	९	२०२
न तस्य कार्यं करणं च विद्यते	६	८	२०१
नवद्वारे पुरे देही	३	१८	१३६
न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य	४	२०	१६७
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्	६	१३	२०६
निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्	६	१९	२१४
नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षः	४	४	१४६
नीहारधूमार्कानिलानलानाम्	२	११	१०५
नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चम्	४	१९	१६६
नैव स्त्री न पुमानेषः	५	१०	१८५
पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्राम्	१	५	५५
पुरुष एवेदं सर्वम्	३	१५	१३३
पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते	२	१२	१०६
प्राणान्प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः	२	९	१०२
भावग्राह्यमनीडाख्यम्	५	१४	१८९
महान्प्रभुर्वै पुरुषः	३	१२	१३०
मा नस्तोके तनये मा	४	२२	१६९
मायां तु प्रकृतिं विद्यात्	४	१०	१५६
य एको जालवानीशत ईशनीभिः	३	१	११४
य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात्	४	१	१४२

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः	५	५	१७८
यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तम्	२	१४	१०९
यदाऽतमस्तन्न दिवा न रात्रिः	४	१८	१६५
यदा चर्मवदाकाशम्	६	२०	२१५
यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वम्	२	१५	११०
यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः	६	१०	२०३
यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्	३	९	१२६
यस्य देवे परा भक्तिः	६	२३	२१८
या ते रुद्र शिवा तनू०	३	५	१२१
यामिषुं गिरिशन्त हस्ते	३	६	१२२
युक्त्वाय मनसा देवान्	२	३	९०
युक्तेन मनसा वयं देवस्य	२	२	८९
युजे वां ब्रह्म पूर्व्यम्	२	५	९३
युञ्जते मन उत युञ्जते	२	४	९२
युञ्जानः प्रथमं मनः	२	१	८५
येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वम्	६	२	१९२
यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च	३	४	१२०
यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च	४	१२	१५९
यो देवानामधिपो यस्मिन्	४	१३	१५६
यो देवो अग्नौ यो अप्सु	२	१७	११२
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्	६	१८	२१२
यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः	५	२	१७५
यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः	४	११	१५७
लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वम्	२	१३	१०६
वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिः	१	१३	७९
वालाग्रशतभागस्य	५	९	१८३
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः	३	३	११८
वेदान्ते परमं गुह्यम्	६	२२	२१७
वेदाहमेतमजरं पुराणम्	३	२१	१४०
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्	३	८	१२५
स एव काले भुवनस्य गोप्ता	४	१५	१६२
सङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैः	५	११	१८५
स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थः	६	१७	२११
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः	४	७	१५१
समे शुचौ शर्करावह्निवालुका०	२	१०	१०४

सर्वतः पाणिपादं तत्	३	१६	१३४
सर्वव्यापिनमात्मानम्	१	१६	८३
सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते	१	६	५९
सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक्	५	४	१७७
सर्वेन्द्रियगुणाभासम्	३	१७	१३५
सर्वाननशिरोग्रीवः	३	११	१२८
सवित्रा प्रसवेन जुषेत	२	७	९९
स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिः	६	१६	२१०
स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यः	६	६	१९८
सहस्रशीर्षा पुरुषः	३	१४	१३२
स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव	५	१२	१८७
स्वदेहमरणिं कृत्वा	१	१४	७९
स्वभावमेके कवयो वदन्ति	६	१	१९०
सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये	४	१४	१६०
संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च	१	८	६४

92011
[redacted]

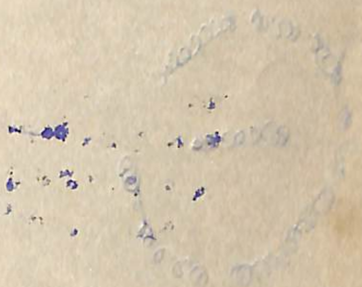

ĀŚVALĀYANA GṚHYASŪTRA

of Sage Āśvalāyana
With Sanskrit Commentary of Nārāyaṇa, English Translation, Introduction and Index

By

Dr. Narendra Nath Sharma
Government College, Seoni, M.P.

with a Foreword by

Dr. Satya Vrat Shastri
Professor of Sanskrit,
University of Delhi, Delhi.

This book of Āśvalāyana, the pupil of Śaunaka, pertains to the Vedic *Saṁskāras* that are obligatory for man's purification. The elaborate ritual and the manner it is performed indicate the extent to which the life of a Vedic Aryan was involved in ceremonial acts.

The book is arranged into four chapters :

Ch. I consists of 24 sections. It enjoins rites obligatory for the house-holder, the period and tenure of rites such as Initiation, Tonsure, Marriage etc. It elaborates on the establishment of domestic fire, on the offering of oblations on the new and full moon days, on the ritual of animal and Caitya sacrifices. It dwells upon securing the conception of a male child or preventing disturbances likely to endanger the embryo. It deals with the ceremonies of parting the hair, the birth of a child, his nomenclature, his partaking the solid food or the Tonsure of his head.

Ch. II is arranged into 10 sections and is primarily concerned with the rites of the full moon day in the months or Śrāvaṇa, Āśvayuj, Mārgaśirṣa and the Aṣṭaka rites on the eighth days of the four dark fortnights of Hemanta and Śiśira seasons. It describes the anvaṣṭakya ceremony following the aṣṭakas, the ceremony of mounting a chariot or building a house.

Ch. III is divided into 12 sections. It deals with miscellaneous topics such as the fire sacrifices, the recitation of Vedic texts, satiating the deities and sages, the rite by which the annual course of study opens and the ceremony of attaining one's desires.

Ch. IV contains 9 sections and deals with the funeral rites of the deceased person.

(*To be released shortly*)